भारत का इतिहास
(320 ईसवी से 1200 ईसवी तक)

History of India - from AD 320 to AD 1200

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

Group B :

प्राचीन भारत (Ancient India)

प्रश्न पत्र - VIII

Paper - VIII

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

भारत का इतिहास

(320 ईसवी से 1200 ईसवी तक)

History of India

(from AD 320 to 1200 AD)

Group - B

प्रश्न पत्र – VIII

Paper - VIII

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक - 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय–सूची

इकाई - I

अध्याय–1 गुप्तो के उत्थान के समय भारत की राजनीतिक अवस्था

अध्याय–2 गुप्त साम्राज्य उत्थान, विस्तार, सुदृढ़ीकरण एवं प्रशासनिक ढांचा

अध्याय–3 फाह्यान का विवरण

अध्याय–4 वाकाटक वंश

इकाई - II

अध्याय–1 पुष्यभूति वंश

अध्याय–2 ह्वेनसांग तथा इत्सिंग का भारत विवरण

अध्याय–3 कन्नौज के यशोवर्मा

अध्याय–4 गुर्जर प्रतिहार वंश

अध्याय–5 पाल वंश

अध्याय–6 राष्ट्रकूट वंश

इकाई - III

अध्याय–1 बादामी के चालुक्य

अध्याय–2 चन्देल वंश

अध्याय–3 परमार वंश

अध्याय–4 शाकम्भरी का चाहमान वंश

अध्याय–5 गहड़वाल वंश

अध्याय–6 पल्लव वंश

अध्याय–7 चोल वंश

M.A. History (Final)
Group - B
History of India (AD 320 to 1200 AD)
Paper – VIII

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.

UNIT – I

Towards Restoration of Empire :

1. Political condition of India on the eve of Gupta's rise
2. Gupta Empire : Rise and expansion; consolidation; Administrative Organisation.
3. Accounts of Fahien.
4. Vakatka Dynasty : Origin; Relation with Guptas

UNIT – II

1. Pushpbhuties :
   Rise; Growth and Administration.
2. Recording India : Yuan Chwang and Itsing.
3. Yashovarman of Kannauj
4. Struggle for Paramountcy:
   a) Prathiharas
   b) Palas
   c) Rastrakutas

UNIT – III

1. **Early Medieval Feudal Dynasties of Northern and Southern India:**
   a) Chalukyas of Badami
   b) Chandelas
   c) Paramaras
2. **Rise of New Powers :**
   a) The Chahamanas of Sakambhari
   b) Gahadavals.
3. **Southern Powers:**
   a) The Pallavas
   b) The Cholas

इकाई-1

अध्याय-1

गुप्तो के उत्थान के समय भारत की राजनीतिक अवस्था
Political Condition of India on the eve of Gupta rise

कुषाण साम्राज्य के पतन से लेकर गुप्त वंश के उदय के बीच के भारतीय राज्यों के इतिहास क बीच का विस्तार स परिचय देना स्त्रोतों के अभाव में असम्भव सा कार्य लगता है। वी०ए० स्मिथ ने इस काल को सर्वाधिक अन्धकार पूर्ण काल कहा था। इस समय भारत की राजनीतिक दशा बड़ी ही शोचनीय थी। इस समय सर्वभौम सत्ता का सर्वथा अभाव था क्योंकि शक कुषाण तथा सतवाहन जैन प्रबल शक्तियों का सूर्य अस्त हो गया था तथा उनके अवशेषों पर छोटे राज्यों की स्थापना हो गयी थी। यदि हम उत्तरी तथा दक्षिण भारत के तत्कालीन राजनीतिक मानचित्र पर एक दृष्टि डालें तो उस पर हमें अनेक छोटे–छोटे राज्य मिलेंगे उनमें कुछ का स्वरूप राजतन्त्रात्मक तथा कुछ का गणतन्त्रात्मक था। तत्कालीन राज्यों तथा उनके नरेशों के सम्बन्ध में विभिन्न साक्ष्यों स जो कुछ भी सामान्य परिचय उपलब्ध है उसकी रूपरेखा निम्न प्रकार से है:–

मगध का राज्य

यद्यपि गुप्त वंश का उदय मगध की प्राचीन राजवंश स्थली में हुआ था। परन्तु गुप्तों से पूर्व किस राजवश की सत्ता वहां व्याप्त थी जिसका अन्त कर गुप्त वंश के संस्थापक ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की, यह अभी भी पूर्ण रूप से ज्ञात नही है। विभिन्न इतिहासकारों एवं शोधकर्ताओं ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किए हैं।

1. **सतवाहन वंश का शासन:** डा० डाण्डेकर के विचार में गुप्त राजवंश के उदय से पूर्व मगध सतवाहन सम्राटो के अधीन था और वही वहां पर शासन करते थे। डा० डाण्डेकर का यह निष्कर्ष दो तथ्यों पर आधारित है। पहला तो यह कि पुराणों में यह लिखा है कि आन्ध्र (सतवाहन) पृथ्वी का भोग करेंगें। दूसरा तथ्य यह है कि सतवाहनों की एक मुद्रा नालन्दा में तथा दूसरी भीटा में प्राप्त हुई है जो इलाहाबाद से सात मील दूर है। परन्तु यह दोनों ही साक्ष्य हमें तर्कसगत प्रतीत नहीं होते। प्रथम तो यह कि पृथ्वी का अर्थ सम्पूर्ण भारत लगाना उचित नहीं प्रतीत होता और दूसरे यह कि केवल दो ही मुद्राओं के आधार पर यह कहना कि मगध में सहवाहनों का शासन था भ्रमात्मक हो सकता है क्योंकि यह बड़ा ही दुर्बल साक्ष्य है, मुद्राओं का सम्बन्ध व्यापार से होता था और विनियम के रूप में वे कहीं भी आ सकती थी।

2. **लिच्छवियों का शासन:** डा० राधामुकुन्द मुकर्जी के विचार में गुप्त राजवंश के उदय से पूर्व मगध में लिच्छवियों का शासन था। डा० मुकर्जी का यह अनुमान नेपाल नरेश जयदेव के एक आठवीं सदी के अभिलेख पर आधारित है। इस अभिलेख में यह उत्कीर्ण है कि 23 पीढ़ियों पूर्व एक सुपुण्य नाम लिच्छवी पुण्यपुर अर्थात् पाटलीपुत्र में उत्पन्न हुआ था। इसी आधार पर मुकर्जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उस समय मगध में जिसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी, लिच्छवियों का शासन था और गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके मगध का राज्य प्राप्त किया था।

   परन्तु केवल जयदेव के एक अभिलेख पर इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना बड़ा ही सन्देहपूर्ण प्रतीत होता है तथा इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

3. **कुषाणों का शासन:** डा० आर०डी० बनर्जी के अनुसार गुप्त राजवंश के उदय से पूर्व मगध में कुषाण राजवश शासन कर रहा था। गुप्त सम्राटों ने कुषाणों को हराकर मगध पर अपनी सत्ता स्थापित की थी। परन्तु डा० बनर्जी का यह मत भी अब पर अस्वीकार कर दिया गया है कि गुप्त वंश के उदय से बहुत पहले कुषाणों की सत्ता का पतन हो गया था।

4. **मुरुण्डों का शासन:** डा० प्रमोद चन्द्र बागची के विचार में दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में मगध में मुरुण्ड जाति शासन कर रही थी। डा० बागची का यह निष्कर्ष दो साक्ष्यों पर आधारित है। पहला साक्ष्य तो यह है कि एक चीनी लेखक के अनुसार 227 ई० में एक चीनी राजदूत भारतीय नरेश की राजधानी में आया था। इस साक्ष्य के आधार पर डा० बागची ने यह अनुमान

लगाया है कि भारतीय नरेश मुरुण्डराज था जो इस समय पाटलीपुत्र में शासन कर रहा था परन्तु डा० बागची का यह निष्कर्ष कि मुरुण्डराज ही उस समय पाटलीपुत्र में शासन कर रहा था बड़ा ही सन्देहास्पद लगता है।

डा० बागची के अनुसार दूसरा साक्ष्य यह है कि टालमी ने अपने 'भूगोल' नामक ग्रंथ में लिखा है कि मुरुण्ड नाम की एक जाति पूर्वी भारत में गंगा नदी के दाहिने तट पर निवास करती थी चूंकि मगध भारत के पूर्वी भाग में है और गंगा तट पर स्थित है, इसलिए बागची ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गुप्तों से पूर्व इस जाति का शासन मगध में था लेकिन इस मत को स्वीकार करने में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि विभिन्न स्त्रोतों से मुरुण्डों का सम्बन्ध पश्चिमी भारत से स्थापित होता है, पूर्वी भारत से नहीं।

5. **कोत कुल का शासनः** डा० जायसवाल के मतानुसार गुप्तों के उदय से पूर्व मगध में कोतकुल का शासन था। इसके इस अनुमान का आधार यह है कि प्रयाग प्रशस्ति की चौदहवीं पंक्ति में यह उल्लेख किया गया है कि "जिस समय समुद्रगुप्त पुष्पपुर में क्रीड़ा कर रहा था उस समय उसकी सेनाओं ने कोत कुलज नरेश को बन्दी बना लिया था" डा० जायवाल ने इसी कोत कुल को मगध कुल माना है और कोतकुलज नरेश का समीकरण कल्याण वर्मन से किया है जिसका उल्लेख "कौमुदी महोत्सव" में हुआ है। डा० जायसवाल के विचार में समुद्रगुप्त ने इसी नरेश को समाप्त करके पाटलीपुत्र पर अपना अधिकार स्थापित किया था।

लेकिन इतिहासकार डा० जायसवाल के इस विचार से सहमत नहीं है। उन्होंने कोतकुलज का जो समीकरण कल्याण वर्मन से किया है वह उनकी कोरी कल्पना पर आधारित है। इसके अतिरिक्त कल्याण वर्मन की ऐतिहासिकता पर भी विश्वास नहीं किया गया है। और सुन्दर वर्मन और कल्याण वर्मन जिनका उल्लेख "कौमुदी महोत्सव" में हुआ है, वे इस ग्रंथ की लेखिका के कल्पित पात्र हैं।

इन सबके अतिरिक्त मुद्रा प्रमाणों के आधार पर कोतकुल का अस्तित्व तो प्रमाणित हो जाता है परन्तु इस तथ्य का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि यह राजवंश मगध पर शासन कर रहा था। कुछ मुद्राएं पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली में भी उपलब्ध हैं जिन पर कोत शब्द लिखा हुआ है। जिससे स्पष्ट होता है कि कोतकुल का शासन इसी क्षेत्र में रहा होगा।

इन सबके अतिरिक्त डा० स्मिथ के कथनानुसार नीलगिरी में कोत नामक जाति उस समय भी निवास करती थी जब समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर चढ़ाई की थी और सम्भव हो सकता है कि अपने दक्षिणापथ अभियान में उसने इस जाति को पराजित किया हो। इन साक्ष्यों की उपस्थिति के आधार पर डा० जायसवाल का मत सर्वथा अमान्य हो जाता है।

6. **मौरवरी वंश का शासनः** पायर्स महोदय के विचार में गुप्तों के उदय से पूर्व मगध में मौरवरी वंश पर शासन कर रहा था। उनका यह निष्कर्ष चन्द्रवल्ली अभिलेख पर आधारित है। इस लेख से यह पता चलता है कि तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में कदम्ब नरेश मयूरशर्मन ने अन्य जातियों के साथ ही मौरवरी वंश को भी परास्त किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि मौरवरी वंश का अस्तित्व गुप्त वंश के उदय के पूर्व था। चूंकि मौरवरी वंश के राजाओं के नाम के अन्त में 'वर्मन' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतएव् इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है। 'कल्याणवर्मन तथा सुन्दरवर्मन' जिनका कौमुदी महोत्सव में उल्लेख मिलता है इसी वंश के थे पायर्स महोदय इन्हें मगध का शासक तो स्वीकार करते हैं परंतु कोतकुल का न मानकर मौरवरी वंश का मानते हैं।

पायर्स महोदय के इस निष्कर्ष को भी सही नहीं माना जा सकता क्योंकि चन्द्रवल्ली अभिलेख में जिन जातियों का उल्लेख मिलता है वे पूर्वी भारत की न होकर पश्चिमी भारत की थी। इसके अतिरिक्त एक भाग वर्मन शब्द के आधार पर किसी व्यक्ति को मौरवरी वशज नहीं कहा जा सकता।

ऊपर के वर्णन में यह स्पष्ट नहीं होता है कि गुप्तों के उदय से पूर्व मगध में कौन सा राजवंश शासन कर रहा था। अभी तक जिन विद्वानों ने अपने विचार दिये हैं उन्हें पूर्ण रूप से सही नहीं माना जा सकता है इसलिए यह भविष्य में शोध का विषय है।

उत्तर पूर्व के राज्य

प्रयाग प्रशस्ति लेख से हमें यह ज्ञात होता है कि गुप्त वंश के उदय के समय उत्तर भारत में पांच छोटे–छोटे राज्य विद्यमान थे। जिनमें राजतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। इन राज्यों के नाम हैं समतट, डबाक, कामरूप, नेपाल तथा कृतपूर। समतट राज्य पूर्वी बंगाल में डबाक असम के नयागांव जिले में, कामरूप आधुनिक असम, नेपाल से आधुनिक नेपाल एवं कृतपूर आधुनिक कुमायु जिले में था।

आर्यावर्त के राज्य

गुप्त काल के उदय से पूर्व आर्यावर्त में कुषाणों का साम्राज्य था। कुषाण साम्राज्य के छिन्न–भिन्न हो जाने पर आर्यावर्त के [illegible] राज्यों मथुरा, कान्तीपुर, पद्मावती, अहिक्षत्र तथा कौशाम्बी के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. **मथुरा**: गुप्त वंश के उदय के समय मथुरा में नागवंश शासन कर रहा था। सम्भवतः ये पहले कुषाणों के सामन्त के रूप में शासन कर रहे थे। परंतु कुषाणों के पतन के बाद ये स्वतन्त्र हो गये और इस प्रकार मथुरा में एक स्वतन्त्र नागवंश की शासन स्थापित हो गया। गुप्त वंश के उदय से पूर्व इस वंश के यहां सात राजा शासन कर चुके थे। प्रयाग प्रशस्ति में जिस गणपति नाग राजा का उल्लेख मिलता है वह सम्भवतः यहीं का शासक रहा होगा। क्योंकि उसकी अधिकांश मुद्राएं मथुरा से ही प्राप्त हुई हैं। गणपति नाग को समुद्रगुप्त ने परास्त करके अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

2. **कान्तीपुर**: गुप्तों के उदय के समय आर्यावर्त में स्थित एक अन्य राज्य कान्तीपुर का था। यहां पर भी नागवंश के [illegible] शासन करते थे। जिनको जीतकर गुप्तों ने वहां पर अपनी सत्ता स्थापित की।

3. **पद्मावती**: इस पद्मावती की पहचान विद्वानों ने आधुनिक पद्मदया (जो कि ग्वालियर जिले में स्थित है) से की है। गुप्त वंश के उदय के समय यहां पर भी नागवंश शासन कर रहा था। सम्भवतः पहले यह राजवंश कुषाणो के अधीन था परन्तु कुषाणों के पतन के समय में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से शासन स्थापित कर लिया और नागवंश की शाखाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। इस वंश के सम्राट भारशिव की संज्ञा से भी सम्बोधित किये गये हैं। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा जिसके बारे में सबसे अधिक सामग्री उपलब्ध है भवनाग था जिसे वाकाटक लेखों में 'भारशिवाना महाराज' कहा गया है। भारशिव नाग नरेश अपने कन्धे पर शिवलिंग धारण करते थे। भारशिव नरेशों द्वारा प्रचलित मुद्राओं पर शैव धर्म के प्रतीक त्रिशूल तथा नन्दी की तस्वीर मिलती हैं। जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये शैव धर्म के अनुयायी थे।

   वाकाटक अभिलेखों में भगनाग को भागीरथी के पवित्र जल से अभिशिक्त दस अश्वमेघ यज्ञो के कर्ता तथा भारशिव महाराज बताया है। भवनाग ने सम्भवतः 305 ई० से 340 ई० तक शासन किया था। उसने अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक नरेश प्रसवसेन के पुत्र गौतमी पुत्र के साथ कर दिया था जिसकी मृत्यु उसके पिता के जीवन काल में ही हो गयी थी। अतएव उसका पुत्र रूद्रसेन जब सिंहासन पर बैठा तो उसने अपने नाना भवनाग से बड़ी सहायता मिली थी। 340 ई० में भवनाग का देहान्त हो गया।

   समुद्रगुप्त के समय पद्मावती में नागसेन नामक राजा राज्य करता था। जिसका उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के इसी नागसेन को परास्त करके समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चन्द्रगुप्त का विवाह उसकी पुत्री कुबेर नागा के साथ कर दिया। स्कन्दगुप्त को भी नागों से लोहा लेना पड़ा था।

   इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि पद्मावती का नागवंश बड़ा ही शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण राजवंश था। विभिन्न साक्ष्यों से हमें ऐसा परिलक्षित होता है। मथुरा तथा पद्मावती के नागवंशी राजकुलों में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि अभी तक अधिकांश नाग नरेशों के विषय में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका सम्बन्ध पद्मावती की राजवंश शाखा से था अथवा मथुरा की राजवंश शाखा से। उदाहरण के लिए गणपतिनाग की अधिकतर मुद्राएं मथुरा से प्राप्त हुई हैं तथा पुराणों के आधार पर उसे पद्मावती का राजा निर्धारित किया जाता है।

4. **अहिक्षत्र**: गुप्तवंश के उदय के समय सम्भवतः यहां पर नागवंश के शासकों का ही शासन था। प्रयाग प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के समय में वहां पर अच्युत्य नाम का राजा राज्य कर रहा था जिसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया। चूंकि अच्युत की मुद्राओं तथा नागवंशीय मुद्राओं के आकार–प्रकार मे पर्याप्त समानता पाई जाती है। अतः यह "निष्कर्ष" निकाला गया है कि वह नागवंशीय नरेश था। डा० अल्तेकर के विचार में यह राजवंश गंगा और यमुना के ऊपरी भाग में कहीं शासन कर रहा था परन्तु उसके अधिकार क्षेत्र का निश्चित रूप से निरूपण नहीं हो सका है।

5. **कौशाम्बी**: चूंकि गुप्तों के उदय से पूर्व कौशाम्बी में जो राजवंश शासन करता था उसके राजाओं के नाम [illegible] शब्द जुड़ा मिलता है अतएव यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यहां पर मित्र वंश शासन कर रहा था। सम्भवतः [illegible] अयोध्या में भी शासन कर रहा था क्योंकि दोनों की ही मुद्राओं में पर्याप्त समानता पाई जाती है।

पंजाब के राज्य

गुप्त वश के उदय से पूर्व पश्चिमी, मध्य और पूर्वी पंजाब में अलग–अलग राजवंशों के शासन की मुद्राओं से ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी पंजाब इन दिनों शाक वंश शासन कर रहा था। पूर्वी पंजाब में योधेय, अर्जुनायन और मालवों की सत्ता थी इनका अलग–अलग परिचय इस प्रकार है:–

1. **शाक जाति**: मुद्रा साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वासुदेव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् शाक जाति ने पंजाब पर अपना अधिपत्य समाप्त कर लिया था और 330 ई० तक वहां अपनी सत्ता स्थापित रखी। विभिन्न मुद्राओं पर उत्कीर्ण इस जाति के सात राजाओं के नाम हमें प्राप्त हुए हैं।

2. **शीतल तथा गडहर जाति**: कुषाणों के पश्चात् मध्य पंजाब पर शीतल तथा गडहर जातियों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और ये समुद्रगुप्त के काल तक यहां पर शासन करती रहीं। इस तथ्य की पुष्टि एक गडहर मुद्रा से हाती है जिस पर समुद्रगुप्त का नाम भी मिलता है।

   ऐसा प्रतीत होता है कि शाक तथा शीतल जाति का 340 ई० तक पतन हो गया और इसके स्थान पर किदार कुषाणों की सत्ता स्थापित हुई। इस वंश का संस्थापक किदार नामक व्यक्ति था। किदार समुद्रगुप्त का समकालीन था। किदार वंश के अधीन पश्चिमी पंजाब, मध्य पंजाब, कश्मीर और गांधार प्रदेश थे।

3. **योधेय**: योधेय का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पाणीनी की अष्टाध्यायी में मिलता है। ये लोग क्षत्रिय जाति के थे और अपनी शूरवीरता के लिए सुविख्यात थे। क्षत्रियों में ये बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। गुप्तों के उदय के समय ये लोग सतलुज नदी के दोनों तटों पर विस्तृत क्षेत्र जोहिया बाड़ में शासन करते थे। इनकी शासन व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी। सतलुज और यमुना के मध्य के क्षेत्र से कुषाणों को खदेड़ने का श्रेय इन्हीं लोगों को दिया जाता है क्योंकि इस क्षेत्र में इनकी मुद्राएं मिली हैं जिन पर "यौधेयगणस्य: जय" लिखा मिलता है। इस जाति की शक्ति का राजनीतिक प्रभाव का प्रमाण यह भी है कि इनका उल्लेख समुद्रगुप्त द्वारा विजित जातियों की सूची में उनकी प्रयाग प्रशस्ति में व्याप्त है।

4. **आर्जुन्नायन**: ये लोग भी क्षत्रिय जाति के थे और उनका भी शासन गणतन्त्रात्मक था। गुप्तों के उदय के समय ये लोग भरतपुर और अलवर के भूप्रदेशों पर शासन कर रहे थे। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में इनका भी उल्लेख मिलता है जिससे यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है कि इस जाति का अस्तित्व समुद्रगुप्त के उदय के पूर्व का था।

5. **मालव**: मालवों का सर्वप्रथम उल्लेख पाणीनी के अष्टाध्यायी में मिलता है। ये लोग क्षत्रिय जाति के थे और सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में शासन कर रहे थे। इनकी शासन व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी। सिकन्दर का सामना करने के लिए इन लोगों ने क्षूद्रक गणराज्य के साथ संघ बनाया था कालान्तर में ये लोग राजपुताना चले गये थे। गुप्तों के उदय के समय ये लोग मंदसोर अर्थात् मालवा में स्थित प्राचीन दशपुर में शासन कर रहे थे। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में इनका उल्लेख गणराज्यों की सूची में सर्वप्रथम है जिससे इनकी प्रभावी राजनीतिक शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

पश्चिमी सीमांत के राज्य

समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख के अनुसार पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में माद्रक सनकानिक, प्रार्जुन, काक और खरपरिक जातियों का शासन था।

ससैनियन साम्राज्य

यह राजवंश फारस में शासन कर रहा था परन्तु भारत के एक बहुत बड़े भूभाग पर इन्होंने अपना अधिकार कर लिया था। इस वंश के सम्राट बहराम द्वितीय ने शकों और कुषाणों को परास्त करके सीस्तान, अफगानिस्तान, सीमा प्रान्त और सिन्ध पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस प्रदेश की शक, कुषाण, पारद और आभिर जातियों के प्रतिनिधि उनकी क्षत्रपीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत शासन करते थे।

दक्षिण के राज्य

गुप्त राजवंश के उदय के समय तथा उससे पूर्व दक्षिण भारत में अनेक छोटे–छोटे राज्य विद्यमान थे जिनमें आपस में संघर्ष चलता रहता था इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

1. **शकों का शासनः** गुप्तों के उदय के समय शक जाति का शासन, गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी मालवा पर था। इनके शासन की केन्द्र और राजधानी उज्जयिनी थी। प्रयाग प्रशस्ति में शकों का उल्लेख मिलता है इन लोगों ने भारतीय संस्कृति को अपना लिया था और भारतीय नरेशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। लगभग 400 ई० में गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य इनको परास्त करके इन्हें अपने अधीन कर लिया था।

2. **वाकाटक वंशः** यह एक ब्राह्मण राजवंश था। इसका संस्थापक विन्धशक्ति नामक ब्राह्मण था। विन्धशक्ति के पूर्वज सातवाहन की अधीनता में बरार प्रदेश में शासन कर रहे थे। उसने शकों से पूर्वी मालवा छीन लिया था। 225 ई० के लगभग विन्धशक्ति की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा वीर और शक्तिशाली सम्राट था, उसने अपने पूर्वजों के छोटे से राज्य को एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। वाकाटक वंश के इतिहास में केवल इसी शासक के लिए सम्राट शब्द का प्रयोग किया गया है इसके साम्राज्य के अन्तर्गत मध्यप्रदेश का अधिकांश भाग, उत्तरी महाराष्ट्र, मालवा, बघेलखंड, दक्षिणी कोशल, बरार, उत्तरी हैदराबाद आते थे। प्रवरसेन ने चार अश्वमेघ यज्ञों का आयोजन किया। इस बात का प्रमाण पुराणों में मिलता है उसने 275 से 335 ई० तक शासन किया। 335 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और उसके साथ ही वाकाटक वंश का साम्राज्य विस्तार रुक गया।

3. **पल्लव वंशः** इस राजवंश की राजधानी काचीपुरम थी। प्रारम्भ में ये लोग सतवाहनों के अधीन सामन्तों के रूप में शासन कर रहे थे। किन्तु लगभग 200 ई० में सतवाह साम्राज्य के पतन के पश्चात् ये लोग स्वतंत्र हो गये थे। इस राजवंश का प्रथम ज्ञात शासक स्कन्धवर्मन था जिसने प्रारम्भ में युवराज के रूप में शासन किया किन्तु उसने किसके अधीन युवराज का कार्यभार सम्भाला इस बात का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। यह इस वंश का बहुत ही शक्तिशाली एवं पराक्रमी सम्राट था इसने बाजपेय और अश्वमेघ यज्ञों का आयोजन भी किया था। इसकी शासन तिथि 250 ई० के लगभग मानी जाती है। अपनी दक्षिणापथ विजय अभियान में जब समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया तो इस राज्य का शासक विष्णुगोप था जिसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया। इसी विष्णुगोप का उल्लेख प्रशस्ति अभिलेख में किया गया है।

4. **इक्ष्वांकु वंशः** वाकाटकों के समान ही इक्ष्वांकु वंश ने भी सतवाहन साम्राज्य के पतन के पश्चात् अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी और धान्यकटक प्रदेश में अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसकी राजधानी विजयपुरी थी। कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि अध्योध्या का इक्ष्वांकु वंश ही आकर दक्षिण में निवास करने लगा था। इस वंश का प्रथम राजा वशिष्टी पुत्र शान्तमुल प्रथम था। शान्तमुल प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र माठरी पुत्र वीर पुरुषदन्त था उसका विवाह अभीर के शकवंशीय नरेश की पुत्री रुद्रधर भट्टारिका के साथ हुआ। वीर पुरुषदन्त ने कोई वैदिक यज्ञ नहीं किया था इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इसके बाद उसका पुत्र वशिष्ठी पुत्र शान्तमूल द्वितीय शासक बना जिसके शासन काल पल्लवों ने इक्ष्वांकुओं से आंध्र प्रदेश छीन लिया था।

5. **आभीरः** यह शूद्र राजवंश था। पातंजलि ने आभीरों को शूद्र बतलाया है और सिकन्दर के समकालीन लेखकों ने इन्हें अबीरोई अथवा सोग्डोई शूद्र कहा है सिकन्दर के आक्रमण के समय यह जाति उत्तरी सिन्धु तथा पंजाब के कुछ भागों पर शासन कर रही थी किन्तु कालान्तर में इन्होंने भिलसा, झांसी तथा महाराष्ट्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सीमान्त प्रदेश के अन्य शासक जातियो के समान इस जाति ने भी समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकार कर लिया था। समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में इस जाति का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें समुद्रगुप्त द्वारा इनकी पराजय की पुष्टि होती है।

दक्षिण के अन्य राजतन्त्रः समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ऐसा प्रकट होता है कि गुप्त वंश के उदय के समय दक्षिण भारत में बारह अन्य छोटे–छोटे राजतन्त्रात्मक व्यवस्था वाले राज्य थे। इनके नाम कोशल, महाकालान्तर, कोराल, पिण्ठपूर, कोट्टूर, एरण्डपल्ल, कांची, अवमुक्त, वेर्गी, पालक, देवराष्ट्र तथा कुस्थलपुर थे।
इन राज्यों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण में चोल, चेर और पाण्डयों के राज्य थे।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त राजवंश के उदय से पूर्व भारत के विभिन्न भागों में अनेक छोटे–छोटे राज्य थे और ऐसी कोई शक्ति न थी जो सम्पूर्ण भारत पर अथवा विशाल भू–भाग पर अपनी विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य में राजनैतिक एकता स्थापित कर सकती। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल के इतिहास में अन्धकार वाला अन्धकारपूर्ण इतिहास था। जिसके बारे में तथ्यों का भारी अभाव है। इस काल के इतिहास को जानने के लिए और अधिक अन्वेषणों और शोध कार्यों की आवश्यकता है।

अध्याय-2

गुप्त साम्राज्य : उत्थान, विस्तार, सुदृढ़ीकरण एवं प्रशासनिक ढांचा

Gupta Empire : Rise and Expansion, Consolidation, Administrative Organisation

गुप्तकालीन इतिहास के स्त्रोतः गुप्तकाल के इतिहास की हमें निम्न स्त्रोतों से जानकारी मिलती है :

1. **साहित्यिक स्त्रोतः** गुप्तकाल का इतिहास जानने के लिए हमारे पास मुख्य रूप से चार साहित्यिक साधन हैं अर्थात् पुराण, काव्य, नाटक एवं स्मृतियां जिनका परिचय इस प्रकार है:

(1) **पुराणः** इतिहास के साहित्यिक स्त्रोतों में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। पुराणों में दी गई वंशावलियों की आलोचना का अध्ययन करने के बाद पार्जिटर व के.पी. जायसवाल जैसे विद्वानों ने इस निर्णय पर पहुंचे कि पुराणों में दी गई गुप्तकाल सम्बन्धी जानकारी विश्वसनीय है। विष्णु पुराण, वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, मतस्य पुराण में गुप्त राजवंश के आरम्भिक इतिहास निर्माण तथा उनके राज्य की सीमा निर्धारण के अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है।

(2) **काव्य तथा नाटकः** गुप्तकालीन का ज्ञान प्राप्त करने में काव्य तथा नाटकों का बहुत बड़ा योगदान है लेकिन ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जो काव्य तथा नाटक दोनों ही श्रेणी में आते हैं। अतः उनका वर्णन एक साथ किया गया है।

(क) **विशाखदत की कृतियां:** विशाखदत के दो नाटकों से हमें गुप्तकाल के इतिहास को जानने में बड़ी सहायता मिलती है। प्रथम है 'मुद्राराक्षस' यद्यपि यह नाटक चन्द्रगुप्त मौर्य तथा कौटिल्य से सम्बन्धित है परन्तु इसमें विशाखदत ने अपनी समकालीन घटना गुप्त वंश के उदय पर भी प्रकाश डाला है। इस ग्रंथ में गुप्तकाल की राजनीतिक दशा पर तो कम परन्तु उसकी धार्मिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

विशाखदत की दूसरी प्रमुख रचना है 'देवी चन्द्रगुप्तम' नामक नाटक इसमें गुप्तकालीन राजनीतिक दशा का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा रामगुप्त के वध एवं उसकी पत्नी ध्रवस्वामिनी के साथ विवाह का वर्णन है चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यरोहण का भी इसमें उल्लेख है।

(ख) **कौमुदीमहोत्सवः** "कौमुदीमहोत्सव" पांच अंकों में लिखा गया एक नाटक है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस पुस्तक की रचना किशोरिका ने की और कुछ अन्य विद्वानों ने विज्जिका को इसकी लेखिका बताया है। के.पी. जायसवाल का विचार था कि इस पुस्तक की रचना 400 ई० में की गई और इसमें मगध की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का चित्रण किया गया है। इस नाटक की कथा के अनुसार सुन्दर वर्मा मगध का राजा था। उसकी कई पत्नियां थीं। लेकिन उनमें से किसी ने भी पुत्र को जन्म नहीं दिया। जब वह बूढ़ा हो गया तो उसने चन्द्रसेन को दत्तक पुत्र बना लिया। वह मगध कुल का था और उसकी पत्नी लिच्छवी जाति की थी। लिच्छवी मगध के राजवंश के पुराने शत्रु थे। नाटक में लिच्छवियों को म्लेच्छ कहा गया है। चन्द्र वर्मन को गोद लेने के पश्चात् सुन्दर वर्मा को एक पुत्र हुआ जिसका नाम उसने कल्याण वर्मा रखा। राजा अपने पुत्र को बहुत चाहने लगा, चन्द्रसेन को यह अच्छा न लगा और उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। युद्ध में सुन्दर वर्मा की मृत्यु हुई और चन्द्रसेन राजा बन गया। प्रधानमंत्री मन्त्र गुप्त और सेनापति कुंजारक को यह मान्य न था और उन्होंने स्वर्गीय राजा के वास्तविक पुत्र का ही पक्ष लिया। उसे बहुत दूर एक सुरक्षित स्थान पर ले जाया गया वहाँ वह कई वर्ष रहा। प्रधानमंत्री तथा सेनापति उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे जब उसे सिंहासन पर बैठाया जाए। सीमान्त प्रदेश में एक विद्रोह को दबाने के लिए चन्द्रसेन को राजधानी छोड़नी पड़ी। चन्द्रसेन की अनुपस्थिति में कल्याण वर्मा को राजधानी में लाया गया और उसे राजा बना दिया गया। कहा गया है कि चन्द्रसेन ही गुप्त वंश का चन्द्रगुप्त प्रथम था। डा० दीक्षित

के अनुसार इस नाटक में गुप्त वंश की उत्पत्ति तथा उन्नति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। गुप्त वंश के आरम्भिक इतिहास की कई उलझनों को सुलझाने में इससे विद्वानों की सहायता की है।

(ग) **कालीदास की कृतियां:** महाकवि कालीदास को अधिकतर विद्वानों ने गुप्तकालीन माना है और उसके ग्रथा में प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक तथ्य हैं। उसके ग्रंथ 'ऋतु संहार' में तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का सुन्दर वर्णन है। महाकवि कालीदास ने गुप्तकाल के प्रसिद्ध नगर उज्जैन के सौन्दर्य, धन सम्पन्नता एवं नागरिकों के सुखमय जीवन का सुन्दर वर्णन किया है। इस नाटक में उज्जैन की तुलना स्वर्ग से की गयी है। यहां बात करना आवश्यक है कि उज्जैन गुप्त शासकों की दूसरी राजधानी थी। इस प्रकार इस ग्रंथ से भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के साथ–साथ राजनीतिक जीवन का भी परिचय प्राप्त होता है।

रघुवंश एवं अभिज्ञान शाकुन्तलम में भी राजा प्रजा के जीवन, राजा के कार्यों एवं अभिरुचियों तथा अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं तथा प्रथाओं का वर्णन उपलब्ध है। इसमें गुप्तकाल की ग्राम्य एवं नगर दोनों ही प्रकार की संस्कृतियों का रोचक वर्णन किया गया है।

(घ) **मंजु श्री मूलकल्पः** यह ग्रंथ बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इस ग्रंथ में 700 ई०पू० से 750 ई० तक के ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। इस ग्रंथ में भी हमें गुप्त शासकों का परिचय प्राप्त होता है।

(ड) **मृच्छकटिकः** शुद्रक द्वारा रचित इस ग्रंथ में गुप्तकालीन समाज एवं जन साधारण के जीवन के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में चोरों, बदमाशों एवं जुआरियों के मनोविज्ञान का समुचित विश्लेषण करते हुए तत्कालीन शासन व्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यह ग्रंथ राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के ज्ञान में बड़ा सहायक है।

(3) **स्मृतियां:** विद्वानों का मत है कि अधिकांश स्मृतियों का रचना काल गुप्तकाल ही है। डा० जायसवाल के अनुसार नारद का काल पूर्व गुप्तकाल था। वृहस्पति को भी पूर्व गुप्तकाल का ही माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास पुलस्त्य और हरित आदि की स्मृतियों का रचना काल गुप्तकाल ही है। इनसे गुप्तकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन सम्बन्धी ज्ञान होता है।

विदेशियों का वर्णन

1. **फाह्यान का विवरणः** फाह्यान एक चीनी यात्री था वह बौद्ध मत का अनुयायी था और बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में भारत आया था। उसके विवरण से गुप्तकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। उससे चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजमहल उसकी राजधानी तथा तत्कालीन सामाजिक एव धार्मिक स्थिति का सुन्दर ही सुन्दर वर्णन किया है।

2. **ईत्सिग का विवरणः** यह भी एक चीनी यात्री था जो सातवीं शताब्दी में भारत आया था। उसके विवरण से पता चलता है कि गुप्तों द्वारा स्थापित नालन्दा विश्वविद्यालय का भवन गगन स्पर्शी था एवं एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र के रूप में विख्यात था। उसके विवरण से गुप्तकालीन संस्कृति का भी ज्ञान होता है।

अभिलेखः अभिलेखों से गुप्तकाल के इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। इन अभिलेखों को हम तीन वर्गों में बांट सकते हैं। अर्थात् स्तम्भ लेख, शिला लेख और ताम्र पत्र। इन अभिलेखों में गुप्त शासकों के शासन काल एवं सीमा निर्धारण में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। विभिन्न सम्राटों ने विभिन्न कालों में विभिन्न उद्देश्यों से अभिलेखों को लिखवाया था। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख से हमें उसकी वंशावली उसके जीवन चरित्र एवं उसकी दिग्विजय का ज्ञान होता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरी के गुफा लेख से हमें उसकी दिग्विजय का ज्ञान होता है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार का ज्ञान होता है। इसी सम्राट के काल में उत्कीर्ण कराए गए भीतरी स्तम्भ लेख में भगवान विष्णु की मूर्ति प्रतिस्थापना का वर्णन प्राप्त होता है। भानुगुप्त के एरण लेख में एक भयकर युद्ध में उसके मित्र गोपालराज की वीरगति प्राप्ति एवं उसकी पत्नी का सती होना वर्णित है।

गुप्तकाल के अनेक अभिलेख हमें ताम्र पत्रों पर प्राप्त हुए हैं। ये दान पत्र कहे जाते हैं। गुप्तकालीन दान के नियम एवं तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विषय में इन लेखों में बड़ा लाभदायक ज्ञान होता है। गुप्त काल के दान पत्रों में तिथियां अंकित हैं जिनसे हमें समकालीन गुप्त सम्राटों के काल निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है।

मुद्राएं: गुप्तकालीन मुद्राओं से भी गुप्तवंश के इतिहास निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। इस काल की मुद्राएं सोने–चांदी तथा तांबे की पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक के भू भाग पर प्राप्त हुई हैं जिससे गुप्त साम्राज्य की सीमा निर्धारण का कार्य अत्यन्त सरल हो गया है। इन मुद्राओं से कुछ विशेष घटनाओं का भी ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ एक मुद्रा के मुख्य भाग पर चन्द्रगुप्त तथा उसकी पत्नी कुमार देवी का चित्र तथा पृष्ठ भाग पर लिच्छवयः लेख अंकित मिलता है। जिससे इस समय के गुप्तों तथा लिच्छवियों के वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना का ज्ञान होता है। इसी प्रकार समुद्रगुप्त की एक मुद्रा में अश्वमेघ घोड़े का चित्र उत्कीर्ण किया गया है जिससे यह अनुमान किया जाता है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ भी सम्पन्न किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की रजत मुद्राओं का निर्माण शक मुद्राओं के आकार–प्रकार के अनुकूल पाया गया है। जिससे शकों पर उसकी विजय का प्रमाण मिलता है। जिन गुप्तकालीन मुद्राओं पर सम्राटों के चित्र अंकित मिलते हैं उनमें हमें उनकी वेशभूषा तथा शारीरिक बनावट के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार गुप्तकालीन मुद्राओं से राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास का पर्याप्त ज्ञान होता है।

स्मारकः गुप्तकालीन स्मारकों ने भी तत्कालीन इतिहास निर्माण में बड़ा योगदान दिया है। इस काल के स्मारकों में मन्दिर, स्तम्भ, मूर्तियां तथा गुफाएं प्रमुख हैं। भूमरा के शिव मन्दिर जबलपुर के निकट तिगावा के विष्णु मन्दिर, देवगढ़ के दशावतार मन्दिर मन्दिर तथा अजयगढ़ राज्य में स्थित नयनाकुठारा के पार्वती मन्दिर आदि से हमें गुप्तकालीन धार्मिक अवस्था, वास्तुकला तथा गृहनिर्माण कला का ज्ञान होता है।

गुप्तकाल में लोहे तथा पत्थरों के स्तम्भों का भी निर्माण किया जाता था। मेहरोली का लौह स्तम्भ गुप्तकाल की कला का उत्कृष्ठता का अद्भुत उदाहरण है। इतने दीर्घकाल के व्यतीत हो जाने के बाद इसमें अब तक जंग नहीं लगा है। इन स्तम्भों पर जो लेख उत्कीर्ण है उनसे गुप्तकालीन इतिहास निर्माण में सहायता मिलती है।

गुप्तकालीन मूर्तियों के अधोभाग में कुछ लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। जिनसे गुप्तकालीन इतिहास सम्बन्धी महत्वपूर्ण सुचनाएं प्राप्त होती हैं। बुद्धगुप्त के काल में निर्मित सारनाथ प्रतिमा एवं कुमारगुप्त द्वितीय के काल की सारनाथ की बौद्ध प्रतिमा के निम्न भाग में जो लेख उत्कीर्ण हैं वे इसी कोटि में आते हैं।

गुप्तकालीन गुफाओं से भी तत्कालीन वास्तुकला, चित्रकला का ज्ञान प्राप्त होता है। इन गुफाओं में लेख भी उत्कीर्ण हैं जिनसे गुप्तकाल के इतिहास निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। इस काल में बनी कई गुफाएं बौद्ध धर्म तथा कुछ गुफाएं ब्राहमण धर्म से सम्बन्धित हैं। अजन्ता एवं बाघ नामक स्थानों पर बौद्ध गुफाएं निर्मित हैं जो उन दिनों मठों का कार्य करती हैं। ये पर्वत शिलाओं को काटकर बनाई गई हैं। इनकी भीतरी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में निर्मित उदयगिरी की गुफा ब्राहमण गुफा मन्दिर का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अन्दर देवालय है तथा इसकी भीतरी दीवारों पर चित्रकारी की गयी है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकालीन इतिहास का निर्माण करने में सभी स्त्रोतों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

गुप्त वंश की उत्पत्ति एवं स्थापना

गुप्त वंश की उत्पत्ति का प्रश्न विद्वानों के बीच आज भी बहस का विषय बना हुआ है। गुप्त शब्द प्राचीन भारत के विशेषकर शुगों और सतवाहनों के अभिलेखों में कई बार आता है। लेकिन चौथी शताब्दी के गुप्त राजवंश से उन्हें मिलाना सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों ने सुझाव दिया है कि गुप्त कारास्कर मूल के थे किन्तु इस बारे में कोई ठोस प्रमाण नहीं है। कौमुदी महोत्सव के चन्द्रसेन को चन्द्रगुप्त समझना भी ठीक नहीं होगा क्योंकि चन्द्रसेन के वंश को तो नष्ट कर दिया गया था।

इस बारे में केपी जायसवाल का विचार है कि गुप्त जाट थे। डा० एचसी राय चौधरी का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने अपने आपको धारण गोत्र बताया है। इसलिए गुप्तों का भी यही गोत्र होगा क्योंकि इसके पति का गोत्र कुछ और था लेकिन डा० आरसी मजूमदार इस मत से सहमत नहीं हैं।

डा० डी०सी० गांगुली ने बताया है कि गुप्त शासकों का मौलिक निवास स्थान मुर्शिदाबाद बंगाल में था मगध में नहीं। यह विचार चीनी चात्री इत्सिंग के कथन पर आधारित है कि उस समय (672 ई०) से 500 वर्ष पहले एक चीनी यात्री लुई–हुन नालन्दा गया और उसे ज्ञात हुआ कि महाराज श्री गुप्त ने चीनी पुरोहितों के लिए एक मन्दिर बनवाया और उसके खर्च के लिए 24 गांव दान दिए।

यह मन्दिर जो चीन के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था, मि–लि–क्या–सि–क्या–दो–नो नामक आश्रम के पास था जो गया के पास नालन्दा से 40 योजन दूरी पर स्थित था। डा० गांगुली ने महाराज श्री गुप्त को गुप्त वंश का संस्थापक बताया क्योंकि 40 योजन 240 मील के बराबर है। चीनी सूत्रों में उल्लेखित आश्रम को गांगुली बंगाल में स्थित बताते हैं। किन्तु फ्लीट तथा अन्य विद्वानों ने महाराज श्रीगुप्त को महाराज गुप्त स्वीकार करने में कालक्रम से सम्बन्धित कठिनाई को प्रस्तुत किया है। कारण यह है कि महाराज गुप्त का समय तृतीय शताब्दी के अन्त में था और इत्सिंग ने महाराज श्री गुप्त का समय दूसरी शताब्दी ई० का अन्त बताया है किन्तु एलन ने कोई कठिनाई नहीं समझी क्योंकि चीनी तीर्थ यात्री ने अपना कथन उस परम्परा पर आधारित किया जिस वृद्ध बौद्धों ने प्राचीन काल से अपने पीछे आने वाले लोगों को बताया था।

डा० आरसी मजूमदार का मत है कि नेपाल से प्राप्त 1015 ई० की एक हस्तलिपि में एक स्तुप का चित्र है और उसका शीर्षक है "वरेन्द्री का मृगस्थापन स्तुप"। फाउचर मानता है कि मि–लि–क्या–सी–क्या–पो–नो का मौलिक भारतीय रूप मृगस्थापन होना चाहिये और मृगशिखावन नहीं जैसा कि इत्सिंग के विवरण के अनुवादक चैवनेज ने लिखा है। प्रतीत होता है कि वरेन्द्री का कुछ भाग प्रथम गुप्त शासक श्री गुप्त के राज्य में सम्मिलित था। डा० गांगुली के कथन में आलोचकों ने दो दोष बताए हैं। एक तो यह कि मुर्शिदाबाद वरेन्द्री में राधा डिवीजन में स्थित है। नालन्दा से 240 मील नालन्दा से गंगा तक की दूरी और फिर गंगा के साथ साथ पूर्व की ओर का अन्तर दोनों को गिनना होगा। इस प्रकार सही स्थान माल्दा दिखाई देता है।

विष्णु पुराण, वायु पुराण और भागवत पुराण से ज्ञात होता है कि आरम्भिक गुप्त समय में मगध और उत्तर पश्चिमी बंगाल तक गंगा नदी के किनारों के प्रदेश सम्मिलित थे। किन्तु लेखकों का विचार है कि मगध गुप्त राजाओं का मूल स्थान नहीं था। कहा जाता है कि मगध का सम्वत् महाराज घटोत्कच ने विजय किया हो किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

श्री गुप्त (240-280 ई०)

प्रभावती गुप्त ने पूना ताम्रपत्र अभिलेख में श्रीगुप्त को गुप्त वंश का "अदिराज" बताया है। श्रहद्धापुर ताम्र पत्र अभिलख में कहा गया है कि श्री गुप्त धारण गोत्र का था। डा० आरसी मजूमदार मानते हैं कि हम अस्थाई रूप से गुप्त वंश क श्रीगुप्त को इत्सिंग द्वारा वर्णित महाराज श्री गुप्त मान सकते हैं इसलिए श्री गुप्त के राज्य में बंगाल का भी कुछ भाग सम्मिलित रहा होगा। गुप्त अभिलेखों में महाराज की उपाधि श्री गुप्त और घटोत्कच दोनों के लिए प्रयोग की गयी है। यह उपाधि आमतौर पर सामन्तों द्वारा प्रयोग की जाती है। यह सुझाव दिया गया है कि प्रारम्भिक गुप्त राजा मुरुण्डों के अधीन शासक थे किन्तु इसका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता।

घटोत्कच (280-319 ई०)

श्री गुप्त की मृत्यु हो जाने पर घटोत्कच सिंहासन पर बैठा यद्यपि उसके सम्बन्ध में हमें अधिक तथ्य ज्ञात नहीं है। विभिन्न साक्ष्यों से यही ज्ञात हो सका है कि वह श्रीगुप्त का पुत्र तथा चन्द्रगुप्त प्रथाम का पिता था और अपने पिता की ही भांति वह भी महाराज की ही उपाधि से सम्बोधित किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसे गुप्त वंश का संस्थापक स्वीकार किया है। परन्तु अन्य विद्वानों ने इसे गुप्त वंश की वंशावली में द्वितीय स्थान प्रदान किया है। स्कन्दगुप्त शासन काल के सुपिया अभिलेख में उसे गुप्त वंश का प्रथम राजा माना गया है। परन्तु इस अभिलेख में घटोत्कच के नाम के पहले महाराज शब्द का प्रयोग नहीं मिलता जिससे कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद को कोई सामन्त रहा होगा।

प्रभावती के पूना अभिलेख में घटोत्कच के गुप्तादिराज तथा प्रवरसेन द्वितीय ऋदपुर लेख में उसे "गुप्तनामादिराजो" कहा गया है अतः कुछ विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि घटोत्कच ही गुप्त वंश का संस्थापक था। लेकिन इन तथ्यों पर अधिक ध्यान देना उचित नहीं है क्योंकि ये दोनों अभिलेख वाकाटक लोगों द्वारा उत्कीर्ण करवाए गये हैं। इसके विपरीत गुप्त वंशावलियों में समुद्रगुप्त को जो महाराज गुप्त का प्रपौत्र तथा घटोत्कच का पौत्र कहा गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि घटोत्कच गुप्त वंश का द्वितीय राजा था।

चन्द्रगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त प्रथम के पूर्व दो शासकों ने केवल महाराज की उपाधि धारण की थी चन्द्रगुप्त ही प्रथम सम्राट था जिसने अपने नाम को महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया। इससे इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गुप्त वंश के प्रथम दो शासक स्वतन्त्र शासक न थे बल्कि ये किसी सम्राट के सामन्त के रूप में शासन करते थे, और इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम ही गुप्त वंश का प्रथम शासक एवं वास्तविक संस्थापक था।

चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवी राजकुमारी कुमार देवी के के साथ सम्पन्न हुआ। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना के प्रमाण हमें दो महत्वपूर्ण स्त्रोतों से प्राप्त होते हैं। प्रथम स्त्रोत स्वर्ण मुद्राओं का, विवाह प्रकार जिसमें मुद्राओं के अग्र भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमार देवी के चित्र तथा उनके नाम अंकित हैं इसमें चन्द्रगुप्त उसे कुछ विवाह सम्बन्धी वस्तु सिन्दूर दानी आदि देने की मुद्रा में दिखाया गया है। इन मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर एक सिंह वाहिनी देवी तथा सिंहासन का चित्र उत्कीर्ण है और इसी ओर 'लिच्छवय' शब्द भी लिखा हुआ है। इस वैवाहिक सम्बन्ध का दूसरा प्रमाणिक स्त्रोत है समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख, इस लेख में समुद्रगुप्त को 'लिच्छवीदौहीत्र' कहा गया है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।

इस विवाह के सम्बन्ध में ऐलन महोदय का कहना है कि सम्भवतः जब चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों के वैशाली राज्य पर आक्रमण करके विजय प्राप्त कर ली तब संधि की अन्य शर्तों में कुमार देवी के विवाह की भी एक शर्त थी। जिसे कन्या संधि संज्ञा दी जाती थी। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह विवाह युद्धोपरान्त संधि के परिणामस्वरूप हुआ था अथवा शान्तिपूर्ण लिच्छवियों की स्वेच्छा से। डा० परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार यह विवाह लिच्छवियों की स्वेच्छा से शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ था क्योंकि उन दिनों युद्धोपरान्त किए गए इस प्रकार के विवाह सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे और राक्षस विवाह की संज्ञा से सम्बोधित किए जाते थे जबकि गुप्त वंशजों ने इस विवाह की चर्चा बड़े गर्व से की है।

चन्द्रगुप्त और कुमार देवी के विवाह के महत्व को गुप्त वंश के इतिहास से सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। इसके महत्व का राजनैतिक तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से विवेचन किया गया है। ऐलन तथा दूसरे इतिहासकारों ने इसके महत्व को सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार लिच्छवी भारतवर्ष की एक कुलीन तथा प्रतिष्ठित जाति थी जिससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर गुप्त वंशज अपने को गौरवान्वित समझते थे। किन्तु अन्य विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार किया है। डा० मजूमदार का कथन है कि प्राचीन भारत में लिच्छवी गण की सामाजिक प्रतिष्ठा अच्छी नहीं थी। मनु स्मृति में उन्हें धर्मच्युत क्षत्रिय तथा उपनयन विहिन कहा गया है। जो सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक नहीं है।

यद्यपि इस विवाह के सामाजिक महत्व के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है किन्तु इसके राजनीतिक महत्व के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार एक जैसे दिखाई देते हैं। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, अल्तेकर तथा आयंगर सभी विद्वानों ने इस विवाह के राजनीतिक महत्व को स्वीकार किया है। डा० राय चौधरी ने इसके राजनीतिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जिस प्रकार बिम्बसार ने लिच्छवी कन्या छलना के साथ विवाह करके प्रथम मगध साम्राज्य की नींव डाली थी उसी भांति चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवी राजकन्या कुमार देवी के साथ अपने विवाह द्वारा द्वितीय मगध साम्राज्य की स्थापना की थी। डा० उदय नारायण राय ने भी इसके राजनीतिक महत्व के विषय में लिखा है "जिस प्रकार मौरवरी राज्य एवं साधनों की प्राप्ति से हर्षवर्धन ने विकास का निमित मार्ग प्रस्तुत किया था उसी भांति लिच्छवियों ने चन्द्रगुप्त की महानता एवं उत्थान के सुन्दर प्रष्ठभूमि प्रस्तुत की थी" इस विवाह के फलस्वरूप वैशाली के राज्य पर जहां लिच्छवियों का शासन था चन्द्रगुप्त प्रथम का प्रभुत्व स्थापित हो गया और इस प्रकार उत्तर पूर्व की ओर गुप्त साम्राज्य का प्रसार हो गया और उसने एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। सम्भवतः इसी साम्राज्य विस्तार के फलस्वरूप और एक महान सम्राट बन जाने के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'महाराज' के स्थान पर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। इस विवाह तथा राज्य विस्तार के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के वैभव एवं उसकी गरिमा में इतनी वृद्धि हो गई कि इस समृद्धि को अभिव्यक्त करने के लिए उसने स्वर्ण मुद्राएं प्रचलित की थी।

गुप्त संवत् (Gupta Era)

इतिहासकारों की एक बहुत बड़ी समस्या गुप्त संवत् का आरम्भ किसने किया यह निश्चित करना था। 1887 में फ्लीट महोदय ने अपने शोध कार्य के फलस्वरूप यह घोषणा की कि इस संवत का प्रवर्तक चन्द्रगुप्त प्रथम था और उसने 319-20 में इस संवत् को आरम्भ किया। फ्लीट की यह घोषणा बड़ी ही महत्वपूर्ण थी क्योंकि गुप्तकाल की अनेक गुत्थियां सुलझाने में इससे अभूतपूर्व सहायता मिली। फ्लीट की घोषणा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्मिथ ने लिखा है "फ्लिट द्वारा गुप्त संवत् के निर्णय से एक कदम आगे बढ़ाया गया जिसके विषय में पहले केवल कल्पना की जाती थी जब उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि गुप्त संवत् का प्रथम वर्ष 319-20 है तो एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वंश के काल का निर्धारण हो गया और व्यवस्था के स्थान पर सुव्यवस्था स्थापित कर दी गई।"

यद्यपि डा० आर०सी० मजूमदार ने नालन्दा तथा गया के पांचवे तथा नौवे वर्ष के लेखों के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है इस संवत् का जन्मदाता वास्तव में समुद्रगुप्त ही था और इसका आरम्भ उसने सिंहासनारोहरण के समय हुआ था। किन्तु अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं।

फ्लीट महोदय ने अपने शोध को अलबेरूनी के इस कथन पर आधारित किया कि गुप्त संवत् तथा शक संवत् में 241 वर्ष का अन्तर है चूंकि शक संवत् का का आरम्भ 78 ई० में हुआ था इसलिए गुप्त संवत् का आरम्भ 241-79 अर्थात् 319-20 ई० में हुआ। अलबेरूनी का यह मत अकाट्य प्रतीत होता है जैसा कि आर०जी० भण्डारकर ने लिखा है "अलबेरूनी द्वारा दी गयी [illegible] प्रथम तिथि के पक्ष में प्रमाण एकदम अकाट्य है।"

फ्लीट के विचार को अनेक विद्वानों ने अस्वीकार किया है। डा० शाम शास्त्री का मत है कि गुप्त संवत् का प्रथम वर्ष [illegible] था। श्री गोविन्द पाई का विचार है कि गुप्त संवत 272-73 ई० में आरम्भ हुआ। लेकिन इस मामले में डा० भण्डारकर [illegible] है कि फ्लीट का मत सही है।

इस बारे में काफी स्पष्ट जानकारी उपलब्ध हो चुकी है जिससे फ्लीट के विचार की पुष्टि होती है कुमार गुप्त और बुधगुप्त के [illegible] अभिलेखों की तिथि मालव संवत 993 या 436 ई० है। राजा शशांक के गंजम पत्रों की तिथि गुप्त संवत 300 है जो फ्लीट के अनुसार 319-20 है। कुमार गुप्त की पूर्वतम ज्ञात तिथि गुप्त संवत 96 है जो बिल साढ अभिलेख में दी गयी है। स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत 136 है जो उसके एक चांदी के सिक्के से प्राप्त हुई है। फ्लीट की गणना के अनुसार कुमार गुप्त का काल 414 से 455 ई० तक है। यदि हम फ्लीट का विचार स्वीकार कर लें तो 436 ई० का मन्दसौर अभिलेख उसके राज्य [illegible] जाएगा।

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी क्षत्रपों को परास्त किया। यदि 319-20 ई० को गुप्त संवत का प्रथम वर्ष मान लिया जाए तो चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य 375 ई० से 414 तक होगा। पश्चिमी क्षत्रपों को समाप्त करने के पश्चात् उसने उन्हीं के सिक्के की तरह चांदी के सिक्के चलाए। चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्तिम ज्ञात तिथि संवत 93 है जो 412 ई० के बराबर है। शक वंश की अन्तिम तिथि शक संवत 304 है जो सिक्कों से प्राप्त हुई है। यह तिथि 382 ई० है। इससे भी फ्लीट के विचार की पुष्टि होती है कि गुप्त संवत 319-20 ई० में आरम्भ हुआ।

विजय: विद्वानों की यह धारणा है कि चन्द्रगुप्त प्रथम को मगध अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था जो स्वतन्त्र शासक न थे बल्कि सामन्त के रूप में वहां शासन कर रहे थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने यहीं पर स्वतन्त्र रूप से शासन करना आरम्भ किया और नये राजवंश की नींव डाली जो गुप्त वंश के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु डा० राखाल दास बैनर्जी के विचार में मगध को शकों पर विजय करके प्राप्त किया गया था। जो वहां पर कुछ दिन से शासन कर रहे थे। परन्तु इस मत के स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि उन दिनों शकों का शासन केवल पश्चिमी मालवा और गुजरात में ही था। उन दिनों वे मगध में कभी भी मगध में शासन नहीं कर रहे थे। इसलिए चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा मगध की विजय को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं होगा।

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के विचार में प्रयाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को ही जाता है। परन्तु उन दिनों में चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में मघवंश का अन्तिम राजा महाराज गौतमी पुत्र वृषध्वज शासन कर रहा था और सम्भवतः उसी को परास्त प्राप्त कर चन्द्रगुप्त ने प्रयाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था।

डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय के विचार में मुरुण्डो पर भी चन्द्रगुप्त प्रथम ने विजय प्राप्त की थी। परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रयोग स्तम्भ लेख से हमें ज्ञात होता है कि मरुण्डों को समुद्रगुप्त ने जीता था।

समुद्रगुप्त (लगभग 335 से 375)

समुद्रगुप्त का इतिहास जानने के लिए बहुत मात्रा में सिक्कों के अतिरिक्त इलाहाबाद स्तम्भ लेख का महत्व सबसे अधिक है। उसके राजकवि तथा संधि विग्रहक हरिषेण ने अशोक के स्तम्भ पर उत्कीर्ण करवाया था। यद्यपि डा० फ्लीट की यह धारणा है कि यह प्रशस्ति समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उत्कीर्ण कराई गई थी किंतु उसके अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन इस धारणा और भी बलवान हो गई है कि यह उसके जीवन काल में ही उत्कीर्ण कराई गई था। यह प्रशस्ति अशोक के [illegible] नीचे है और इसमें कुल 33 पंक्तियां हैं। इसका कुछ भाग अब टूट–फूट गया है और इस पढने में कठिनाई होती है इस प्रशस्ति से समुद्रगुप्त के काल की प्रमुख घटनाओं उसकी दिग्विजय उसके चरित्र स्वभाव और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

जन्म तथा बाल्यकाल: समुद्रगुप्त की जन्मतिथि का हमें ज्ञान नहीं है किन्तु गुप्त अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि वह लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था। प्रयाग स्तम्भ लेख से हमें ज्ञान होता है कि वह अपने पिता का एकमात्र पुत्र [illegible]

उसके और भाई भी थे। जो उससे बड़े और छोटे दोनों थे। समुद्रगुप्त बचपन से ही बड़ी विलक्षण प्रतिभा का था और अपने भाइयों में सबसे अधिक वीर साहसी और योग्य था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह अपने पिता का परम प्रिय और विश्वासपात्र बन गया था और वह अपने पिता के जीवन काल में ही राजकाज में भाग लेने लग गया था और उसे राजनीतिक शिक्षा प्राप्त हो गयी थी। इसके फलस्वरूप उसके भाई उससे प्रतिस्पर्धा करने लगे थे किंतु राज्य के सभासद उसके गुणों के कारण उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे और वे उसे उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हो गये थे।

उत्तराधिकार: हरिषेण के इलाहाबाद स्तम्भ लेख से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि समुद्रगुप्त के पिता ने उसकी योग्यता के कारण उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। उसने अपने परामर्शदाताओं की उपस्थिति में घोषणा करके राजकुमार से कहा "इस पृथ्वी की रक्षा करो"। यह भी कहा गया है कि जब यह घोषणा की गयी तो उसके अन्य सम्बन्धी निराशा के कारण पीले पड़ गये, सभा के सदस्य अति प्रसन्न हुए। ऋद्धपुर अभिलेख में समुद्रगुप्त के लिए 'तत्पादपरिगृहित' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि डा० छाबड़ा द्वारा दिये गये उसके अर्थ को स्वीकार कर लिया जाए तो चन्द्रगुप्त प्रथम ने राज त्याग कर दिया और समुद्रगुप्त को राजा बना दिया। अभिलेख से ऐसे ही अर्थ की पुष्टि होती है।

कुछ इतिहासकारों का विचार है कि अभिलेख का यह कथन कि समुद्रगुप्त के सम्बन्धी पीले पड़ गये, उत्राधिकार के लिए झगड़े का भाव्यात्मक वर्णन है। कई सिक्कों पर 'कच' नाम और एक मुद्रालेख दिखाई देता है कहा जाता है कि कच समुद्रगुप्त का बड़ा भाई था जो राजा बन गया और सिंहासन प्राप्त करने के लिए समुद्रगुप्त को उसका वध करना पड़ा। किन्तु यदि हम स्वीकार कर लें कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त के पक्ष में राज्य त्याग किया तो उत्तराधिकार युद्ध का विचार मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त कच के सिक्के समुद्रगुप्त के सिक्कों से इतने मिलते हैं कि ऐलन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "सम्राट का वास्तविक नाम कच था और अपनी विजयों के संकेत में उसने समुद्रगुप्त नाम धारण किया।" इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि कच के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर "सर्वराजीच्छेता" मुद्रा लेख पाया गया है। वंश के विश्वसनीय लेखों में यह उपाधि केवल समुद्रगुप्त को दी गयी है। यह भी सम्भव है कि महासागर तक अपनी विजय कर लेने के बाद कच ने समुद्रगुप्त का नाम धारण किया। समुद्रगुप्त शब्द को दो भागों में बांट दिया गया है 'समुद्र' को व्यक्तिगत नाम 'गुप्त' को उपनाम माना गया है। यह विचार इस तथ्य पर आधारित है कि समुद्रगुप्त के पूर्वतम सिक्कों के मुख भाग पर 'समुद्र' नाम अंकित है और इसके पृष्ठ भाग पर मुद्रा लेख 'पराक्रम' है।

सिंहासनारोहण: समुद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है यदि हम कृत्रिम नालन्दा पत्र को स्वीकार कर लें तो समुद्रगुप्त संवत 5 या 325 से राजा बना। कुछ लेखक समुद्रगुप्त को गुप्त संवत का संचालक मानते हैं और यदि उनका विचार स्वीकार कर लिया जाए तो समुद्रगुप्त 320 ई० में राजा बना। डा० आर०सी० मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि 340 और 350 ई० के मध्य रखी जा सकती है। कृत्रिम गया ताम्रपात्र के अनुसार समुद्रगुप्त ने लगभग 335 से 380 ई० तक शासन किया।

समुद्रगुप्त की विजय: समुद्रगुप्त अपनी विजयों के कारण प्रसिद्ध था इसीलिए डा० वी०ए० स्मिथ ने उसे "भारतीय नेपोलियन" की उपाधि दी है। उसकी विजय विभिन्न दिशाओं में और कई प्रकार की थी। आर्यवर्त में उसने दिग्विजय का कार्य किया, दक्षिणा पथ में उसने धर्म विजयी का कार्य किया।

आर्यवर्त की विजय: एकराट् तथा चक्रवर्ती सम्राट बनने की अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के उद्देश्य से समुद्रगुप्त ने सर्वप्रथम आर्यव्रत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अपना अभियान चलाया। आर्यव्रत के जिन नरेशों को समुद्रगुप्त ने परास्त कर उनके राज्यों को जीता प्रयाग स्तम्भ लेख में उनकी दो सूचियां उपलब्ध हैं। एक सूची का उल्लेख दक्षिण विजय से पूर्व मिलता है इसके चार नरेशों अर्थात् अचुत, नागसेन ग, तथा कोतकुलज आते हैं, चूंकि ग के उपरांत जो लिखा गया है वह मिट गया है इसलिए विद्वानों का विचार है कि इसका पूरा नाम गणपति नाग था। दूसरी सूची का उल्लेख दक्षिण विजय उपरान्त मिलता है इसमें नौ राजाओं के नाम दिये गये हैं जिनमे कोतकुलज को छोड़कर प्रथम श्रेणी के तीन नाम सम्मिलित हैं और छह नाम नये अर्थात् रुद्रदेव, मातील, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, नन्दि, और बल वर्मा हैं। जिन्हें समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। उन सूचियों में उन राजाओं के नाम तो हैं जिन्हें परास्त किया गया था परन्तु उनके राज्यों के नाम नहीं मिलते। इस रहस्य के बारे में विद्वानों का कहना है क्योंकि इन नरेशों का वध नहीं किया गया था इसलिए इनके नाम उत्कीर्ण कराए गए हैं।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय की दिशा तथा क्रम पर विचार करते समय इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि यह विजय एक युद्ध या अनेक युद्धों में की गयी। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के विचार में समुद्रगुप्त ने एक ही युद्ध में आर्यावृत के दो नरेशों को परास्त

कर दिया था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं। पहला तर्क यह है कि बिना सम्पूर्ण [illegible] प्रभुता स्थापित की और अपने सम्राज्य को सुरक्षित किये बिना वह दक्षिण का अभियान नहीं चला सकता था। [illegible] कि यदि दो युद्ध किये होते तो तीन नरेशों के नाम दोनों सूचियों में क्यों दिये गये हैं। इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह [illegible] तो दो सूचियां क्यों दी गई हैं। डा० राय चौधरी का कहना है कि पहली सूची में संक्षेपिका दी गयी है और दूसरी [illegible] विस्तृत वर्णन किया गया है।

डा० राय चौधरी ने एक ही युद्ध के पक्ष में जो तर्क दिये हैं वे बड़े ही निर्बल हैं। आलोचकों का कहना है वस्तुतः [illegible] प्रथम युद्ध में समुद्रगुप्त ने चार नरेशों को परास्त किया। इनके नाम प्रथम सूची में उपलब्ध हैं। इसके बाद दूसरे [illegible] नौ नरेशों के नाम दूसरी सूची में दिया गया है। इस युद्ध में कोतकुलज को छोड़कर बाकी तीन नरेश भी शामिल [illegible] इसलिए [illegible] नाम की दूसरी सूची में पुनरावृति हुई है। आर्यावृत के इन पराजित राजाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:

1. **अच्युतः** प्रयाग स्तम्भ लेख में प्रथम नाम अच्युत का मिलता है यह सम्भवतः अहिच्छत्र का शासक था। [illegible] बरेली जिले में स्थित रामनगर से किया जाता है। बरेली जिले में बहुत सी मुद्राएं भी मिली हैं जिन पर अच्यु शब्द [illegible] है। डा० जायसवाल के अनुसार यह अच्यु प्रयाग स्तम्भ लेख का अच्युत ही था।

2. **नागसेनः** यह नागवंशी नरेश था जो पद्मावती पर शासन कर रहा था। पद्मावती का समीकरण पद्मपवाया [illegible] जो ग्वालियर से 25 मील दूर स्थित है।

3. **गणपतिनागः** प्रयाग प्रशस्ति में केवल ग अक्षर उपलब्ध है और आगे आने वाले अक्षर गिर गये हैं। विद्वानों का विचार है [illegible] यह गणपतिनाग ही रहा होगा। यदि इस अनुमान को सत्य मान लिया जाए तो वह मथुरा पर शासन करता रहा होगा [illegible] भण्डारकर ने उसे विदिशा का शासक बतलाया है।

4. **कोतकुलजः** कोत वंश के राजाओं की मुद्राएं पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली में प्राप्त हुई हैं। इसस अनुमान लगाया गया [illegible] वंशीय नरेश यहीं पर शासन कर रहे थे और समुद्रगुप्त ने इसी क्षेत्र में उन्हें परास्त किया था।

5. **रुद्रदेवः** कुछ मुद्राएं कौशाम्बी से प्राप्त हुई हैं जिनमें रुद्र का नाम अंकित है। लिपि साक्ष्य के आधार पर यह [illegible] का शासक प्रतीत होता है। अतएव रुद्रदेव का समीकरण कौशाम्बी के रुद्र नामक शासक के साथ करना [illegible] क्योंकि कौशाम्बी आर्यावृत में स्थित है।

6. **मतिलः** बुलन्दशहर में एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिस पर मतिल नाम अंकित है। फ्लीट तथा अन्य विद्वानों का [illegible] प्रयाग स्तम्भ लेख का मतिल बुलन्दशहर तथा उसके आस पड़ोस के क्षेत्र पर शासन कर रहा था।

7. **नागदत्तः** नाम के आधार पर विद्वानों ने इसे नागवंशी नरेश बतलाया है परंतु इसका समीकरण अभी आर्यावृत [illegible] के साथ नहीं किया जा सका है। कनिंघम महोदय को नाग चिन्ह युक्त एक मुद्रा मिली है जिसमें नाग मथुरा [illegible] नाग का उल्लेख मिलता है। यह लेख चौथी शताब्दी की लिपि में है इसलिए जायसवाल ने प्रयाग प्रशस्ति [illegible] समीकरण इस मुद्रा के नागभट्ट से किया है।

8. **चन्द्र वर्माः** पश्चिमी बंगाल में बांकुज जिले के उत्तर पश्चिम में बारह मील दूर स्थित सुसुनिया की पहाड़ी [illegible] प्राप्त हुआ है जिसमें चन्द्र वर्मा नामक नरेश का नाम उत्कीर्ण है। इस अभिलेख के अनुसार वह सिंह वर्मा [illegible] नामक स्थान का स्वामी था। डा० भण्डारकर ने पुष्करण का समीकरण पोखरण से किया है जो सुसुनिया पहाड़ी [illegible] उत्तर पूर्व की ओर दामोदर नदी के समीप स्थित है। चन्द्र वर्मा यहीं का शासक प्रतीत होता है।

9. **नन्दिः** इस विषय में केवल इतना ही अनुमान लगाया जा सका है कि यह नागवंशीय नरेश था।

10. **बल वर्माः** बल वर्मा का भी समीकरण सन्तोषजनक रूप से नहीं हो सका है। डा० आर०एन० दण्डेकर ने [illegible] भास्कर वर्मा का पूर्वज बताया है।

आटविक प्रदेश पर विजयः अटवी का अर्थ है जंगल। फ्लीट के विचार में यह जंगली प्रदेश जिस पर समुद्रगुप्त [illegible] थी गाजीपुर जिले से लेकर जबलपुर तक स्थित था। इस प्रकार यह आर्यावृत और विन्ध प्रदेश के मध्य स्थित था [illegible]

लेख से हमें ज्ञान होता है कि उस समय 18 आटविक राज्य विद्यमान थे प्रयाग प्रशस्ति में इन्ही आटविक राज्यों का जिक्र है।

आटविक विजय का प्रथम परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण विन्ध प्रदेश उसके अधिकार में आ गया तथा नर्मदा उसके राज्य की सीमा बन गई। और इस प्रकार हिमालय से लेकर विन्ध तक उसका एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। इस विजय का एक परिणाम यह हुआ कि उसकी दक्षिण विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया।

दक्षिण विजयः प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के सभी राजाओं को नतमस्तक कर दिया था। दक्षिणा पथ के जिन नरेशों को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था उनके नामों तथा राज्यों की सूची प्रयाग प्रशस्ति की उन्नीसवीं तथा बीसवीं पंक्तियों में मिलती है। इन नरेशों तथा राज्यों की संख्या 12 है जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

1. **कोशल का महेन्द्रः** डा० एच०सी० राय चौधरी का मत है कि दक्षिणा पथ में कोशल राज्य में वर्तमान बिलासपुर, रामपुर और सम्भलपुर के जिले और सम्भवतः गंजम का कुछ भाग सम्मिलित था उसकी राजधानी श्रीपुर थी।

2. **महाकालान्तर का व्याघ्रराजः** महाकालान्तर राज्य कहां स्थित था और व्याघ्रराज किस वंश का राजा था इसके बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। फ्लीट तथा कुछ अन्य इतिहासकारों ने व्याघ्रराज का समीकरण व्याघ्रदेव से किया है जो वाकाटक नरेश का माण्डलिक था तथा बुन्देलखण्ड पर शासन करता था। जी० रामदास ने महाकालान्तर को गंजम व झारखण्ड का प्रदेश माना है। डा० राय चौधरी के अनुसार महाकालान्तर मध्य प्रदेश का एक जंगली प्रदेश था जिसे महाभारत में वैन गंगा की घाटी कौशल के पूर्वी भाग के बीच बताया गया है।

3. **कोरल का भण्टराजः** कोरल तथा भण्टराज के सम्बन्ध में विद्वानों का बड़ा मतभेद है। कील हर्न महोदय के अनुसार कोरल गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के बीच में कहीं स्थित था और उसका आधुनिक नाम कोलेरू का सार है। डा० भण्डारकर ने इसका समीकरण दक्षिण भारत में स्थित कोराद तथा सोनपुर से किया है और इसकी राजधानी सम्भवतः महानदी के तट पर स्थित ययाती नगरी थी। विद्वानों ने इसका समीकरण उड़ीसा के गंजम जिले में स्थित आधुनिक कोलाड़ से किया है।

4. **पिष्टपुर का महेन्द्रगिरीः** कोरल राज्य पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने पिष्टपुर पर विजय प्राप्त की। इतिहासकारों ने पिष्टपुर का समीकरण आधुनिक आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले में स्थित पीठापुरम से किया है।

5. **कोट्टूर का स्वामीदत्तः** जे० डब्रयुल का विचार है कि कोट्टूर को गंजम जिले का कोढूर स्वीकार करना चाहिये। कहा जाता है कि स्वामीदत्त दो प्रदेशों का राजा था एक प्रदेश की राजधानी पिष्टपुर तथा दूसरे की कोट्टूर थी।

6. **एरण्डपल का दमनः** फ्लीट ने एरण्डपल का समीकरण खानप्रदेश में स्थित एरण्डोल से किया है जे० डब्रयूल ने इसे एण्डरपली माना है जो गंजम जिले में चीका कील के निकट स्थित है। जी० रामदास के अनुसार एरण्डपल को विशाखापटनम में येण्डीपल्लि या येलोर ताल्लुके में एण्डपल्लि मानना चाहिये।

7. **कांची का विष्णुगोपः** कांची जिसे कांचीपुरम या कांजीवरम् भी कहते हैं पल्लव नरेशों की राजधानी थी इस प्रकार विष्णुगोप कोई पल्लव नरेश ही रहा होगा।

8. **अवयुक्त का नीलराजः** अवयुक्त का अभी तक ठीक ठीक समीकरण नहीं हो सका है। सम्भवतः यह वेंगी और कांची के मध य का भाग था। डा० जायसवाल ने इसका समीकरण 'अवराज' से किया है जिसका उल्लेख खरवेल के हाथी गुफा अभिलेख में मिलता है।

9. **वेंगी का हस्तिवर्माः** वेंगी तमिलनाडु के कृष्णा जिले में स्थित है। अनेक विद्वानों के अनुसार हस्तिवर्मा शालकायन वंशी नरेश हस्तीवर्मा प्रथम प्रतीत होता है। शालकायन का वंश दक्षिण भारत का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण राजकुल था।

10. **पालक्क का उग्रसेनः** ऐलन, आर०सी० मजूमदार आदि विद्वानों का विचार है कि पालक्क आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले में स्थित था। उसका समीकरण इस जिले में स्थित पलक्कड़ नामक स्थान से भी किया जाता है वहां पर पल्लव नरेश का एक राजकुमार उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था।

11. **देवराष्ट्र का कुबेरः** वी०ए० स्मिथ तथा अन्य विद्वानों ने देवराष्ट्र का समीकरण महाराष्ट्र से किया था परन्तु अब यह मत अमान्य हो गया है। विजयगापट्टनम में एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर एलामाची शब्द उत्कीर्ण है। इस अभिलेख के अनुसार यह

स्थान देवराष्ट्र प्रदेश में स्थित है। एलामांची का समीकरण आधुनिक आंध्रप्रदेश के एलामा चिली से किया है इस प्रकार देवराष्ट्र का कुबेर आंध प्रदेश में ही कहीं शासन करता रहा होगा।

12. **कुस्थलपुर का धनंन्जयः** वी०ए० स्मिथ ने कुस्थलपुर की पहचान भ्रमवश कुस्थलपुर से कर दी थी जो द्वारकापुरी का दूसरा नाम था। परन्तु अब यह मत अमान्य हो गया है। आयंगर महोदय ने इसका समीकरण कुशस्थली नदी के आसपास के क्षेत्र से किया है। बर्नेट महोदय ने इसका समीकरण उत्तरी आर्काट में स्थित कुट्टलुर से किया है। कुछ भी हो यह स्थान कहीं भी दक्षिण पूर्व समुद्र तट कभी भी स्थित था।

सीमान्त प्रदेशों पर विजयः समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय से आतंकित होकर सीमान्त प्रदेशों के शासकों ने बिना युद्ध किए ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इनके नाम प्रयास प्रशस्ति की उन्नीसवीं और बीसवीं पंक्तियों में उत्कीर्ण मिलते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग में पूर्वी सीमान्त प्रदेश के पांच राज्य आते हैं जहां पर राजतंत्रात्मक व्यवस्था थी। द्वितीय वर्ग में पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के नौ राज्यों का उल्लेख है जहां पर गणतंत्रात्मक व्यवस्था थी।

पूर्वी सीमान्त प्रदेशः इसके अन्तर्गत पांच राज्य अर्थात् समतट, ड्वाक, कामरूप, नेपाल और कतृपुर। इन पांचो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:

1. **समतटः** यह पूर्वी बंगाल था जिसे अब बंगलादेश कहते हैं समुन्द्री तटीय प्रदेश था इसकी राजधानी कर्मान्त थी।
2. **डवाकः** इस राज्य में सम्भवतः पूर्वी बंगाल के ढाका तथा चटगांव के जनपद सम्मिलित थे।
3. **कामरूपः** यह असम का प्राचीन नाम था। इसके मध्य भाग को आज भी कामरूप के नाम से जाना जाता है।
4. **नेपालः** इसका तात्पर्य आधुनिक नेपाल से ही है। उन दिनों यह प्रदेश गण्डक तथा कोसी नदियों के बीच स्थित था और लिच्छवी वंश वहां पर शासन कर रहा था।
5. **कतृपुरः** फ्लीट ने इसका समीकरण पंजाब के जालंधर जिले में स्थित करतारपुर से किया है। स्मिथ, राय चौधरी तथा अन्य कुछ विद्वानों ने इसका समीकरण कुमायु गढ़वाल और रोहिलखण्ड के प्राचीन कुतुरिया राज्य से किया है। दशरथ शर्मा के विचार में मुल्तान तथा लोनी के बीच स्थित कहरोर के तृपुर का रूपांतरण है।

पश्चिमी सीमान्त प्रदेशः आर्यव्रत के पश्चिमी भागों में जिन राज्यों ने बिना युद्ध किए ही समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी उनकी कुल संख्या नौ है। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

1. **मालवः** मालव सिकन्दर के समय में पंजाब में रहते थे। जब उषावदात्त के साथ उनका सघर्ष हुआ उस समय वे सम्भवतः पूर्वी राजपुताना में थे। समुद्रगुप्त के समय उनकी स्थिति ठीक से बताना सम्भव नहीं है। डा० आर०सी० मजूमदार का मत है मालव सम्भवतः मेवाड़, टोक और दक्षिण पूर्व राजस्थान के निकटवर्ती क्षेत्रों में रहते थे।
2. **आर्जुनायनः** यह एक अत्यन्त प्राचीन गणराज्य था। भरतपुर तथा अलवर राज्यों में बहुत मात्रा में इनकी मुद्राए पाई गई हैं इन मुद्राओं पर 'आर्जुनायन जय' शब्द अंकित है इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि इसके अन्तर्गत वही प्रदेश सम्मिलित था जो भरतपुर और अलवर राज्यों के अन्तर्गत आता है।
3. **योधेयः** पाणिनी ने इसे जातिको आयुद्धजीवी माना है अर्थात् वह जाति जो युद्ध करके अपना जीवन यापन करती थी। इस जाति को रुद्रदमन ने परास्त किया था। एक अभिलेख में योधयो का सम्बन्ध भरतपुर राज्य से स्थापित होता है। सहारनपुर से मुलतान तक के क्षेत्र में उनके सिक्के बहुत बड़ी मात्रा में पाए जाते हैं। डा० साहनी ने रोहतक के निकट खोखराकोट में सिक्कों के सांचे बड़ी संख्या में प्राप्त किए। समुद्रगुप्त के समय सम्भवतः उत्तरी राजपुताना और दक्षिण पूर्वी पजाब पर उनका अधिकार था। उनका राज्य भूतपूर्व बहावलपुर राज्य की सीमा तक था।
4. **मद्रकः** यह भी अत्यन्त प्राचीन गणराज्य था। पाणिनी आयुद्ध जीवी संघ में इसकी गणना की थी। पजाब के मद्र देश का नाम इसी जाति के नाम पर पड़ा था।
5. **आभीरः** पातंजलि के महाभाष्य में आभीरों को शूद्र कहा गया है उस समय ये लोग सम्भवतः हिसार के निकटवर्ती प्रदेश में शासन कर रहे थे। सिकन्दर को अपने भारतीय आक्रमण के समय आभीरों से भी लोहा लेना पड़ा था। इनकी एक शाखा इस समय महाराष्ट्र में भी शासन कर रही थी। कालान्तर में आभीर लोग पश्चिमी राजपुताना में शासन करने लगे। कुछ

कालोपरान्त के लोग वहां से भी भिलसा तथा झांसी के मध्य भाग में प्रवास कर गये और वहीं पर शासन करने लगे और सम्भवतः आधुनिक अहिरवाड़ा को अपनी राजधानी बना लिया। जिस समय समुद्रगुप्त ने उन पर विजय प्राप्त की उस समय ये यहीं पर निवास कर रहे थे।

6. **प्राजूनः** वी०ए० स्मिथ तथा डी०आर० भण्डारकर के मतानुसार ये लोग मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले में शासन कर रहे थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये लोग महाभारत में वर्णित अर्जुन से सम्बन्धित थे और समुद्रगुप्त के शासन काल में मध्यप्रदेश के नरसिंहगढ़ में शासन कर रहे थे।

7. **सनकानीकः** सनकानिकों का उल्लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरी गुफा लेख में किया गया है। सम्भवतः वे भिलषा के निकट ईषगढ़ में रहते थे।

8. **काकः** इस गणराज्य का उल्लेख महाभारत में मिलता है। वी०ए० स्मिथ ने उनकी काकनाड् (सांची) से सम्बन्धित किया है।

9. **खरपारिकः** यद्यपि बहीतगढ़ के लेख में खरपर जाति का उल्लेख मिलता है। भण्डारकर महोदय ने प्रयाग प्रशस्ति के खरपरिकों का सम्बन्ध इस खरपर से किया है क्योंकि यह लेख मध्य प्रदेश के दमोह जिले में मिला है अतएव अनुमान लगाया जाता है कि ये लोग यहीं पर शासन करते थे।

सीमान्त प्रदेश के राज्यों को समुद्रगुप्त ने अपनी अधीनता स्वीकार करा लेने के उपरान्त अभयदान दे दिया। वह इतने में ही संतुष्ट रहा कि वे उसकी आज्ञा का पालन करें। विशिष्ट अवसरों पर राजदरबार में उपस्थित है।

विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्धः इलाहाबाद प्रशस्ति में विदेशी राज्यों का भी उल्लेख किया गया है जिनके साथ समुद्रगुप्त ने सम्बन्ध स्थापित किए। उन्होंने समुद्रगुप्त आत्मसमर्पण करना, कन्याओं का उपहार चढ़ाना, तथा गरुड़ मुद्रा में अंकित उसके आदेशों को अपने–अपने राज्यों में प्रचलित करना स्वीकार कर लिया। प्रयाग प्रशस्ति की तेइसवीं पंक्ति में जिन विदेशी शक्तियों का उल्लेख मिलता है और जिनके साथ समुद्रगुप्त ने कुनितिज्ञ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था उनका परिचय निम्नलिखित है।

1. **देवपुत्र शाहीशहानुशाहीः** प्रयाग प्रशस्ति से हमें पता चलता है कि देवपुत्र, शाहीशहानुशाही समुद्रगुप्त को आत्मनिवेदन व आदरसूचक भावनाएं प्रदर्शित की थीं। ये उपाधियां कुषाण सम्राटों की थी। कनिष्क, धुविष्क तथा वासुदेव इन उपलब्धियों को धारण कर चुके थे। तीसरी शताब्दी में कुषाण राज्य छिन्न–भिन्न हो गया लेकिन कनिष्क वंशज अब भी पंजाब तथा अफगानिस्तान में शासन करने वाले कुषाण देवपुत्र की उपाधि तथा अफगानिस्तान में शासन करने वाले कुषाण शाहनुशाही की उपाधि धारण करते थे। इस प्रकार देवपुत्र शाही, शाहनुशाही तीन विभिन्न उपाधियां प्रतीत होती हैं जिन्हें उत्तर पश्चिम भारत में तीन विभिन्न क्षेत्रों में शासन करने वाले कुषाण अलग–अलग धारण करते थे। किन्तु डा० भण्डारकर के विचार मे देवपुत्र एक स्वतन्त्र शब्द नहीं है देवपुत्र शाही शाहनशाही एक ही उपाधि है जो उत्तर कुषाणों की प्रिय उपाधि 'महाराज राजाधिराज की और इशारा करती है इसलिए इस उपाधि से केवल एक ही कुषाण शक्ति का बोध होता है। डा० अल्तेकर के कथनानुसार समुद्रगुप्त का समकालीन उत्तर कुषाण नरेश किदार नाम का था जो पुरुषपुर में शासन करता था। सम्भवतः इसी कुषाण शासक ने समुद्रगुप्त के पास उपहार व राजदूत भेजकर उसका कृपापात्र बनने की आकांक्षा जताई हो। डा० आर०सी० मजूमदार के विचार में किदार कुषाणों के अतिरिक्त गड़हड़ नरेश ने भी जो उत्तर पश्चिम में शासन करता था समुद्रगुप्त से मैत्री स्थापित कर ली थी।

2. **शक-मुरुण्डः** प्रयाग प्रशस्ति में शक मुरुण्ड का भी उल्लेख मिलता है। शक मुरुण्ड कौन थे? इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान शक तथा मुरुण्डों को अलग–अलग जातियों स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में यह एक ही जाति थी। शक जाति का नाम था तथा मुरुण्ड उनकी उपाधि का नाम था। लेकिन यह ठीक प्रतीत नहीं होता प्रयाग प्रशस्ति में शक तथा मुरुण्ड को अलग–अलग दिखाया गया है अतः इस पर अलग–अलग विचार कर लेना ही सही रहेगा।

शकः समुद्रगुप्त के समय ये शक क्षत्रप उज्जयनि तथा सौराष्ट्र में शासन कर रहे थे। डा० अल्तेकर के विचार उन दिनों वहां शक क्षत्रप रुद्रसेन तृतीय शासन कर रहा था और सम्भवतः इसी ने अपने शत्रुओं से सुरक्षित होने के लिए समुद्रगुप्त के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था और भेंट, पुरस्कार तथा दूत भेजकर उसका कृपा पात्र बनने का प्रयास किया था।

मुरुण्डः पुराणों में मुरुण्डों को म्लेच्छ बताया गया है। तोलमी के अनुसार समुद्रगुप्त के समय में ये लोग गंगा की घाटी में शासन कर रहे थे। मुरुण्ड पश्चिमी भारत के चाहे जिस भू भाग पर शासन करते रहे हो अन्य विदेशी शक्तियों की भांति इन लोगों ने भी समुद्रगुप्त को भेंट इत्यादि भेजे थे।

3. **सिंहल या लंका:** प्रयाग प्रशस्ति में सिंहलद्वीप अथवा लंका का भी उल्लेख मिलता है जिसके साथ समुद्रगुप्त ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया था। चीनी अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि लंका के राजा मेघवर्ण ने, जो समुद्रगुप्त का समकालीन था। दो बौद्ध भिक्षुओं को बौद्ध गया भेजा था। कहा जाता है इन भिक्षुओं को गया में कोई सुविधा नहीं मिली। अत लौटकर इन्होंने अपने राजा को यह बात बताई। इस पर मेघवर्ण ने 360 ई० में बहुमूल्य उपहारों के साथ अपना दूत समुद्रगुप्त के पास भेजा और उससे याचना की थी। बौद्ध गया में लंका से आने वाले यात्रियों के विश्राम के लिए एक मठ बनवाने की आज्ञा दी गई। समुद्रगुप्त ने मेघवर्ण की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। फलतः मेघवर्ण ने यहां एक विशाल मठ बनवाया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस मठ का दर्शन किया था।

सर्वदीप वासी: ऊपर वर्णित शक्तियों के नाम के अतिरिक्त हरिषेण ने 'सर्वदीप वासिमि' शब्द का प्रयोग किया है जिसका हम अन्य द्वीपों व निवासियों का बोध होता है। इन समस्त द्वीपों के राजाओं ने भी समुद्रगुप्त से राजनैतिक एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। कुछ विद्वानों ने इन द्वीपों का समीकरण दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपों से किया है जहां भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ था।

साम्राज्य विस्तार: अपनी विजयों के फलस्वरूप समुद्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया। इसके अन्तर्गत लगभग आधुनिक दिल्ली एवं उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल का कुछ भाग आ जाता था। इस प्रकार समुद्रगुप्त का साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्याचल तक और पूर्व में पूर्वी मालवा से लेकर पश्चिम बंगाल तक विस्तृत था। चूंकि उसकी कुछ मुद्राओं पर मकर वाहिनी गंगा तथा कर्मवाहिनी यमुना अंकित मिलता है इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि गंगा की घाटी पर भी उसके प्रत्यक्ष शासन था और यह घाटी भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थी।

उपर्युक्त साम्राज्य पर समुद्रगुप्त का प्रत्यक्ष शासन था और वह अपने द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा इनका शासन चलाता था। इस विशाल साम्राज्य के बाहर स्थित पूर्वी सीमान्त प्रदेश के पांच राजतन्त्र पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के नौ गणतन्त्र तथा दक्षिण भारत के बाहर राज्य उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे, जो कर देते थे और उसके अधिपत्य को स्वीकार करते थे। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर भारत में कुछ विदेशी शक्तियों लंका तथा कुछ द्वीपों के शासकों से उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया था।

अश्वमेघ यज्ञ: अपनी दिग्विजय के बाद समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ किया। कुछ सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे जो इस अवसर पर चलाए गये थे तथा ब्राह्मणों को प्रदान किये गये थे। इन सिक्कों पर एक वेदी के सामने बलि किए जाने वाला घोडा अंकित है और उसका मुद्रालेख है "पृथ्वी विजय के पश्चात् अजेय एवं शक्तिशाली महाराजाधिराज ने स्वर्ग विजय की"। इन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर महारानी का चित्र है तथा "अश्वमेघ–पराक्रम" मुद्रा लेख अंकित है। यह भी कहा जाता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ की प्रथा को पुनः जीवित किया क्योंकि शुंग सम्राट पुण्यमित्र के पश्चात् लगभग 400 वर्ष तक इसे त्याग दिया गया था। किन्तु यह तथ्य सत्य नहीं है इस अवधि में अनेक शासकों ने भी अवश्मेघ यज्ञ किए।

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन: समुद्रगुप्त को भारतीय इतिहास में बड़ा उच्च स्थान दिया जाता है। डा० वी०ए० स्मिथ ने समुद्रगुप्त की बहुमुखी प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है "समुद्रगुप्त अद्भुत व्यक्तिगत क्षमता का व्यक्ति था और उसमें असाधारण विभिन्न गुण विद्यमान थे। वह एक वास्तविक व्यक्ति, एक विद्वान, एक कवि, एक संगीतज्ञ तथा सेनानायक था।

डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने समुद्रगुप्त के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिख है "जब हम उसकी मुद्राओं तथा अभिलेखों का अध्ययन करते हैं तो हमारे मन में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि वह एक तेजस्वी तथा शक्तिशाली सम्राट रहा होगा जिसकी शारीरिक शक्ति ने बौद्धिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों से समन्वित होकर एक नये युग का प्रादुर्भाव किया।

डा० आर०सी० मजूमदार ने लिखा है कि समुद्रगुप्त एक प्रभावशाली व्यक्तित्व था उसने भारतीय इतिहास में एक नय युग की स्थापना की, वह एक अखिल भारतीय साम्राज्य के आदर्श से प्रेरित हुआ था। छोटे राज्यों की विनाशकारी प्रवृतियों का रोकने में समर्थ एक महान नियन्त्रण रखने की चेष्टा नहीं की क्योंकि इससे वे शत्रु बन जाते। मैत्रीपूर्ण नीति से उन्हें मोह लेने की चेष्टा की। उसने उन्हें आंतरिक स्वराज्य प्रदान किया लेकिन भारत के राजनीतिक जीवन में फुट और भेद डालने की अनुमति नहीं दी। सैनिक और राजनीतिज्ञ दोनों ही दृष्टियों से वह कुशाग्र बुद्धि था। स्मिथ का उसे भारतीय नेपोलियन कहना सर्वथा संगत है।

डा० आर०के० मुकर्जी का मत है कि "अशोक शान्ति तथा अहिंसा का प्रतीक था इसके विपरीत समुद्रगुप्त युद्ध और आक्रमण की नीति का अनुयायी था। एक को विजय से घृणा थी दूसरे को विजय से मोह था। वह आरम्भ से ही एक क्षत्रिय राजा के पुरातन

आदर्श से प्रेरित था। उसका आदर्श था देश की सीमाओं तक अपना अधिकार स्थापित करना और राजाधिराज बनना। राजा के इस आदर्श की पूर्ति में समुद्रगुप्त ने विभिन्न दिशाओं में विजय का कार्यक्रम बनाया और उसे इस प्रकार सम्पन्न किया कि उसे अब भारतीय नेपालियन कहा जाने लगा है। युद्धों के विजेता समुद्रगुप्त ने भारत के सभी भागों में विजय यात्रा करके उन्हें अपनी प्रभुता स्वीकार करने पर विवश कर दिया।

डा० उदयनारायण राय ने समुद्रगुप्त के चरित्र और समुद्रगुप्त का राज्यकाल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मधुरमय दर्शन है। उसकी विलक्षणता बहुमुखी प्रतिभा प्रशस्त गुणों से सम्पन्न एक ऐसे सम्राट का प्रतिनिधित्व करती है जो कुशल योद्धा, प्रवीण सेनापति, सफल संगठनकर्ता, काव्यप्रभी तथा संस्कृति का प्रकाण्ड उन्नायक था।

डा० आर०डी० बैनर्जी के विचार में "समुद्रगुप्त एक महान राजा था, अपने वंश में तो सबसे महान था। उसने एक छोटा सा राज्य प्राप्त किया किन्तु एक बहुत बड़े साम्राज्य को अपने उत्तराधिकारी को सौंपा। शासन तथा प्रशासन की प्रणाली को पुनर्गठित किया। सिथियन शब्द त्यागकर उसने कर्मचारी पद्धति का सुधार किया। इसके पश्चात् कर्मचारियों की श्रेणी, अनुक्रम, अधिकार और उपाधियां सर्वथा भिन्न है गोण परिवर्तनों के साथ यही प्रणाली मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत विजय तक चलती रही। नौकरशाही मौर्यो से भिन्न थी उत्तर कालीन महान कुषाणों के घटिया सोने को त्यागकर उसने शुद्ध सोने के और बढ़िया तांबे के सिक्के चलाकर मुद्रा का सुधार किया। यदि ऐलन का विचार ठीक हो तो अपने पिता की समृति में और एक और सम्बन्धी कच के नाम के सिक्के चलाकर तथा अश्वमेघ के समय उपस्थित ब्राह्मणों को वितरण के लिए एक नये प्रकार के सिक्के चलाकर उसे मुद्रा क्षेत्र में एक नये चरण का उद्घाटन किया। राजवंशी तथा उत्तरकालीन महान कुषाणों की तरह समुद्रगुप्त ने चांदी के सिक्के नहीं चलाए।"

रामगुप्त

समुद्रगुप्त के मरने के बाद उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। विशाखदत्त के नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम' से, जिसके अंश मात्र उपलब्ध हुए हैं। यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त था। रामगुप्त की पत्नी का नाम ध्रुव देवी अथवा ध्रुवस्वामिनी था। रामगुप्त बड़ा ही भीरू तथा कायर सम्राट था। कहा जाता है कि रामगुप्त का एक शक सम्राट के साथ संघर्ष हुआ था। इस युद्ध में शकों ने रामगुप्त को घेर लिया था। इस प्रकार रामगुप्त की प्रजा घोर विपत्ति में पड़ गई थी। अपनी प्रजा की सुरक्षा के लिए रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शक शासक को सौंपने का फैसला कर लिया। ध्रुवदेवी ने अपने भीरू पति का घोर विरोध किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई के इस कार्य की निन्दा की तथा घोर विरोध किया। उसने साम्राज्य की मान मर्यादा की रक्षा के लिए ध्रुवदेवी के भेष में जाकर शक राजा की हत्या कर दी। इस कार्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय अपनी प्रजा तथा ध्रुवदेवी की नजर में ऊपर उठ गया। इस घटना के बाद दोनों भाइयों में अनबन हो गयी। रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त के प्राण लेने के लिए षडयंत्र करने लगा। अतएव चन्द्रगुप्त ने आत्मरक्षा के लिए पागलपन का बहाना कर दिया। अवसर पाकर उसने रामगुप्त की हत्या कर डाली और उसकी विधवा से विवाह करके स्वयं सम्राट बन बैठा।

रामगुप्त ने किस शक राजा से युद्ध किया था वह कौन था इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है और दो प्रकार की विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। डा० राखाल दास बैनर्जी, आर०एम० दण्डेकर तथा दशरथ शर्मा आदि विद्वानों के विचार में यह शक किदार कुषाण थे। विद्वानों के अनुसार शक शब्द शतेकर जातियों के लिए प्रयोग होता था इसलिए इन लोगों का यह कहना है कि शकपति की पहचान देवपुत्र शाहा शहानुशाही से करना उचित होगा जो कुषाण शासक था। यह लोग समुद्रगुप्त के शासनकाल में पश्चिमोत्तर भारत में शासन करते थे। समुद्रगुप्त ने इन्हें नतमस्तक कर दिया था। सम्भवतः समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ा ली और रामगुप्त पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया।

किन्तु अल्तेकर इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि शकपति की पहचान किसी शक नरेश से करना ही ज्यादा उचित होगा। अपने मत के समर्थन में उसने दो तर्क दिये हैं। पहला तर्क तो यह है कि गुप्तकाल के प्रारम्भ में शक तथा कुषाण दोनों ही जातियां विद्यमान थीं। इनका दूसरा तर्क यह है कि चन्द्रगुप्त के उदयगिरी के गुफा लेख एवं चांदी के सिक्के इस बात की पुष्टि होती है कि उसने शकों का उन्मूलन किया था इसलिए रामगुप्त का विरोधी कोई शक सम्राट ही होना चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि शक नरेश भारत में किस भाग में शासन करता था भारतीय इतिहास की परम्परा से हमें ज्ञात होता है कि शकों का शासन दो स्थानों में था एक मथुरा तथा दूसरा उज्जयिनी। अतः विद्वानों का अनुमान है कि रामगुप्त का शत्रु कोई उज्जयिनी का शक सम्राट था।

इस बात को लेकर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि रामगुप्त तथा शक नरेश के बीच युद्ध कहां हुआ था। हर्षचरित के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक नरेश की हत्या अरिपुर में की थी। जालधर दोआब के पर्वतीय प्रदेश में था। इस ग्राम का प्राचीन नाम अलीवाल था। इसलिए डा० के०पी० जायसवाल का मत है यह युद्ध यही अलीवाल या इसके निकट हुआ होगा। हर्षचरित की एक अन्य प्रति में अरिपुर के स्थान पर नलिनपुर लिखा है अतः मिराशी महोदय ने नलिनपुर को ही युद्ध स्थल माना है जो जलालाबाद के पश्चिम में स्थित है।

भोज के श्रगार प्रकाश नामक ग्रंथ में अरीपुर के स्थान पर ही अलीपुर का उल्लेख मिलता है सम्भवतः अलीपुर अरिपुर का ही रूपान्तरण है। अतएव जालन्धर के समीप अलीपुर ही युद्ध स्थल प्रतीत होता है।

डा० भण्डारकर ने काव्य मीमांसा के आधार पर हिमाचल प्रदेश में स्थित कार्तिकेय नगर की युद्ध स्थल निर्धारित किया है। यह स्थान कार्तिकेयपुर के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है और अल्मोड़ा जिले के बैजनाथ ग्राम के पास विद्यमान है। चूंकि मजमुल–अल–तवारीख के अनुसार युद्ध स्थल किसी पर्वतीय प्रदेश में विद्यमान था अतः कार्तिकेपुर को ही युद्ध स्थल मानना अधिक उचित होगा

क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने बड़े भाई की पत्नी ध्रुव देवी से विवाह किया था। इस प्रश्न को लेकर भी विद्वानों मे बड़ा मतभेद है कुछ विद्वानों की यह धारणा रही है कि उसने ध्रुव देवी के साथ विवाह नहीं किया। परन्तु अब इस मत को निम्न ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निर्मूल साबित कर दिया गया है।

देवी चन्द्रगुप्तम् तथा शंकराचार्य की टीका से यह साबित होता है कि ध्रुवदेवी रामगुप्त की पत्नी थी। साथ ही गुप्त लेखों तथा मुद्राओं से ज्ञात होता है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की भी पत्नी थी। इसलिए इस बात में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के साथ विवाह नहीं किया।

मजमुल–उल–तवारीख से हमें ज्ञात होता है कि बरभमारीस ने रब्बाल की हत्या के पश्चात् उसकी विधवा स्त्री से विवाह कर लिया था। क्योंकि मजभुल–उल–तवारिख व देवी चन्द्रगुप्तम का कथानक एक ही है। इसलिए इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने रामगुप्त की विधवा से विवाह कर लिया था।

संजन के ताम्र लेख में भी एक गुप्त नरेश द्वारा भाई के राज्य तथा भार्या दोनों के अपहरण का वर्णन मिलता है यह गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ही हो सकता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने रामगुप्त की विधवा से विवाह किया था

रामगुप्त की ऐतिहासिकता की समस्या

इस बात को लेकर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि क्या रामगुप्त कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था या साहित्यकारों की कल्पना का पात्र था। जो विद्वान रामगुप्त को ऐतिहासिक नहीं मानते वे अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क देते हैं।

1. सर्वप्रथम तो रामगुप्त की कोई भी स्वर्ण मुद्रा उपलब्ध नहीं है।
2. रामगुप्त की किसी भी मुद्रा पर उसका चित्र नहीं मिलता है जबकि बाकी गुप्त साम्राटों ने अपने चित्र अपनी मुद्राओं पर उत्कीर्ण करवाए थे।
3. रामगुप्त की ताम्र मुद्राओं उसके भिन्न–भिन्न नाम प्राप्त होते हैं अर्थात् राम, भगज, भगत, भग्र एवं भग आदि। इससे ये मुद्राएं विभिन्न राजाओं की हो सकती है। ये नाम प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण हैं।
4. मुद्राओं के आकार प्रकार भिन्न–भिन्न हैं इनमें एकरूपता नहीं है।
5. रामगुप्त की ताम्बे की मुद्राओं का चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनुकरण नहीं किया। उसके द्वारा चलाई गई नौ प्रकार की मुद्राओं में कोई भी रामगुप्त की मुद्रा जैसी नहीं है। यह एक अस्वाभाविक तथ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामगुप्त सम्राट नहीं था। विद्वानों का अनुमान है कि ये ताम्र मुद्राएं मालवा के किसी रामगुप्त नामक स्थानीय शासक की हैं।
6. रामगुप्त का नाम गुप्त वंशावली में नहीं मिलता।
7. रामगुप्त के शत्रु शक नरेश को इतना ताकतवर व रामगुप्त को इतना निर्बल स्वीकार करना कठिन है।

8. किसी विदेशी आक्रमणकारी को अपनी स्त्री सौंपने को तैयार होना और जनमत द्वारा इस घृणित कार्य का समर्थन होना गौरवमयी गुप्तकाल के लिए नितांत अस्वाभाविक व अविश्वसनीय है।

9. चन्द्रगुप्त जैसे महान सम्राट, उदार, गुणवान एवं आदर्श व्यक्ति के सम्बन्ध में यह बात असत्य प्रतीत होती है कि उसने अपने भाई का वध करके सिंहासन प्राप्त किया हो।

जो विद्वान रामगुप्त की ऐतिहासिकता में संदेह नहीं करते तथा समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के मध्य का शासक मानते हैं वे अपने समर्थन में निम्न तर्क देते हैं।

1. रामगुप्त का शासन काल अत्यन्त लघु था। विद्वानों के मतानुसार उसने सम्भवतः एक वर्ष की अवधि तक ही शासन किया था। उसका यह एक वर्ष का काल भी निरापद नहीं था। इस अशांतिपूर्ण युद्ध तथा पराजय के काल में यदि उसने स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन करवाने में अपने को अक्षम पाया हो तो इसमें अस्वाभाविक बात नहीं है। मुद्राएं अब तक प्राप्त न हुई हों अथवा वे नष्ट हो गई हो।

2. मुद्राओं पर रामगुप्त का चित्र न मिलना आकस्मिक है और यह स्थानीय मुद्राकारों की भूल भी हो सकती है।

3. रामगुप्त की मुद्राओं पर प्राकृत नाम का होना भी स्थानीय मुद्राकला की विशेषता है एवं क्षेत्रीय भाषा का प्रभाव है।

4. अनेक मुद्राशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी मुद्राओं में कोई भौतिक अन्तर नहीं है।

5. जहां तक रामगुप्त के मालवा का शासक होने की बात है मालवा की किसी वंशावली के उसका नाम प्राप्त नहीं होता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा के आकार प्रकार लेख, सिंह, चक्र और गरुड़ ध्वज आदि के चित्र रामगुप्त को गुप्तवंशीय नरेश ही सिद्ध करते हैं।

6. गुप्त वंशावलियों में रामगुप्त का नाम न होने का एक विशेष कारण है। भारतीय अभिलेख परम्परा में केवल मूल वंश वृक्ष का ही उल्लेख होता है। इस प्रकार राजा अपने पितामह एवं पिता के नामों का तो उल्लेख कर पाता था परन्तु अपने भाइयों का उल्लेख नहीं करता था।

7. किसी का निर्बल या सबल होना मात्र पूर्वजों पर ही आधारित नहीं होता। समुद्रगुप्त की शक्ति से भयभीत शक शासक यदि रामगुप्त के काल में पुनः शक्तिशाली हो उठा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

8. किसी काल के गौरव एवं गरीमा का संरक्षण प्रत्येक व्यक्ति करेगा यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। रामगुप्त की कायर पुरुषता के कारण गौरवशाली मर्यादाएं भंग हो सकती थी। जहां तक जनमत के समर्थन का प्रश्न है देवी चन्द्रगुप्तम से स्पष्ट है कि रामगुप्त ने घृणित कार्य परामर्श दाताओं के आश्वासन से ही किया था।

9. नारद समृति के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पति की मृत्यु के बाद विधवा विवाह निषेध नहीं है।

10. चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त की हत्या का कार्य घृणित हो सकता है किन्तु यह अविश्वसनीय व असत्य नहीं है। उसकी हत्या के दो कारण सम्भव हैं। प्रथम तो यह कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त जैसे कायर नरेश का वध देश एवं संस्कृति की रक्षा के लिए किया है दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के प्रति आकर्षित रहा हो।

ऊपर वर्णित तर्कों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रामगुप्त एक ऐतिहासिक व्यक्ति था और उसने समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के मध्य एक वर्ष तक शासन किया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त का पुत्र था। एरण अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र तथा पौत्र थे। यद्यपि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे किन्तु हमें केवल दो ही नाम उपलब्ध होते हैं। एक था रामगुप्त तथा दूसरा था चन्द्रगुप्त छोटा पुत्र था। गुप्त अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की माता का नाम दत देवी था। चन्द्रगुप्त ने अपने भाई की विधवा ध्रुवदेवी के साथ विवाह कर लिया था और उसके दो पुत्र हुए थे। एक का नाम था कुमारगुप्त और दूसरे का गोविन्दगुप्त। चन्द्रगुप्त की एक और पत्नी थी जिसका नाम कुबेर नागा था जो सम्भवतः नागवंश की राजकुमारी थी। कुबेर नागा से केवल एक पुत्री उत्पन्न हुई थी जिसका नाम प्रभावती गुप्त था जो वाकाटक नरेश रुद्रसेन से ब्याही गई थी।

गुप्त अभिलेखों में चन्द्रगुप्त को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। कांची अभिलेख में वह देवराज के नाम से पुकारा गया है वहीं वाकाटक अभिलेख में उसे देवगुप्त कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त उसका वास्तविक नाम था और देवराज व देवगुप्त उसकी उपाधियां थीं। चन्द्रगुप्त इतना प्रतापी और पराक्रमी सम्राट था कि उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी यही कारण है कि इतिहास में उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नाम से जाना जाता है। उसकी एक अन्य उपाधि महाराजाधिराज की है, जिसे उसके पूर्वजों ने भी धारण किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय को नरेन्द्र चन्द्र सिंह, चन्द्रासिंह, विक्रम व देवश्री भी कहा जाता है

वैवाहिक सम्बन्धः गुप्त वंश के शासकों की विदेश नीति में वैवाहिक सम्बन्धों का बड़ा महत्व है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवी वंश के शासकों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति बढ़ाई थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध से गुप्तो की धाक जम गयी थी

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी इस नीति का अनुसरण किया। उसने अनेक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए जिससे उसको अपनी परिस्थिति को सुधारने, अपनी शक्ति में वृद्धि करने तथा शत्रुओं को हराने में सहायता मिली।

नागवंश के साथ सम्बन्धः पूना और रुद्रपुर के ताम्रपत्र लेखों से हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंश की राजकुमारी कुबेर नागा के साथ विवाह किया था। नागवंश की अनेक शाखाएं थीं जो भारतवर्ष के विभिन्न भागों में शासन कर रही थी। ये लोग वंशीय शासक गुप्त वंश के साथ शत्रु भाव रखते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नागा के साथ विवाह करके इन्हें अपना भी बना लिया। डा० आर०सी० मजूमदार के अनुसार इस सम्बन्ध के कारण गुप्त नरेश को अपनी नवस्थापित सार्वभौमिकता को सुदृढ़ करने में सहायता मिली।

ध्रुवदेवी के साथ विवाहः विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त की हत्या करके उसकी विधवा पत्नी ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया था। इस विषय पर हम पूर्व पृष्ठों में लिख चुके हैं।

वाकाटक वंश के साथ सम्बन्धः चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह, जो कुबेर नागा से उत्पन्न हुई थी, वाकाटक नरेश रुद्रसेन के साथ कर दिया। वाकाटक वंश तत्कालीन भारत का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण राजवंश था। इस राजवंश ने दक्षिण पश्चिमी भारत में बड़े ही शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। इसी राज्य के पड़ोस में मालवा गुजरात तथा काठियावाड में शक लोग राज कर रहे थे। जो विदेशी थे और बर्बर माने जाते थे। इस प्रकार वाकाटक साम्राज्य की स्थिति बड़ी ही महत्वपूर्ण थी। डा० अल्तेकर का मत है कि वाकाटक महाराज की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि उत्तर दिशा से आने वाले गुजरात और सौराष्ट्र के पश्चिमी क्षत्रप के आक्रमण धारियों के लिए यह पर्याप्त सेवा या अपसेवा कर सकता था। चन्द्रगुप्त ने बहुत बुद्धिमता व सावधानी के रूप में अपनी पुत्री वाकाटक शासक को दे दी और इस प्रकार उसकी अधिनस्थ मैत्री स्थापित कर ली। डा० रमाशंकर त्रिपाटी ने इस महत्व को बतलाते हुए लिखा है "यह विवाह सम्बन्ध कूटनीतिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्व रखता है क्योंकि वाकाटक महाराज की ऐसी भौगोलिक स्थिति थी कि वह शक क्षत्रप पर आक्रमण करने वाले किसी उत्तरी नरेश के लिए बहुत बड़ा लाभ अथवा बहुत बड़ी हानि पहुंच सकते थे।"

रुद्रसेन द्वितीय का राज्यकाल बहुत छोटा था और उसकी मृत्यु के पश्चात प्रभावती गुप्त को उसके अव्यस्क पुत्रों दिवाकरसेन तथा प्रवर सेन द्वितीय की संरक्षिका नियुक्त कर दिया गया। इससे वाकाटक दरबार में गुप्त सम्राट का प्रभाव बढ़ गया। लगभग 380 से 410 ई० तक प्रभावती गुप्त ही वाकाटक राज्य की शासक थी। इस अवसर का लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी क्षत्रपों को परास्त करके उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

कुन्तल के कादम्ब शासक काकुत्स्यवर्मा के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसकी पुत्रियों के विवाह गुप्त शासकों से हुए थे। नाटक तथा क्षेमेन्द्र ने कहा कि विक्रमादित्य ने एक दूत मण्डल कुन्त भेजा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयेंः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और अपने साम्राज्य की सीमा को बढ़ाया:

1. **शक विजयः** इन दिनों शक पश्चिमी भारत अर्थात मालवा, गुजरात तथा काठियावाड में शासन कर रहे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों के साथ युद्ध किया। उदयगिरी तथा सांची के अभिलेखों से हमें इस युद्ध के अभियान आयास मिल जाता है जो अपने शक शक्ति के उन्मूलन के लिए चलाया था। उसने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विशाल सेना संगठित की और पूर्वी मालवा को जो उसके अधिकार में था, इस युद्ध का आधार बनाया और अपने संधि विग्रहक मन्त्री वीरसेन तथा एक विशाल

सेना को लेकर यहीं पर अपना शिविर डाल लिया। उदयगिरी का वैपणव लेख से हमें ज्ञात होता है कि उन दिनों पूर्वी मालवा में सनकानिक महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामंत के रूप में शासन कर रहा था। सांची के अभिलेख से हमें सूचना मिलती है कि आम्रकादिव नामक पदाधिकारी भी यहां विद्यमान था जिसने कई युद्धों में विजय तथा यश प्राप्त किया था।

न केवल अभिलेखों से बल्कि मुद्रा साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों के विरूद्ध अभियान चलाया था। चन्द्रगुप्त जो चांदी की मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं उनमें और शक मुद्राओं में बड़ी समानता है, दोनों का वजन लगभग एक जैसा है। जिस पर शक मुद्राओं के मुख भाग पर सम्राट का ऊपरी अर्धशरीर तथा शक संवत अंकित रहता है तथा पृष्ठ भाग पर चैत्य अंकित मिलता है। ठीक उसी प्रकार चन्द्रगुप्त की रजत मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर गरुड़ अंकित रहता है। इस समानता के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक राज्य पर अवश्य विजय प्राप्त की होगी। क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार जब कोई सम्राट किसी नये भूभाग पर विजय प्राप्त कर लेता था तो वहां प्रचलित मुद्राओं के आधार पर अपनी मुद्राओं का प्रचलन करता था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की 'सिंह निहन्ता' प्रकार की मुद्राओं से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उसने शक जाति का उन्मूलन किया था। अपनी सिंह निहन्ता मुद्राओं से उसे सिंह का शिकार करते दिखाया गया है। डा० आर०सी० मजूमदार ने विद्वानों का ध्यान इन सिंह निहन्ता मुद्राओं की ओर दिलाया है। जिस प्रकार समुद्रगुप्त ने आटविक प्रदेश पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त 'व्याघ्रहन्ता' की मुद्राएं चलाई थी क्योंकि उस प्रदेश में बाघों का बाहुल्य था। ठीक उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी ऐसे प्रदेश पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त सिंह निहन्ता की मुद्राएं चलाई थी जहां पर सिंहों का बाहुल्य रहा होगा। डा० मजूमदार के विचार में ऐसा प्रदेश गुजरात था जो शकों के अधीन था। इस प्रकार सिंह निहन्ता मुद्राओं से यही निष्कर्ष निकालता है कि उसने शकों से युद्ध किया था और उन्हें परास्त कर गुजरात पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के पश्चात उसने सिंह निहन्ता मुद्राओं का प्रचलन करवाया था।

इस विजय की तिथि क्या थी इस पर भी विद्वानों का मतभेद है। इस समस्या का अब तक समाधान नहीं हो सका है हालांकि विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास अवश्य किया है। प्रथम प्रयास शक नरेश रूद्रसिंह तृतीय की अन्तिम मुद्राओं के आधार पर किया गया है। यह पश्चिम भारत का अन्तिम शक नरेश था। उसकी अन्तिम मुद्राओं पर जो तिथि मिलती है वह तीन अंकों की है। उसकी सैकड़े की संख्या तीन और दहाई की संख्या एक है किन्तु इकाई की संख्या मिट गई है जो शून्य से लेकर नौ तक की संख्या हो सकती है इसलिए इसकी अनुमानित तिथि 310 से लेकर 319 तक हो सकती है। यह संवत की तिथि है जिसका समीकरण संवत 388 से 397 तक के साथ किया जा सकता है।

दूसरा प्रयास चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा चलाई गई रजत मुद्राओं के आधार पर किया गया है। इन मुद्राओं को उसने शक विजय उपलक्ष्य में चलाया था। इन पर केवल दो संख्याओं की तिथि अंकित है। इनमें से दहाई की संख्या तो नौ है पर इकाई की संख्या मिट गयी है जो शून्य से लेकर नौ तक हो सकती है अर्थात ये मुद्राएं 90 से लेकर 99 तक कभी भी चलाई गई होगी। यह गुप्त संवत की तिथि है जिसका समीकरण ई० संवत 409 से 418 तक हो सकता है परन्तु 411 ई० में चन्द्रगुप्त का देहान्त हो गया अतः शक विजय इससे पूर्व हुई।

शक विजय चन्द्रगुप्त की एक महान उपलब्धि थी इसके महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े। इस विजय का राजनीतिक प्रभाव यह पड़ा था कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की सत्ता मालवा, गुजरात तथा काठियावाड तक विस्तृत हो गयी। अब उसकी राज्य सीमा का विस्तार पश्चिम अरब सागर से लेकर पूर्व में बंगाल तक हो गया।

राजनीतिक ही नहीं आर्थिक तथा व्यापारिक दृष्टिकोण से भी शक विजय का बहुत महत्व है। इस विजय के बाद गुजरात तथा मालवा के दो बड़े उपजाऊ प्रांतों पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। इसके कर से उसके कोष में वृद्धि हो गयी होगी तथा साम्राज्य को आर्थिक सुदृढता मिली होगी। इस विजय भृगुकच्छ अथवा भडोच के बन्दरगाह पर भी इसका प्रभाव स्थापित हो गया। इस बन्दरगाह का व्यापारिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्व रहा है क्योंकि यह आयात निर्यात का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहां से रोम को विलासता की वस्तुएं भेजी जाती थी और वहां से सुवर्ण मुद्राएं भारत को प्राप्त होती थी। अतः इस बन्दरगाह के प्राप्त होने से गुप्त साम्राज्य के बाह्य व्यापार में बहुत वृद्धि हुई।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी इस विजय का महत्व कम नही है। पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण

भारत का उनके साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। गार्गी संहिता में कहा गया है कि यवन लोग बर्बर थे परन्तु ज्योतिष शास्त्र का जन्म उनसे हुआ है अतएव पूजनीय है यहां यवनों से तात्पर्य यूनानियों से है। इस प्रकार ज्यातिष शास्त्र का ज्ञान भारतीयों को यूनानियों से प्राप्त हुआ।

वाह्लीक अथवा उत्तर कुषाणों पर विजयः विद्वानों ने महरोली स्तम्भ लेख के चन्द्र का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय से किया है। इस अभिलेख के अनुसार चन्द्र नामक सम्राट ने वाह्लीक पर अपनी विजय पताका फहराई थी। वाह्लीक का तात्पर्य बैक्ट्रीरिया अथवा बलख विजय से नहीं है वरन् इसका तात्पर्य वाह्लीक नामक जाति से है जो एक शक्तिशाली जाति के रूप में भारत में शासन कर रही थी। सम्भवतः वाह्लीक का तात्पर्य उत्तरकालीन कुषाणों से है। इन्हीं उत्तरकालीन कुषाणों को प्रयाग प्रशस्ति में देवपुत्र शाहि शाहनुशाही नाम से पुकारा गया है क्योंकि कुषाण वंश के सम्राट इस समय बलख अथवा बैक्टीरिया में शासन कर रहे थे अतएव उत्तरकालीन कुषाणों को वाह्लीक के नाम से पुकारा जाने लगा। डा० भण्डारकर, डा० दिनेशचन्द्र सरकार और दशरथ शर्मा ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि पंजाब का वह भूभाग जो व्यास नदी के दोनों तटों के समीप था वाह्लीक प्रदेश कहलाता था और यहीं इसी पर चन्द्रगुप्त ने विजय प्राप्त की थी।

इस विजय के दो सम्भावित मार्ग हो सकते हैं। शक विजय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय का सिन्धु के मुहान पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इसलिए इसी मार्ग से पंजाब की नदियों को पार कर बाह्लीक पहुंच सकता था। महरोली स्तम्भ लेख से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है क्योंकि इसमें उत्कीर्ण मिलता है कि चन्द्र नामक नरेश ने सिन्धु से सात मुखों को पार कर वाह्लीक विजय की थी। यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि पंजाब का प्राचीन नाम सप्त सिन्धु था। क्योंकि आधुनिक काल की पांच नदियों के अतिरिक्त सरस्वती तथा हृशद्वती नामक दो नदियां भी इसी भू भाग में बहती थीं।

दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि आधुनिक दिल्ली के मार्ग से वाह्लीक प्रदेश में पहुंचा होगा।

वंग विजयः समुद्रगुप्त के समय में पश्चिमी बंगाल का वह भाग जो आधुनिक बाकुडा जिले के अन्तर्गत आता है, उसके अधिकार में था परन्तु उत्तर पूर्वी बंगाल गुप्त साम्राज्य से बाहर था जिस पर विजय प्राप्त करना आवश्यक था। यद्यपि चन्द्रगुप्त द्वितीय का कोई अभिलेख पूर्वी बंगाल में उपलब्ध नहीं था किन्तु उसके पुत्र कुमार गुप्त प्रथम का अभिलेख इस भू भाग से प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि गुप्त शासन यहां पर स्थापित हो गया होगा। इस आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि उत्तर पूर्वी बंगाल पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही विजय प्राप्त की होगी।

गणराज्यों का विनाशः प्रयाग प्रशस्ति में यह बताया गया था कि पश्मिोतर प्रदेश के गणराज्यों ने भयभीत होकर समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी परन्तु उसने इन गणराज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था। यद्यपि ये गणराज्य स्वतन्त्रता के बड़े प्रेमी थे परन्तु विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा करने की अब इनमें शक्ति नहीं थी। इस स्थिति का लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने इन पर आक्रमण कर दिया और उन पर विजय प्राप्त करके उनके अस्तित्व को समाप्त कर दिया।

दक्षिणापथ पर पुनः विजयः विद्वानों की यह धारणा है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिणा पथ पर पुनः विजय प्राप्त करके गुप्त वंश के प्रभुत्व की स्थापना की थी। इन विद्वानों का विचार है कि सम्भवतः रामगुप्त के शासन काल में दक्षिण राज्यों ने गुप्तों के अनुशासन से मुक्त होने का प्रयास किया था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने अपने बल से फिर वहां अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह अनुमान महरोली के स्तम्भ लेख की उस उक्ति पर आधारित है कि "चन्द्र के प्रताप से दक्षिण सागर सुगन्धित हो उठा"। परन्तु डा० सदर नारायण राय ने इस मत का विरोध करते हुए लिखा है कि महरोली के स्तम्भ लेख से यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण भारत में अपना कोई सैनिक अभियान किया था" जब तक कि इस सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध न हो। उसका साम्राज्य अरब सागर और बंगाल की खाड़ी को छूता था और सम्भव है कि महरोली लेख का संकेत इस तथ्य की ओर हो।

साम्राज्य विस्तारः चन्द्रगुप्त द्वितीय के पिता समुद्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीतियों का अनुशरण करके पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही दिशाओं में उस साम्राज्य को अत्याधिक विस्तृत कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह बड़े विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया। उसका साम्राज्य पश्चिम बंगाल से लेकर पूर्व में बंगाल तक और उत्तर में काश्मीर की दक्षिण सीमा से लेकर दक्षिण पश्चिम में गुजरात और काठियावाड तक विस्तृत था। दक्षिण में उसके प्रत्यक्ष शासन विंध्य प्रदेश तक विस्तृत था और उसके दक्षिण का प्रदेश जो कावेरी नदी तक विस्तृत था उसके प्रभाव क्षेत्र में आता

था। इतना ही नहीं अपने दामाद रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात कावाटक वंश के शासन को भी उसने अपने हाथों में ले लिया और लगभग दस वर्षो तक अपनी विधवा पुत्री प्रभावती गुप्त के प्रतिनिधि के रूप में शासन को संचालित करता रहा। इस प्रकार वाकाटक राज्य पर भी गुप्तो का प्रभाव स्थापित हो गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्यांकनः डा० राय चौधरी का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक श्रेष्ठ शासक था। वह स्वयं वैष्णव था लेकिन दूसरे समुदायों के अनुयायियों को भी उसने राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त किया। उसका सेनानी आम्राकाद्दव सम्भवतः बौद्ध था। उसका युद्ध तथा शांति मंत्री वीरसेन और मंत्री शिखर स्वामी शिव के उपासक थे।

डा० स्मिथ ने माना है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक सशक्त और प्रचण्ड शासक था और एक विस्तृत साम्राज्य की वृद्धि और उसके प्रशासन के सुयोग्य था। वह बड़ी–बड़ी उपाधियों का इच्छुक था जिनसे उसकी वीरता तथा पराक्रम का परिचय मिलता है। एक शेर के साथ सफलतापूर्वक लड़ते हुए अपना चित्र उसने अपने चिक्कों पर अंकित करवाया।

डा० मजूमदार का विचार है कि समुद्रगुप्त ने विजय मार्ग आरम्भ किया और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे सम्पूर्ण किया। साम्राज्य की रूपरेखा में उसने केवल सीमावर्ती जातिय राज्यों तथा राजतंत्रों को ही विलीन नहीं किया बल्कि शकों और कुषाणों के राज्यों को भी साथ मिला लिया। "शान्तिमय और सुगठित विशाल साम्राज्य जो उसने अपने उत्तराधिकारी को सौंपा यह एक महान सेनानी और सुयोग्य राजनीतिज्ञ के दो नहीं, एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के प्रयत्नों को भी परिणाम था। यदि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भविष्य की पीढ़ियों ने स्मरण रखा और उसके अधिक प्रभावशाली पिता को विस्मृत कर दिया तो इसका कारण ढूंढना कठिन नहीं है। सम्पूर्ण किए गए स्मारक का लोगों पर अधिक प्रभाव पड़ता है और योजना बनाने वाले और सतत परिश्रम से नीव रखने वाले मुख्य निर्माता को भूलकर वे उसे सम्पूर्ण करने वाले को अधिक श्रेय प्रदान करते हैं। सौ युद्धों के विजेता समुद्रगुप्त इतिहास का नायक है। राजनीतिक महत्ता और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के पुत्र को सम्पूर्ण करने वाला चन्द्रगुप्त द्वितीय अपनी प्रजा के हृदयों से भी स्थान प्राप्त करने में विजयी हुआ।"

प्रो० आर०डी० बैनर्जी ने लिखा है "वंश के तीसरे सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता से मिले हुए राज्य को एक साम्राज्य का रूप दिया। पंजाब और पश्चिमी भारत के सिथियनों को समाप्त करके वह उत्तरी भारत का वास्तविक स्वामी बन गया। अपनी मृत्यु के समय निःसंदेह वह भारत का सर्वोच्च शासक था। वाकाटकों के साथ विवाह संधि करके उसने भारत की एकमात्र प्रतिद्वंदी शक्ति को तटस्थ कर दिया। सभी महान शासकों की तरह वह भी पूर्णतः विवेक रहित था। उसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसने अपने बड़े भाई रामगुप्त का वध किया। अकबर और शिवाजी की तरह वह भी इतना साहसी था कि उसे उदण्ड कहा जा सकता था। जैसा कि इस बात से सिद्ध होता है कि चुने हुए सहकारियों के दल के साथ भेष बदलकर सिथियन राजा के शिविर में उसने वीरतापूर्ण कार्य किया। वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति और श्रेष्ठ सेनानी था, इसलिए गुजरात और काठियावाड को भी मिलाने में सफ़ल हो गया।"

कुमारगुप्त प्रथम

विलसद के अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त तथा महादेवी ध्रुवस्वामिनी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। वैशाली की मुद्रा से यह ज्ञात होता है कि उसका कोई छोटा भाई भी था जिसका नाम गोविन्द गुप्त था। जो उसके पिता के शासन काल में वैशाली अर्थात उत्तरी बिहार में शासन कर रहा था और जो कुमारगुप्त के काल में पश्चिमी मालवा का राज्यपाल बन गया था। भितरी के मुद्रा लेख में कुमारगुप्त की पत्नी का नाम अनन्तदेवी मिलता है। जिससे उनका पुरूगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था तथा जिसका नाम भितरी के स्तम्भ लेख में अंकित मिलता है। कुमारगुप्त के सबसे बड़े पुत्र का नाम स्कन्धगुप्त था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि स्कन्धगुप्त अपने पिता कुमारगुप्त की देवकी नामक पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। परन्तु यह धारण सत्य पर आधारित प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस अभिलेख में देवकी शब्द का प्रयोग कृष्ण की माता के लिए किया गया है। सम्भवतः कुमारगुप्त के एक पुत्र का नाम घटोत्कच भी था जिसका उल्लेख तुमेन के अभिलेख में मिलता है।

कुमार गुप्त की जो विभिन्न प्रकार की मुद्राएं उपलब्ध हैं उन पर उसकी विभिन्न प्रकार की उपाधियां उत्कीर्ण मिलती है जैसे श्रीमहेन्द्र, अश्वमेघ महेन्द्र, सिंह महेन्द्र, क्षितिपतिरजित महेन्द्र, श्री महेन्द्रा दिव्या, महेन्द्रकल्प, महेन्द्र कुमार, श्री प्रताप, सिंह विक्रम, व्याघ्र बल, महाराजाधिराज आदि।

सिंहासनारोहण एवं शासन कालः कुमारगुप्त के सिंहासनारोहण के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु 412 ई० में हो गयी थी तभी वह सिंहासनारूढ़ हो गया किन्तु अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि कुमार गुप्त के शासन की प्रथम तिथि गुप्त संवत 96 तदनुसार संवत 415 ई० मिली है। इन

विद्वानों का विचार है कि 412 और 415 में इसके बड़े भाई गोविन्द गुप्त ने शासन किया था और उसका परास्त करने के [illegible] ही कुमार गुप्त सिंहासन पर बैठा था।

कुमार गुप्त के प्रथम लेखों से यही ज्ञात होता है कि उसके शासन काल का प्रथम चरण सुख शांति और सम्पन्नता [illegible] और उसे किसी प्रकार के बाह्य आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ा। बिलसद के अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि [illegible] शासन काल के प्रारम्भिक वर्ष समृद्धता और ऐश्वर्य के वर्ष थे। इसमें स्वामी कार्तिकेय के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख भी मिलता है तथा [illegible] शोभा तथा अलंकारिकता का बडा ही अलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है। उसके गडवा के दानों लेखों से [illegible] मिलता है जिससे यह आभास होता है कि जनता सम्पन्न थी और बड़ी ही उदारता से मन्दिरों, मठों व विहारों को दान दिए [illegible]

उपर्युक्त लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुमार गुप्त के काल के प्रारम्भिक वर्ष शक्ति के [illegible] ने सार्वजनिक हित के अनेक कार्य किए और धार्मिक कृत्यों में भी वह अपना समय व्यतीत करता था।

यद्यपि कुमार गुप्त के शासन काल का प्रथम चरण सुख एवं शान्ति का काल था परन्तु उसका अन्तिम चरण घोर आपत्ति [illegible] संकट का काल था। इन दिनों सम्राट वृद्ध हो चला था और उसमें बाह्य आक्रमणों का सामना करने का सामर्थ्य नहीं [illegible] यह भार स्कन्ध गुप्त के कंधों पर पडा। स्कन्ध गुप्त के काल के भीतरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमार गुप्त [illegible] के अन्तिम चरण में पुष्यमित्र नामक एक जाति ने गुप्त साम्राज्य पर एक भयंकर आक्रमण कर दिया। इस जाति के पास [illegible] सेना और प्रचुर मात्रा में धन विद्यमान था। इस भयंकर आक्रमण से गुप्त साम्राज्य के लोग विचलित हो उठे। परन्तु राजकुमार स्कन्द गुप्त ने बड़ी वीरता तथा साहस से उनका सामना किया और उन्हें युद्ध में हरा दिया। यद्यपि राजकुमार को युद्ध में विजय प्राप्त हुई परन्तु उसे भयंकर कष्ट उठाने पड़े। पुष्य मित्रों के इस आक्रमण को रोकने के लिए उसे सम्पूर्ण रात्रि रणक्षेत्र में ही व्यतीत करनी पड़ी थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारगुप्त के शासन काल के अन्तिम वर्षो में पुष्य मित्रों के भयंकर आक्रमण का सामना करना पड़ा था। परन्तु ये पुष्यमित्र कौन थे? यह भी इतिहास की एक जटिल पहेली है और भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत दिए हैं।

फ्लीट महोदय का अनुमान है कि पुष्यमित्र जाति के लोग नर्मदा नदी के तट पर कहीं निवास करते थे और उनकी शासन [illegible] गणतन्त्रात्मक थी।

फ्लीट के इस मत का समर्थन पुराणों से भी हो जाता है। पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र नर्मदा नदी के समीप मेकला में शासन [illegible] थे। अमर कण्टक पर्वत निकटवर्ती प्रदेश को मेकला कहा जाता था चूंकि नर्मदा नदी अमरकटक से निकलती है अत [illegible] सुता भी कहते हैं। इसलिए डा० राय चौधरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पुण्यमित्र जाति के लोग महिष्मती के नगर से नर्मदा [illegible] तक के सारे प्रदेश के स्वामी थ।

डा० वी०ए० स्मिथ का मत है कि पुष्यमित्र जाति के लोग भारत के पश्चिमोतर प्रदेश में निवास करते थे। इनका कहना है कि [illegible] में पुष्यमित्रों तथा वाह्लीकों का उल्लेख मिलता है चूंकि वाह्लीक लोग पश्चिमोतर भारत से बाहर बल्ख प्रदेश में निवास करते थे। अतः यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि पुष्यमित्र जाति के लोग भी पश्चिमोतर भारत में निवास करते थे। परन्तु स्मिथ के इस मत को मानने में सबसे बडी कठिनाई यह है कि किसी भी साक्ष्य से यह आभास नहीं होता कि पश्चिमोतर भारत में निवास करने वाली अनेक जातियों में पुष्यमित्र नाम की भी कोई जाति थी।

मिराशी महोदय के विचार में पुष्यमित्र जाति मध्य भारत में निवास करती थी। इनके विचार में मध्य भारत में भी बल्ख को [illegible] स्थान था। वाह्लीक शब्द का प्रयोग बल्ख के लिये किया जाता है क्योंकि पुराणों में वाह्लीकों के साथ-साथ पुष्यमित्रों का [illegible] उल्लेख मिलता है अतएव पुष्यमित्र जाति के लिए कहीं मध्य भारत में ही निवास करते रहे होंगे। क्योंकि अनेक स्थानों पर [illegible] का उल्लेख वाकाटक तथा मेकलों के साथ लिया जाता है ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग कहीं दक्षिण भारत में [illegible] इस बात से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि फ्लीट तथा मिराशी के मतों में पुष्यमित्र जाति का निवास स्थान [illegible] विशेष अन्तर नहीं है यद्यपि दोनों के तर्क भिन्न-भिन्न हैं तथापि दोनों का निष्कर्ष लगभग एक ही है।

डा० एन०के० भट्टशाली का मत है कि पुष्यमित्र जाति के लोग कामरूप प्रदेश के निवासी थे। उनके विचार से पुष्यमित्र [illegible]

के राजा पुण्यवर्मन के वंशज थे। उनका कहना है कि कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम चरण में पुष्यमित्रों का राजा महेन्द्रवर्मन बड़ा ही शक्तिशाली हो गया था और कुमारगुप्त और उसके पुत्र स्कन्धगुप्त को उसी के साथ लोहा लेना पड़ा था। परन्तु भट्टशाली महोदय का यह मत भी ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पुष्यमित्र लोग कामरूप के राजा पुष्यवर्मन के वंशज थे। इसके अतिरिक्त इस मत को ग्रहण करने में एक कठिनाई यह भी है कि इस बात का कोई भी साक्ष्य नहीं है कि इस वंश का नरेश महेन्द्र वर्मन कुमार गुप्त तथा स्कन्धगुप्त का समकालीन या ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाना कठिन है कि महेन्द्रवर्मन ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था ठीक प्रतीत नहीं होता।

दिवेकर महोदय ने पुष्यमित्र को युच्यमित्र पढ़ा है। युच्यमित्र, युचि तथा अमित्र की संधि से बना है जिसका अर्थ होता है युद्ध के शत्रु। इसलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि इससे किसी जाति विशेष का बोध नहीं होता वरन् यह अनेक शत्रुओं का द्योतक है और उन्हीं की ओर संकेत करता है। परंतु दिवेकर महोदय के इस मत से अधिकांश विद्वान सहमत नहीं हैं।

ऊपर के विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि न तो पश्चिमोतर प्रदेश और न ही कामरूप को पुण्यमित्र जाति का निवास स्थान माना जा सकता। इस मामले में फ्लीट तथा मिराशी का मत सच्चाई के ज्यादा करीब नजर आता है।

कुमारगुप्त का मूल्यांकन

कुमारगुप्त के कार्यों का मूल्यांकन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है पहला सैनिक उपलब्धियों के दृष्टिकोण से और दूसरा प्रशासकीय दृष्टिकोण से। जहां तक उसकी सैनिक उपलब्धियों का सम्बन्ध है हमें इसके द्वारा विजित किसी भी युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता न तो उसने अपने पिता तथा पितामह की भांति किसी दिग्विजय की योजना बनायी थी और न ही अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य में किसी प्रकार की वृद्धि की थी। उसे अपने सम्पूर्ण शासन काल में केवल पुष्यमित्रों से युद्ध करना पड़ा था जो उसके जीवन के अन्तिम चरण में हुआ था लेकिन इस युद्ध को विजय करने का श्रेय भी उसके पुत्र स्कन्धगुप्त को जाता है इसलिए डा० दण्डेकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यद्यपि कुमारगुप्त ने अपनी तुलना देवताओं के सेनानायक से की है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह न समुद्रगुप्त की भांति वीर ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की भांति एक निर्भीक नेता ही था।

ऊपर के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शासन काल सैनिक उपलब्धियों से रिक्त था। परन्तु इस तथ्य का भी स्मरण नहीं करना चाहिये कि उसके पिता तथा पितामह की विजयों के फलस्वरूप उसका साम्राज्य इतना विशाल हो गया था कि उसे और अधिक विशाल बनाना बुद्धिमता नहीं थी। सम्भवतः यही कारण था कि वह युद्ध नीति को छोड़कर अपने पूर्वजों से प्राप्त विशाल साम्राज्य को सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित करने में लगा रहा। इतने बड़े विशाल साम्राज्य को जो पश्चिम में अरब सागर से पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक और उत्तर में हिमालय से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ है को सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रखना एक सामान्य प्रतीक्षा वाले नरेश का कार्य न था। डा० आर०सी० मजूमदार के शब्दों में "केवल एक प्रबल तथा उदार शासक ही ऐसे विशाल साम्राज्य को पूर्ण रूप से संगठित रख सकता था"।

डा० मजूमदार ने आगे कहा है "कुमारगुप्त की मृत्यु के थोड़े ही दिनों उपरान्त हुणो तथा अन्य शत्रुओं को जिस प्रकार खदेड़ा गया उससे साम्राज्य की सैन्य बल की योग्यता एवं कुशलता सिद्ध हो जाती है और लगभग 40 वर्षो तक वह शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने में समर्थ रहा, यह भी उसके लिए कुछ कम महत्व की बात नहीं।"

जब हम प्रशासनिक दृष्टिकोण से उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हैं तब वे बड़ी ही महान तथा सराहनीय प्रतीत होती है। वस्तुतः उसका शासन काल शक्ति समृद्धि एवं प्रगति का काल था और उसकी प्रजा बड़ी ही सम्पन्न और सुरक्षित थी। उसके लेखों और उसकी मुद्राओं से भी यह प्रकट होता है कि उसके समय में आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास अपनी चरम सीमा पर था। चूंकि भीतरी के लेख में उसे बुद्धिमान, शक्ति सम्पन्न, यशस्वी, पृथ्वी का स्वामी, लक्ष्मीवान आदि उपाधियों से सम्बोधित किया गया है जो महानता का परिचायक है इसलिए उसे एक सफल और महान शासक की श्रेणी में रखना उचित होगा। मंजुश्री मूल कल्प में लिखा है कि कुमार गुप्त महेन्द्र राजाओं में श्रेष्ठ था इस उक्ति से भी यही प्रकट होता है कि गुप्त सम्राटों में उसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। तुमैन के अभिलेख में उसकी तुलना शरदकाली सूर्य से ही गयी है जिससे यही आभाषित होता है कि वह महान था। यद्यपि कुमारगुप्त स्वयं वैष्णव धर्म का अनुयायी था परन्तु उसमें उच्चकोटि की धार्मिक सहनशीलता थी वह सभी धर्मो का आदर करता था।

ऊपर के विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चाहे एक सैनिक के रूप में कुमार गुप्त की उपाधियां नगण्य रही हों परन्तु एक शासक के रूप में उसकी कीर्ति और उसका यश बड़ा ही देदीप्यमान था और गुप्त सम्राटों में उसे सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करना ही न्यायोचित होगा।

उत्तराधिकार की समस्या

कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ था या नहीं यह इतिहासकारों के बीच एवं [illegible] है। कुछ विद्वानों के विचार में कुमार गुप्त की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य का विभाजन हो गया था कुछ का मत है कि [illegible] के लिए उसके सभी पुत्रों में संघर्ष हुआ था और कुछ इतिहासकारों के अनुसार उत्तराधिकार की समस्या का समाधान [illegible] बिना युद्ध के हुआ था। पहले इन्हीं समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जाएगा।

साम्राज्य विभाजन की समस्या

कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य के विभाजन की सम्भावना सिद्धान्त का प्रतिपादन डा० राधागोविन्द बसाक [illegible] विचारों में कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद यह साम्राज्य दो प्रतिस्पर्धी शाखाओं में बंट गया था प्रथम शाखा में स्कन्दगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय तथा भानुगुप्त और द्वितीय शाखा के अन्तर्गत पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त तथा कुमारगुप्त तृतीय आते हैं। [illegible] गुप्त वंश की प्रधान शाखा और पुरुगुप्त शाखा उसकी गौण शाखा थी। गुप्त साम्राज्य का अधिक भाग स्कन्धगुप्त तथा [illegible] अधिकारियों के अधिकार में रहा जहां वे स्वतन्त्र रूप से शासन तथा सार्वभौम सत्ता का उपयोग करते रहे किन्तु स्कन्दगुप्त ने [illegible] साम्राज्य का पूर्वी भाग अर्थात् दक्षिण बिहार अपने भाई पुरु गुप्त को दे दिया जहां पर वह तथा उसके वंशज स्वतन्त्र सम्राट [illegible] के रूप में शासन करते रहे। इस प्रकार बसाक महोदय के विचार में एक ही समय में कुमारगुप्त तथा हस्तांतरित विशाल गुप्त साम्राज्य में दो प्रतिस्पर्धी शाखाएं शासन कर रही थी।

मत का समर्थन: अपने मत के समर्थन में डा० बसाक ने निम्नलिखित दो आधार बनाए हैं।

1. चीन स्त्रोत के अनुसार बालदित्य ने नालन्दा अर्थात् दक्षिण बिहार में बौद्ध बिहार का निर्माण [illegible] विद्वानों ने बालदित्य का समीकरण नरसिंहगुप्त से किया है इससे यह अनुमान लगाया गया है कि वह दक्षिण बिहार [illegible] शासक रहा होगा।
2. क्योंकि भीतरी के मुद्रालेख में पुरुगुप्त एवं उसके पुत्र नरसिंह गुप्त तथा पौत्र कुमार गुप्त तृतीय का नाम उत्कीर्ण मिलता [illegible] अतएव एलन महोदय को भी यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि इस लेख में उत्कीर्ण शाखा स्कन्दगुप्त की शाखा की [illegible] तथा प्रतिस्पर्धी रही होगी जिसका उल्लेख सारनाथ अभिलेख में भी मिलता है।

मत का खण्डन: डा० बसाक के इस मत को विद्धानों ने निम्नलिखित आधार पर अस्वीकार कर दिया है

1. जिस समय डा० बसाक ने अपने मत का प्रतिपादन किया था उस समय तक नालन्दा से प्राप्त बुद्ध गुप्त का मुद्रालेख [illegible] नहीं हुआ था किन्तु जब से मुद्रालेख प्राप्त हुआ है तब से बसाक महोदय का मत निराधार तथा अमान्य सिद्ध [illegible] या है।
2. इस लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि बुद्धगुप्त पुरुगुप्त का ही पुत्र था अतः पुरुगुप्त के अतिरिक्त किसी अन्य [illegible] बुद्धगुप्त की कल्पना कर लेना ठीक न होगा। ऐसी स्थिति में साम्राज्य विभाजन की कल्पना करना उचित नहीं [illegible]
3. डा० बसाक के मत के विरोध में यह भी तर्क उपस्थित किया जाता है कि स्कन्धगुप्त शाखा के सभी नरेश [illegible] इन उपाधियां धारण किया करते थे और भीतरी के मुद्रा अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि पुरुगुप्त शाखा के भी सभी [illegible] इन उपाधियों से अपने को अलंकृत करते थे। इसलिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि दोनों ही शाखाओं के [illegible] सार्वभौम सत्स अर्थात सम्पूर्ण साम्राज्य के उत्तराधिकारी हो। अतः इस दृष्टिकोण से साम्राज्य विभाजन का सिद्धान्त [illegible] नहीं होता।
4. एक अन्य बात ध्यान देने की यह है कि कुमार गुप्त का साम्राज्य पश्चिम में गुजरात से लकर पूर्व में [illegible] था। स्कन्धगुप्त के लेख तथा उसकी मुद्राएं गुजरात से बंगाल तक प्राप्त हुई है। इसी प्रकार बुद्धगुप्त के लेख भी [illegible] से उत्तरी बंगाल तक प्राप्त हुए हैं। इन साक्ष्यों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि कुमारगुप्त का [illegible] मृत्यु के बाद अविभाजित रहा और उसके पुत्र स्कन्धगुप्त का उस पर एकाधिकार रहा।
5. डा० बसाक के मत की आलोचना करने वालों का यह भी कहना है कि दक्षिण बिहार में गुप्त वंश की एक प्रधम शाखा द्वारा

स्वतन्त्र रूप से शासन करने की अवधारणा कोरी कल्पना मात्र है। उनके विचार में दक्षिण बिहार गुप्त साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग था जिसमें मगध का भी कुछ अंग सम्मिलित था। ऐसी स्थिति में गुप्त साम्राज्य को विभाजित कर देना एक महान राजनीतिक भूल होती क्योंकि इसकी राजधानी पाटलीपुत्र भी वहीं पर विद्यमान थी।

6. अन्तिम बात यह है कि सम्राट स्कन्धगुप्त ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत, मध्य प्रदेश, मालवा तथा गुजरात पर अपनी पूर्ण प्रभुत्व शक्ति स्थापित कर लेने के उपरान्त अपने साम्राज्य के पूर्वी भाग में स्थित दक्षिण बिहार में एक स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न सत्त को किस प्रकार सहन तथा स्वीकार किया होगा।

ऊपर के वर्णित से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुमार गुप्त की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य विभाजन का सिद्धान्त विभाजन पूर्ण रूप से निर्मूल है।

उत्तराधिकार युद्ध की समस्या

कुमार गुप्त की मृत्यु के उपरान्त की समस्याओं में उत्तराधिकार के युद्ध की समस्या सर्वाधिक जटिल एवं विवादाग्रस्त है कुमार गुप्त की मृत्यु के उपरान्त तत्काल कौन सिंहासन पर बैठा इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों की धारणा यह है कि सम्राट की मृत्यु हो जाने के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र पुरु गुप्त ही सिंहासन पर बैठे। इस सिद्धान्त के पर्वतक डा० रमेशचन्द्र मजूमदार रहे हैं। कुछ अन्य विद्वानों के विचार में सम्राट की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र घटोत्कच गद्दी पर बैठा। इस मत का समर्थन डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता ने किया है किन्तु अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि कुमार गुप्त की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त ही सिंहासन पर बैठा।

उत्तराधिकार सम्बन्धी दूसरी जटिल समस्या जिस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है, यह है कि क्या स्कन्दगुप्त का सिहांसनारोहण शान्तिपूर्वक हुआ था अथवा भीषण गृह युद्ध के उपरान्त। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि स्कन्दगुप्त को अपने भाइयों अर्थात पुरुगुप्त, घटोत्कच गुप्त तथा चन्द्रगुप्त तृतीय के साथ गृह युद्ध करना पड़ा था। किन्तु अन्य विद्वानों के विचार में सिंहासन के लिए कोई गृह युद्ध नहीं हुआ था वरन् अपने पिता की मृत्यु के पश्चात स्कन्दगुप्त ही सिंहासन का उत्तराधिकारी बन गया था।

डा० आर०सी० मजूमदार का मतः डा० मजूमदार तथा अन्य विद्वानों का विचार है कि उत्तराधिकार का यह युद्ध स्कन्दगुप्त और उसके भाई पुरुगुप्त के मध्य में हुआ। डा० मजूमदार का कहना है "यह सम्भव है कि जब स्कन्दगुप्त सुदूर प्रदेश में युद्ध कर रहा था तो उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त तत्काल सिंहासन पर बैठ गया हो। किन्तु जब स्कन्दगुप्त युद्ध में विजय प्राप्त कर वापस आया तो उसे सिंहासनाच्युत कर दिया।"

जो विद्वान डा० मजूमदार के मत से सहमत हैं और उनकी यह धारणा है कि कुमारगुप्त के उपरान्त ही पुरुगुप्त को उत्तराधिकार युद्ध का सामना करना पड़ा था वे अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं।

1. भीतरी राजमुद्रालेख में कुमारगुप्त के उपरान्त पुरुगुप्त का नाम उत्कीर्ण मिलता है जिसमें उसे कुमार गुप्त का तत्पादानुध्यात कहा गया है। इसका अर्थ उसके चरणों का अनुग्रह प्राप्त करने वाला होता है इसलिए इन विद्वानों का निष्कर्ष है कि पुरुगुप्त अपने पिता द्वारा सिंहासन का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था और उसकी मृत्यु के पश्चात वही सिंहासन पर बैठा था इसलिए यह सब कार्य शान्तिपूर्वक हुआ होगा।

2. जूनागढ़ शिलालेख में जो स्कन्दगुप्त का प्रथम शिलालेख है तीन तिथियां उपलब्ध हैं जो गुप्त संवत 136, 137 और 138 की तिथियां हैं। इस अभिलेख में गुप्त संवत 132 अर्थात 457 ई० में ही स्कन्दगुप्त का उल्लेख मिलता है इस लिए विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यही तिथि स्कन्दगुप्त के सिंहासन पर बैठने की तिथि रही होगी। कुमारगुप्त की अन्तिम तिथि गुप्त संवत 136 अर्थात 455 ई० मानी गयी है। अतः इन विद्वानों की धारणा है 455 से 457 ई० तक पुरुगुप्त ने शासन किया होगा और उसके उपरान्त ही स्कन्दगुप्त ने उसे परास्त कर सिंहासन प्राप्त किया होगा।

3. इन विद्वानों का कहना है कि गुप्त वंशीय अभिलेखों पुरुगुप्त की माता अनन्त देवी थी महादेवी अर्थात राजमहर्षि कहा गया है। राजमहर्षि का पुत्र होने के कारण वही युवराज तथा राज्य का उत्तराधिकारी था और अपने पिता की मृत्यु के तत्काल बाद वह सिंहासन पर बैठ गया होगा। इसके दो वर्ष उपरान्त गृह युद्ध में स्कन्दगुप्त ने उसे परास्त कर सिंहासन छीन लिया होगा।

4. जहां पुरुगुप्त की माता का नाम गुप्त वंशीय अभिलेखों में मिलता है वही स्कन्दगुप्त की माता का नाम उसके अभिलेख में नहीं मिलता। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि उसकी माता महादेवी राजमहर्षि थी। इसलिए इससे यही निष्कर्ष निकाला है कि स्कन्दगुप्त सिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं था और उसे बाद में पुरुगुप्त को हराकर सिंहासन छीनना पड़ा।

उपर्युक्त लेखों के आधार पर डा० मजूमदार ने यह अनुमान लगाया है कि राजलक्ष्मी को विचलित करने [illegible] और उसके समर्थक ही रहे होंगे। उन्होंने कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात राजसिंहासन को प्राप्त करने की [illegible] उसे प्राप्त किया होगा किन्तु बाद में स्कन्दगुप्त ने उसे परास्त कर दिया होगा और सम्भवतः पुरुगुप्त ने बन्दीगृह [illegible] को उसी प्रकार मुक्त किया होगा जिस प्रकार कृष्ण ने अपने मामा कंस की हत्या कर अपनी माता देवकी को [illegible] मुक्त किया था।

5. डा० बी०पी० सिन्हा तथा अन्य विद्वानों ने गृह युद्ध के समर्थन में जूनागढ़ के शिलालेख के पांचवे श्लोक का आश्रय लिया है जिसमें लिखा है "समस्त गुण दोष के कारणों पर क्रमशः विचार करते हुए स्कन्दगुप्त को बुद्धि में सबसे निपुण पाकर [illegible] ने अन्य राजकुमारों का परित्याग कर दिया तथा उनको पति के रूप में वरण कर लिया।"

उपर्युक्त उल्लेख के आधार पर डा० सिन्हा ने यह मत प्रकट किया है कि यह प्रशस्ति बड़ा ऐतिहासिक महत्व [illegible] एक विशेष घटना का द्योतक है। कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त राजकुमारों ने परस्पर किया गया उत्तराधिकार [illegible] अभिलेखीय तथा मुद्रा साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के चार पुत्र थे। अनेक साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि चारों पुत्रों में पुरुगुप्त ही अपने पिता कुमारगुप्त का वैधानिक उत्तराधिकारी रहा होगा क्योंकि उसकी माता राजमहर्षि थी।

6. गृह युद्ध के समर्थकों ने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए स्कन्दगुप्त की एक स्वर्ण मुद्रा का भी आश्रय लिया है। इस मुद्रा में स्कन्दगुप्त युद्ध की वेशभूषा में खड़ा है और लक्ष्मी अपनी अंजुली से उसे भेंट कर रही है। इससे भी यही निष्कर्ष निकाला है कि स्कन्दगुप्त ने युद्ध करके सिंहासन प्राप्त किया था।

7. गृह युद्ध समर्थकों का यह भी कहना है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात गृह युद्ध हुआ वह केवल स्कन्दगुप्त तथा पुरुगुप्त के बीच ही नहीं हुआ था वरन् अन्य राजकुमार भी इसमें सम्मिलित थे।

डा० परमेश्वरी लाल गुप्त का मतः यद्यपि अनेक विद्वानों ने जो गृह युद्ध के समर्थक हैं यह मत प्रकट किया है कि कुमारगुप्त के उपरान्त पुरुगुप्त सिंहासन पर बैठा था किन्तु डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता के विचार में कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र घटोत्कच ही सिंहासन पर बैठा था और उसी के साथ युद्ध करके स्कन्दगुप्त ने सिंहासन छीना था।

गृह युद्ध की सम्भावना की आलोचनाः यद्यपि उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया [illegible] कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्रों में गृह युद्ध आरम्भ हुआ और अपने भाइयों को परास्त कर अन्त में स्कन्दगुप्त [illegible] को प्राप्त किया था परन्तु अन्य विद्वान इस मत की कड़ी आलोचना करते हैं और अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित [illegible] से

1. इन आलोचकों का कहना है कि तत्पादानुध्यात् के आधार पर पुरुगुप्त को उत्तराधिकारी मानना उचित नहीं है क्योंकि इसका वास्तविक अर्थ होता है उसके चरणों का ध्यान करना न कि उसके चरणों द्वारा अनुग्रहित। यह समस्त पद केवल राजपुरुषों के लिए ही प्रयुक्त है और उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जो न तो युवराज थे और न उत्तराधिकारी केवल स्वामीभक्त सेवक थे।

2. जूनागढ़ शिलालेख की तीन तिथियों के आधार पर गृह युद्ध की कल्पना करना भी गलत है। इसका आधार सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार की तिथि से हो जाता है। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त संवत 136 (455 ई०) की [illegible] में सुदर्शन झील का बांध टूट गया और गुप्त संवत 137 (456 ई०) चैत्र मास से पूर्व पक्ष की प्रथम तिथि को इसका [illegible] आरम्भ हुआ। इस कार्य को स्कन्दगुप्त के योग्य कर्मचारी चक्रपालीत के निरीक्षण में किया गया था। इससे [illegible] है कि गुप्त संवत 137 की ग्रीष्म ऋतु से पूर्व स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठ गया था।

3. पुरुगुप्त की माता राजमहर्षि होने के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कि वही वैधानिक [illegible] होगा और अपने पिता के उपरान्त सिंहासन पर बैठा होगा। गुप्त वंश में यह आवश्यक नहीं था प्रधान महिषी [illegible] का उत्तराधिकारी हो कोई भी राजकुमार अपनी योग्यता के आधार पर सम्राट के द्वारा उत्तराधिकारी नियुक्त किया जा सकता था। समुद्रगुप्त का चयन भी उसके पिता द्वारा योग्यता के आधार पर ही किया गया था।

4. अभिलेखों में स्कन्द्रगुप्त की माता के नाम के अभाव के आधार पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह कुमारगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी नहीं था क्योंकि गुप्त लेखों मे कोई भी ऐसी अनिवार्य परम्परा नहीं थी कि पट्टमहषि का नाम अंकित किया जाए। उदाहरणार्थ कुबेर नागा का नाम जो पट्टमहषि थी की भी अभी लेख में नहीं मिलता।

5. भीतरी अभिलेख की इस प्रशस्ति के आधार पर कि गुप्त वंश की लक्ष्मी विचलित हो गयी थी और स्कन्दगुप्त ने उसकी पुर्नस्थापना की के आधार पर गृह युद्ध का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि इस अभिलेख में कहीं भी गृह युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। जिन शत्रुओं ने गुप्त वंश की राजलक्ष्मी की विचलित किया था वे सम्भवतः आन्तरिक शत्रु न होकर बाह्य पुष्यमित्र तथा हुण रहे होंगे जिनके विरुद्ध स्कन्दगुप्त को भीषण युद्ध करना पड़ा था और उनको परास्त करके गुप्त वंश की राजलक्ष्मी की पुर्नस्थापना की थी।

6. जूनागढ अभिलेख की इस प्रशस्ति आधार यह कि राजलक्ष्मी ने सभी राजकुमारों को त्यागकर सबसे सुयोग्य राजकुमार स्कन्दगुप्त को अपने पति के रूप में वरण किया गया था के आधार पर गृह युद्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। इससे अधिक से अधिक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समस्त राजकुमारों में वह सबसे बड़ा तथा अधिक योग्य था। इसलिए वह सिंहासन पर बैठा।

7. स्कन्दगुप्त की उस स्वर्ण मुद्रा के आधार पर जिसमें लक्ष्मी उसे कुछ समर्पित करती हुई दिखाई गई है। गृह युद्ध का अनुमान लगाना उचित नहीं। डा० उदयनारायण राय के विचार में "इससे सम्भवतः यह भाव निकालना अधिक समचीन होगा कि स्वयं कुमारगुप्त ने ही अपने राजकुमारों के बीच स्कन्दगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी उसी प्रकार चुना होगा जिस प्रकार प्रयाग स्तम्भ लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपने पुत्रों में सबसे योग्य पाकर उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। ..... लगता है लक्ष्मी के रूप में कुमारगुप्त के द्वारा स्कन्दगुप्त को राज्य भार के समर्पण का भाव उक्त कोटि की मुद्राओं में अंकित किया गया है।"

8. इस आधार पर कि स्कन्दगुप्त के अभिलेखों में पुरुगुप्त और पुरुगुप्त के अभिलेखों में स्कन्दगुप्त के नामों आ अभाव है इससे शत्रु भाव तथा गृह युद्ध की कल्पना कर लेना तथ्य संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि बहुत से अभिलेखों में उनके भाइयों के नाम उपलब्ध नहीं हैं उदाहरणार्थ विष्णुवर्धन के अभिलेखों में उसके भाई पुत्वंकशीन का नाम नहीं मिलता। इसलिए नाम के अभाव के आधार पर उत्तराधिकार के युद्ध की कल्पना कर लेना ठीक नहीं है।

ऊपर वर्णित तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गृह युद्ध की सम्भावना को निराधार बतलाया है और इस मत का प्रतिपादन किया है कि स्कन्दगुप्त अपने पिता कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त तत्काल शान्तिपूर्वक सिंहासनरूढ़ हुआ था और उसे अपने किसी भाई के साथ सिंहासन के लिए युद्ध नहीं करना पड़ा।

स्कन्दगुप्त (455 से 467 ई०)

स्कन्दगुप्त के काल की एक महत्वपूर्ण घटना हुणों का आक्रमण थी। हुण एक जाति का नाम था यह दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व चीन की पश्चिमी सीमा पर मध्य एशिया में निवास करते थे। ये बड़े बर्बर लोग थे तथा जहां भी जाते थे वहां लूटमार कर आतंक फैला देते थे। कालान्तर में ये लोग अपने मूल निवास से पश्चिम की ओर बढ़े और जहां भी गये लूटमार कर आतंक फैलाते गये। इनकी एक शाखा ने जिन्हें सफेद हुण कहा जाता था आक्सस नदी की घाटी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और गांधार को अपने अधिकार में ले लिया। यही से इन लोगों ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। हमारे पास काफी मात्रा में स्त्रोत हैं जिनसे हुणों के आक्रमण का पता चलता है।

भितरी अभिलेख के अनुसार जिस समय हुणों और स्कन्दगुप्त का युद्ध हुआ उस समय स्कन्दगुप्त की भुजाओं के प्रताप से पृथ्वी कम्पित हो उठी और भयंकर बवण्डर उठ खड़ा हुआ।

जूनागढ़ अभिलेख में हुणों को म्लेच्छ की संज्ञा दी है और कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने इन म्लेच्छों के गर्व को चूर--चूर कर दिया था और वे भी अपने देश में स्कन्दगुप्त का गुणगान करने लगे।

कथासरित सागर में लिखा है कि उज्जैन के राजा महेन्द्रदित्य का पुत्र विक्रमादित्य अपने पिता द्वारा सिंहासन का परित्याग कर देने पर सिंहासनारूढ़ हुआ था उसने म्लेच्छों को पूर्ण रूप से परास्त किया था। एलन महोदय महेन्द्रादित्य का समीकरण कुमारगुप्त

प्रथम और विक्रमादित्य का स्कन्दगुप्त के साथ किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि जिन मलेच्छों को विक्रमादित्य ने हूणों से परास्त किया था वे हुण ही थे।

चन्द्र व्याकरण नामक ग्रंथ में 'अजयत गुप्तो हुणान्' अर्थात गुप्तो ने हुणों को जीता, उल्लिखित मिलता है। डा० आल्तेकर ने गुप्त का समीकरण स्कन्दगुप्त के साथ किया है इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि स्कन्दगुप्त को हुणों से युद्ध करना पड़ा था।

हुणों के जिस आक्रमण का स्कन्दगुप्त ने सामना किया था और उन्हें परास्त किया था वह उसके शासन काल के किस भाग में हुआ इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार में यह युद्ध उसके शासन काल के आरम्भ में ही हुआ तुरन्त किन्तु अन्य विद्वानों के मतानुसार यह उसके शासन काल के अन्तिम वर्षों में हुआ था। चन्द्रगर्भपृच्छा बौद्ध ग्रंथ के अनुसार हुण आक्रमण कुमारगुप्त शासन काल के अन्तिम दिनों में आरम्भ हो गया था किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त भी चलता रहा और उसको पूर्ण रूप से दमन स्कन्दगुप्त ने अपने सिंहासनारोहण के उपरान्त ही किया। जूनागढ़ के जिस अभिलेख में मलेच्छ आक्रमण का उल्लेख मिलता है उसकी तिथि गुप्त संवत 136 है जो कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हुण आक्रमण स्कन्दगुप्त के सिंहासनारोहण के आसपास हुआ था और सिंहासन पर बैठने के बाद ही वह उसको पूर्ण रूप से दमन कर सका।

किन्तु हार्नले महोदय इस बात से सहमत नहीं हैं। उन्होंने सुंगयुन नामक चीनी राजदूत के विवरण के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हुणों का आक्रमण 465 ई० के पश्चात हुआ होगा यह चीनी राजदूत 520 ई० में गांधार पहुंचा था। उसने लिखा है कि दो पीढ़ियों के समय के पूर्व हुणों ने इस देश को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया और वहां अपना राजकुमार बैठा दिया था। इन दो पीढ़ियों का समय 50 वर्षों का होगा अतएव हुणों द्वारा गांधार पर आक्रमण तथा अधिकार की घटना (520-50=470 ई० में घटित होगी। गांधार पर अधिकार करने के चार–पांच वर्ष उपरान्त हुणों ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया होगा इसलिए हार्नले ने इस आक्रमण की तिथि 465 ई० निर्धारित की है।

हार्नले के इस मत की विद्वानों ने कड़ी आलोचना की है उनका कहना है कि अपने प्रथम आक्रमण में हुणों ने गांधार को केवल लूटा–खसोटा था किंतु इस बार अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं किया था। इसको लूटने के बाद वे आगे बढ़े और स्कन्दगुप्त से संघर्ष उसके प्रारम्भिक काल में ही किया था।

स्कन्दगुप्त के साम्राज्य के विस्तार के विषय में डा० मुकर्जी का विचार है कि "अपनी शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर स्कन्दगुप्त विशाल साम्राज्य का शासक था जो काठियावाड से बंगाल तक सारे उत्तरी भारत में फैला हुआ था। पश्चिम दिशा में सौराष्ट्र, कैम्बे और गुजरात तथा मालवा के भाग भी साम्राज्य में सम्मिलित थे। जूनागढ़ शिलालेख से सौराष्ट्र पर उसका अधिकार सिद्ध होता है। कैम्बे तट पर उसके अधिकार की पुष्टि बैल आकार के सिक्कों से होती है और कच्छ पर उसका अधिकार वेदी प्रकार के सिक्कों से सिद्ध होता है।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी

पुरुगुप्त (467-73 ई०): डा० राय चौधरी का मत है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात गुप्त साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया। सम्भव है कि स्कन्दगुप्त के निकटतम अधिकारी उसका भाई पुरुगुप्त था जिसने 467 से 673 ई० तक राज्य किया। वह कुमारगुप्त प्रथम और उसकी रानी अनन्तदेवी का पुत्र था। लगभग छः वर्ष राज्य करने के बाद उसका स्वर्गवास हो गया। इसको जिन विभिन्न विद्वानों ने 'श्रीवत्सदेवी, श्रीपन्यदेवी, और श्रीचन्द्रदेवी' पढ़ा है वह नरसिंह बालदित्य की माता थी। पुरुगुप्त ने केवल एक प्रकार के सोने के सिक्के चलाए जो धनुर्धर प्रकार के थे। पुरुगुप्त महान बौध प्रचारक वसु बन्धु से भी सम्बन्धित रहा प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि उसने वसु बन्धु को अपनी रानियों तथा युवराज बालदित्य का गुरु नियुक्त किया।

उसके राज्य में गुप्त साम्राज्य का ह्रास हुआ। सौराष्ट्र पर उसका अधिकार सुदृढ़ नहीं था। क्योंकि पुरुगुप्त के बाद के सिक्के नहीं मिले थे क्योंकि सौराष्ट्र पर उसका राज्य नहीं था जहां उन सिक्कों की आवश्यकता नहीं थी।

भारसार में पाए गए सिक्कों से प्रतीत होता है कि प्रकाशादित्य नामक एक राजा ने समुद्रगुप्त कुछ समय पश्चात राज्य किया। डा० राय चौधरी बताते हैं कि प्रकाशादित्य सम्भवतः पुरुगुप्त था।

नरसिंहगुप्त बालदित्य (473 ई०): डा० राय चौधरी का मानना है कि पुरुगुप्त के पश्चात उसका पुत्र बालदित्य राजा बना उसका तादात्मय उस बालदित्य ने स्थापित किया है जिसके विषय में ह्यूनत्सांग ने कहा है कि उसने मिहिरकुल को कैद किया। डा० राय चौधरी बताते हैं कि मिहिर कुल का विजेता बालदित्य नहीं बल्कि अन्य व्यक्ति था।

कुमारगुप्त द्वितीय (473-76 ई०): नरसिंह बालदित्य के पश्चात उसकी रानी मित्रदेवी से उत्पन्न कुमारदित्य द्वितीय राजा बना। भिटारी मुहर में कुमारदित्य द्वितीय को धनुर्धर प्रकार के कुछ सिक्कों में वर्णित विक्रमादित्य माना है। 'आर्य मंजुश्री मुलकल्प' में कहा गया है कि बालदित्य और उसके उत्तराधिकारी कुमार ने गौड़ तथा पूर्व देश में राज्य किया। महाराज हस्तीन को वह अपना सामंत मानता था।

कुमारगुप्त द्वितीय का राज्य 476-77 ई० के लगभग समाप्त हुआ। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय ने केवल दस वर्ष राज्य किया। किन्तु डा० राय चौधरी कहते हैं कि यह कोई असाधारण बात नहीं है। उन्होंने अन्य वंशों तथा राज्यों के उदाहरण देकर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कई बार एक के बाद दूसरे राजा की मृत्यु होती गई।

बुद्धगुप्त (677-95 ई०): बुद्धगुप्त ने 477 से 495 ई० तक लगभग बीस वर्ष राज्य किया। कई अभिलेखों में बुद्धगुप्त का उल्लेख मिलता है। ऐरण से प्राप्त एक अभिलेख में महाराज सुरश्मिचन्द्र को बुद्धगुप्त के सामन्त के रूप में कालिन्दी तथा नर्मदा के बीच राज्य करते बताया गया है। बुद्ध गुप्त ने चांदी के सिक्के चलाये।

डा० आर०के० मुकर्जी का मानना है कि "अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बुद्धगुप्त के समय में साम्राज्य की सीमाओं में कोई कमी नहीं हुई। इसके विपरीत प्रतीत होता है कि अपने पूर्वाधिकारियों के समय में खाई हुई भूमि और गौरव का कुछ भाग उसने फिर से प्राप्त किया। इसमें कालिन्दी तथा नर्मदा के मध्य का विस्तृत प्रदेश शामिल था।"

तथागतगुप्त और बालदित्य द्वितीय: ह्यूनसांग की जीवनी के अनुसार बुद्धगुप्त के पश्चात तथागतगुप्त राजा बना वह सम्भवतः वैनयगुप्त से सम्बन्धित था तथागतगुप्त के पश्चात बालदित्य द्वितीय राजा बना। इस समय गुप्त वंश की प्रभुता को हुण नेता तोरामन ने मध्य भारत में चुनौती दी। ह्यूनसांग हमें बताता है कि बालदित्य तोरामान और उसके पुत्र मिहिर कुल को बंदी बनाने में सफल हुआ किंतु राजमाता के कहने पर उन्होंने उन्हें मुक्त कर दिया।

कृष्णगुप्त तृतीय: कृष्णगुप्त तृतीय से पहले कृजगुप्त, हर्षगुप्त तथा जीवितगुप्त नामक तीन गुप्त सम्राटों के नाम हमें अभिलेखों से मिलते हैं लेकिन उनके काल की कोई विशेष जानकारी हमारे पास नहीं है। हमें इतना पता है कि जीवितगुप्त प्रथम के पश्चात कुमारगुप्त तृतीय राजा बना। उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, गौड़ों, आन्ध्रों और शुलिकों ने विद्रोह कर दिया। मौखरी भी ऊपरी गंगा घाटी में अपना अधिकार जमाने लगे और गुप्त साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया तेज हो गयी।

कुमारगुप्त तृतीय के बाद दामोदर गुप्त राजा बना। बताया जाता है कि उसने मौखरियों के साथ युद्ध किया और मारा गया इसके पश्चात दामोदर गुप्त, महासेन गुप्त, देवगुप्त द्वितीय, माधवगुप्त, आदित्यसेन देवगुप्त तृतीय, विष्णुगुप्त द्वितीय, जीवितगुप्त द्वितीय के नाम हमें अभिलेखों में मिलते हैं। इन सब राजाओं ने राजसी उपाधियां धारण की थी। सम्भवतः गौड़ों ने अन्तिम रूप से गुप्त साम्राज्य को समाप्त कर दिया। गौड़ अत्यधिक बलशाली हो गये थे। कन्नौज के राजा यशोवर्मा के समय मगध के सिंहासन पर एक गौड़ राजा बैठा था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

चन्द्रगुप्त तथा समुद्रगुप्त के पराक्रम से स्थापित गुप्त साम्राज्य का क्रमशः ह्रास होने लगा और छठी ई० के अन्त में उसका पतन हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के कई कारण थे।

1. **बाह्य आक्रमण:** विद्वानों का विचार है कि गुप्त साम्राज्य के पतन में सबसे बड़ा हाथ बाह्य आक्रमणों का था। ये आक्रमण कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम चरण में शुरू हो गये थे जो स्कन्दगुप्त के काल के प्रथम चरण में भी जारी थे क्योंकि पुष्यमित्रों तथा हुणों ने गुप्त साम्राज्य की दीवारों पर प्रहार करना शुरु कर दिया था। इसी समय वाकाटकों के भी षडयंत्र, कुचक्र और प्रहार शुरू हो गये थे। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने इन बाह्य आक्रमणों का बड़े ही धैर्य और साहस के साथ सामना किया था और आक्रमणकारियों को पराजय का मुंह देखना पड़ा था। परन्तु इन आक्रमणों के फलस्वरूप साम्राज्य को धन व जन की काफी क्षति उठानी पड़ी।

लेकिन स्कन्दगुप्त के बाद जब हुणों ने गांधार पर अधिकार कर लिया और भारत पर एक फिर आक्रमण शुरू कर दिये छठी सदी के प्रारम्भ में हुणों ने तीसरी बार आक्रमण किया तो उनको रोक पाना असम्भव हो गया। उल्ट स्वयं गुप्त राजा के अनेक असंतुष्ट राजकुमार जैसे हरिगुप्त और प्रकाराख्य हुणों से मिल गये। ऐसी स्थिति में संघात्मक शासन व्यवस्था फिर साम्राज्य के लिए अभिशाप सिद्ध हुई क्योंकि इस संकट काल के बजाय सम्राट की मदद करने के धन्यविष्णु जैसे पदाधिकारी ने अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु तोराभाग का साथ पकड़ लिया। इसी प्रकार बंगाल के महाराज विजयसेन भी वैन्यगुप्त के अधीन था पश्चिमी बंगाल में गुप्तो के स्थान पर अपनी सत्ता स्थापित करने वाले गोपचन्द्र का प्रभुत्व था। इस प्रकार हुणों के आक्रमण गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण सिद्ध हुए।

लेकिन डा० आर०सी० मजूमदार के विचार में हुणों के आक्रमणों को गुप्त साम्राज्य के पतन का प्रधान कारण नहीं मान चाहिये किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया। हुणो ने ही नहीं के ने भी गुप्त वंश के पतन में बड़ा योगदान दिया।

2. **सामन्तवाद**: डा० श्रीराम गोयल का विचार है कि गुप्त साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण वह प्रशासकीय व्यवस्था आधारशिला समुद्रगुप्त ने रखी थी। उसने साम्राज्य को अनेक सामन्ती ईकाइयों के संघ के रूप में संगठित किया संघ का केन्द्रीय भाग जंग की घाटी थी जिस पर शासन करने वाले राजाओं को उखाड कर समुद्रगुप्त ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित किया था लेकिन शेष प्रदेशों में उसने स्थानीय राजाओं और गणराज्यों को अपने प्रभुत्व में आंशिक उपयोग करने दिया। इतना ही नहीं उसने अनेक प्रदेशों में नये वंशों की स्थापना भी की जिन्हें उनकी परिस्थिति न्यानाधिक स्वतंत्रता दी गयी थी। दक्षिणा पथ के रजाओं को तो समुद्रगुप्त ने उन्हें जीत लेने के बावजूद अपने प्रभुत्व में रखने का बिल्कुल प्रयास नहीं किया। इस प्रकार उसके द्वारा स्थापित साम्राज्य में सम्राट अनेक लघु राज्यों के स्वामियों का अर्थात महाराजाधिराज होता था।

ये सामन्त बड़े ही महत्वाकांक्षी होते थे और गुप्त साम्राज्य को पतनोन्मुख देखकर वे अपने स्वतत्र राज्य स्थापित आकांक्षा करने लगे। स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में पर्णदत को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था जो बाद में स्वतत्र इस प्रकार मध्य प्रदेश में पारिव्राजकों एवं उच्चधल्य महाराजाओं ने भी धीरे–धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर अपने आपको स्वत कर दिया। मौरवरी वंश के सामन्त भी प्रारम्भ में गुप्त साम्राज्य के प्रांतपति थे। इन्होंने भी अपन आपको स्वतन्त्र घोषित दिया और गुप्त साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया को तेज कर दिया।

3. **प्रान्त के उच्चाधिकारियों के विशेषाधिकार**: साम्राज्य के प्रान्तों में उच्चकोटि के अधिकारियों को दिय गय विशेष भी गुप्त साम्राज्य पर घातक प्रहार किया। गुप्तकालीन तथ्यों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि न केवल विश्वस्त एवं सुयोग्य कर्मचारी भी प्रांतपति के पद पर नियुक्त कर दिये जाते थे। उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त सुअवसर पाकर इनका दुरुपयोग कर सकते थे। उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से हमें ज्ञात होता है नाम का एक पदाधिकारी गुजरात तथा काठियावाड का राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया था। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त ताम्रलेख के अनुसार शर्वनाग नामक कर्मचारी गंगा यमुना दो आबकर राज्यपाल नियुक्त किया था। इसी प्रकार में चिरागदत नामक एक व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया था। ये राज्यपाल अपने–अपने क्षत्रों में बड़े ठाट–बाट से रहते थे। इनका प्रभुत्व और प्रभाव अपने–अपने प्रान्तों में बहुत ज्यादा था। ये प्रान्त म अपने यों को उच्च पदों पर नियुक्त कर देते थे। तथा प्रान्तीय सेवा पर भी इन्हीं का अधिकार था। जब केन्द्रीय शक्ति होने लगी तो स्वार्थी तथा महत्वाकांक्षी प्रान्त उच्चाधिकारियों ने अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग कर अपना स्वत स्थापित कर लिया।

4. **केन्द्रीय शासन की दुर्बलता**: सामन्तों की महत्वाकांक्षाओं तथा उनके विशेषाधिकारों, उच्चाधिकारियों विश्वासघात की मनोवृति तथा शासन की विभिन्न प्रकार की दुर्बलताओं ने केन्द्रीय शासन की दुर्बल तथा शिथिल विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया केवल प्रतापी तथा पराक्रमी सम्राटों के काल में सफल सिद्ध होती थी क्योंकि ऐसे सम्राट प्रान्तीय तथा स्थानीय पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों पर अपना नियंत्रण बनाए रखने में सक्षम होते थे। किन्तु दुर्बल सम्राटों के काल में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया बड़ी घातक सिद्ध हुई क्योंकि वे अपने राज्यपालों, स्थानीय कर्मचारियों उच्च

पदाधिकारियों पर अपना नियंत्रण बनाए रखने में अक्षम होते हैं। फलतः महत्वाकांक्षी तथा स्वायी सामंत तथा राज्यपाल अपना साम्राज्य स्थापित करके संलग्न हो गये और साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

5. **आन्तरिक कलहः** गुप्त शासन के पतन में आन्तरिक कलह का भी बहुत बड़ा योगदान है। इस कलह का सबसे बड़ा कारण यह था कि गुप्त वंश में उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं था और कोई भी राजकुमार सिंहासन प्राप्त करने के लिए अपनी कूटनीति तथा बाहुबल का प्रयोग कर सकता था। चूंकि सम्राट किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकता था अतः राजकुमारों में आपसी शत्रुता का भाव जागृत होना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त का चयन उसके पिता ने योग्यता के आधार पर किया था इससे उसके अन्य भाइयों को बड़ी निराशा हो गयी थी और उन्होंने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया था। सम्भवतः कुमार गुप्त की मृत्यु उपरान्त भी सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई रामगुप्त का वध करके सिंहासन प्राप्त किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि आन्तरिक कलह की एक प्रक्रिया प्रवृति गुप्त सम्राटों के शासन काल में भी फलती रही और राज्य की दीवारें कमजोर होती रहीं। बुद्धगुप्त की मृत्यु के उपरान्त आन्तरिक कलह तथा गृह युद्ध अधिक की अधिक सम्भावनाएं दिखाई देने लगती हैं। यह आंतरिक कलह उस समय हुई जब हुणों के आक्रमण हो रहे थे। गुप्त साम्राज्य के पतन में धृत की आहुति का कार्य किया और गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया।

6. **बौद्ध धर्म का प्रभावः** गुप्त काल की संघात्मक व्यवस्था के टिकाऊपन के लिए सम्राट का योग्य होना बहुत ही आवश्यक था। इस व्यवस्था की सफलता पूर्णतः सम्राट की योग्यता पर निर्भर थी प्रारम्भिक गुप्त सम्राटों में यह योग्यता थी। वे वैष्णव ध र्म को मानने वाले थे और चक्रवर्ती प्रचण्ड शासन स्थापित करने का स्वप्न देखता था। चन्द्रगुप्त विष्णु से तीनों लोकों का राज्य पान को दावा करता था और स्कन्दगुप्त मलेच्छों का दमन करना अपना परम कर्तव्य समझता था। लेकिन कुमारगुप्त प्रथम के समय में गुप्त राजपरिवार पर बोध धर्म की छाया पड़ने लगी जिसके परिणामस्वरूप गुप्त नरेश पृथ्वी विजय का स्वप्न देखने के स्थान पर पुण्यार्जन की चिन्ता में लग गये। कुमारगुप्त प्रथम अपने जीवन के अंतिम वर्षों में भिक्षु जीवन व्यतीत करने लगा था। उसके अप्रतिघ प्रकार के सिक्कों का महायान बौद्ध धर्म में विशेष अर्थ है। यहां इसका अर्थ क्रोध माना गया है और इससे मनुष्य को बन्धन में डालने वाले छः क्लेशों में से एक बताया गया है। इसलिए हमारा विचार है कि इन सिक्कों पर लिखे 'अप्रतिघ' लेख का अर्थ है 'क्रोध पर विजय पाने वाला' अगर यह सुझाव सही है तो मानना पड़ेगा कि वह बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ था।

कुमारगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त वैष्णव था परन्तु उसने बौद्ध धर्म को भी संरक्षण दिया। उसने प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुबन्धु को अपने उत्तराधिकारी प्रथम नरसिंहगुप्त बालदित्य को शिक्षक नियुक्त किया था। यह असम्भव नहीं है कि गुप्त राज परिवार से वसबन्धु का सम्बन्ध कुमारगुप्त प्रथम के समय से ही रहा हो और नालन्दा महाविहार की स्थापना उस नरेश पर उसके प्रभाव का परिणाम रही हो। परन्तु बौद्ध धर्म का यह प्रभाव साम्राज्य के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुआ। कमसकम इस प्रभाव के परिणामस्वरूप अपने कर्तव्यों को दृढ़तापूर्वक पूरा करने की भावना उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि 'मंजुश्री मुलकल्प' से ज्ञात होता है कि बालदित्य ने 36 वर्ष 1 माह की आयु में आत्महत्या कर ली थी और स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में कुमारगुप्त प्रथम के विषय में कहा गया है कि उसने आत्मशक्ति से देवलोक प्राप्त किया था। इस बात की पूरी सम्भावना है कि उसने भी बालादित्य की तरह आत्महत्या की क्योंकि बौद्ध धर्म में इस प्रकार के देह त्याग के कई उदाहरण ज्ञात हैं।

बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप गुप्त नरेशों की युद्ध प्रियता जो साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक थी समाप्त हो गई। जैसा कि हम देख चुके हैं छठी शदी ई० में आन्तरिक संघर्षों और हुण आक्रमण के कारण गुप्त वंश की स्थिति अत्यन्त डावांडोल हो गयी थी ऐसे समय में साम्राज्य की व्यवस्था और सैनिक संगठन एवं बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं का दृढ़तापूर्वक दमन सबसे बड़ी आवश्यकताएं थी। लेकिन बौद्ध धर्म के प्रभाव में डूबा नरसिंहगुप्त अपने राज्यों को चैत्य और बिहारी में सजाने लग रहा था और जब मिहिर कुल का आक्रमण हुआ तो वह जान बचाने के लिए भाग खड़ा हुआ। उसके बाद अभी अधीन राजाओं द्वारा हुण राजा को पकड़ लेने के बाद भी उसने अदूरदर्शिता का परिचय दिया और अपनी माता के कहने में आकर ऐसे भयंकर शत्रु को पुण्य कमाने हेतु छोड़ दिया। बौद्ध धर्म के हानिकर का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है।

बौद्ध धर्म के प्रभाव का एक परिणाम यह हुआ कि बौद्ध संस्थाओं को राज्य की ओर से अतुल धन दिया जाने लगा। यद्यपि गुप्त सम्राटों द्वारा ब्राह्मणों को भी भूमि दान दी जाती थी। धीरे–धीरे बौद्ध संस्थाओं के दान की मात्रा बढ़ती गई। इस विषय

में नालन्दा महाविहार का बड़ा अच्छा उदाहरण है। जिस समय पांचवी शती ई० के आरम्भ में फाहयान ने भ्रमण की थी उसने नालन्दा को एक गांव के रूप में देखा था। इसके करीब 50 वर्ष बाद कुमारगुप्त प्रथम ने वहां विहार की नीव डाली। इसके बाद बुद्धगुप्त, बालादित्य आदि ने यहां नये–नये संघाराम बनवाए। सातवीं सदी के आरम्भ में ह्यूनत्सांग भारत आया, उस समय इसमें 10000 भिक्षु निवास करते थे। जिनके पालन के लिए सौ गांवों की आय दी जाती थी। इसके अतिरिक्त उन गांवों के निवासी इस संस्था को सौ पिकल चावल और कई सौ कोट्टी मक्खन और दूध प्रतिदिन देते थे। स्पष्ट है कि नालन्दा विहार पर इसके निकटवर्ती प्रदेशों की आय का अधिकांश व्यय कर दिया जाता था। परन्तु नालन्दा महाविहार तो इस प्रकार की एक संस्था थी। ह्यूनत्सांग लिखता है कि भारत में इससे छोटे–छोटे विहार, जिसकी संख्या सौ से अधिक होता होगा दस हजार थे। अतः इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि गुप्त सम्राटों के युग में बौद्ध विहार साम्राज्य की आर्थिक अवस्था पर बोझ बन गये थे। जो गुप्त साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण बने।

7. **साम्राज्य की विशालता तथा परवर्ती सम्राटों की दुर्बलता:** गुप्त काल की शासन व्यवस्था एक केन्द्रीयभूत शासन व्यवस्था थी इतने बड़े साम्राज्य का शासन बड़ा ही योग्य शासक चला सकता था। परन्तु दुर्भाग्यवश स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त वंश में ऐसा कोई प्रबल शासक नहीं हुआ जो साम्राज्य को नष्ट–भ्रष्ट होने से बचा सके।

8. **असन्तोष सीमा नीति:** परवर्ती गुप्त सम्राटों की सीमा नीति बड़ी ही असन्तोषजनक थी। उन्होंने सीमावर्ती प्रदेशों की ओर ध्यान नहीं दिया और विदेशी आक्रमण होने लगे तो वे उन्हें रोक न सके।

डा० उदय नारायण राय ने गुप्त साम्राज्य के पतन तथा विनाश के कारणों के ऊपर लिखा है "लगभग तीन सौ वर्ष तक शासन करने वाले गुप्त वंश के अधःपतन का वृतान्त भारतीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। क्रमानुसार घटित होने वाले इस तथ्य के कई मूलभूत कारण एवं अबाध्य परिस्थितियां दृष्टिगोचर होती है। बाह्य आक्रमण एव साम्राज्य पतन के सामन्तीय स्वरूप के अतिरिक्त इस राजवंश के आन्तरिक झगड़ों एवं वैमनस्य, राजनीतिक भूलों, उत्तर काल में शिथिल नीति के यथासम्भव परांगमुक्ता, राजपुरुषों का अधिकार बाहुल्य एवं ईसान वर्मा, कुमार गुप्त तथा यशोवर्मन जैसे नव संरक्षकता की अवधारणा प्रतिभा आदि ऐतिहासिक घटनाओं के परिणामस्वरूप साम्राज्य का ह्रास एवं पतन क्रमशः अवश्यमभावी हो गया था

गुप्तकाल में प्रशासन

राज्य का स्वरूप: गुप्तकाल भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल था। इस काल में भारत में एक बार पुनः राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी। गुप्तकाल के उत्थान के समय राज्य के दो स्वरूप विद्यमान थे अर्थात राजतंत्रात्मक और गणतन्त्रात्मक।

1. **गणतन्त्र:** यद्यपि गुप्तकाल में राजतन्त्र ही प्रशासन का रूप था किन्तु पंजाब तथा राजपुताना में कुछ गणतंत्र अब भी विद्यमान थे। केन्द्रीय पंजाब में मद्रों का राज्य था। कांगड़ा घाटी में कुणिन्दों का, दक्षिण पूर्वी पंजाब में यौधेयो का आगरा तथा धौलपुर प्रदेश में अर्जुनायनों का और केन्द्रीय राजपुताना में मालवी का राज्य था। लगभग 400 ई० के पश्चात सभी गणतन्त्र समाप्त हो गये।

2. **राजतन्त्र:** यद्यपि भारत में कहीं–कहीं गणतंत्र विद्यमान थे किन्तु सबसे अधिक लोकप्रिय व्यवस्था राजतन्त्रात्मक रही है और इसी का यहां प्रधानय रहा है। इसलिए गुप्तकाल में भी इसी व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलन रहा है। इस व्यवस्था में जो सम्राट शासन का प्रधान होता था उसी में सार्वभौम साम्राज्य की सत्ता सन्निहित रहती थी और वही समस्त अधिकारों का स्रोत समझा जाता था। इसे देवता स्वरूप माना जाता था और वह देवी अधिकारों से समन्वित समझा जाता था और उसकी प्रत्येक की आज्ञाओं को शिरोधार्य करना प्रजा का पावन कर्तव्य समझा जाता था।

ज्येष्ठ पुत्रो को प्रायः युवराज चुना जाता था उसका अपना एक नागरिक एवं सैनिक कार्यालय था। राजा को अपने साम्राज्य के प्रान्तीय सरकारों के प्रमुखों को आदेश भेज सकता था। यदि राजा वृद्ध हो तो अधिकांश राज्य कार्य रानी के परामर्श से किया जाता था। रानियां तथा राजकुमारियां प्रशासन में अधिक भाग नहीं लेती थीं। यद्यपि कुमारदेवी का बहुत प्रभाव था फिर भी उसने अपने पति चन्द्रगुप्त के प्रशासन में कोई भाग नहीं लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय की रानी ध्रुवदेवी ने भी यही किया

केन्द्रीय प्रशासन

सम्राट: केन्द्रीय शासन का प्रधान सम्राट स्वयं होता था। गुप्त काल में सम्राट देवता स्वरूप माना जाता था जिससे यह प्रमाणित होता है कि इस युग में भी लोग राजा को दैवी स्वरूप तथा उसके दैवी अधिकार में विश्वास करते थे और इसे पृथ्वी पर अपना प्रतिनिधि मानते थे। गुप्तकालीन सम्राटों ने जिन उपाधियों से अपने नामों को अलंकृत किया, उनसे यही सिद्ध हो जाता है कि सम्राट तथा राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अब भी दैवी सिद्धान्त पर विश्वास किया जाता था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसे 'लोकधम्नो देवस्य' अर्थात देवता स्वरूप बतलाया है। इसी प्रशस्ति में उसे विष्णु भगवान तुल्य कहा गया है तथा उसकी तुलना कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा यमराज से की गयी है वह 'परमदेवता' की उपाधि धारण करता था। समुद्रगुप्त के अतिरिक्त गुप्तकालीन अन्य सम्राटों ने भी परम भागवत परमेश्वर तथा इसी प्रकार की अन्य उपाधियों को धारण किया जो सम्राट के देवता स्वरूप की सूचक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपद अब भी बड़ा पवित्र तथा बड़े ही सम्मान का पद समझा जाता था।

यद्यपि सम्राट को देवतास्वरूप माना जाता था परन्तु प्राचीन सिद्धान्त अब भी चल रहा था कि सम्राट अपने हित के लिए नहीं होता वरन् वह प्रजा का ऋणी होता है जो इस ऋण का अनुभव करता है और सारी जनता के हित में सदैव लगा रहता है।

सम्राट शासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था तथा उसी के नियन्त्रण में साम्राज्य का सम्पूर्ण शासन चलता था। उसकी शक्तियां असीम थीं। यद्यपि वह शास्त्रों के अनुसार शासन करता था किन्तु वह स्वयं भी नियमों का निर्माण करता था। कार्यपालिका का वही प्रधान होता था और साम्राज्य का सम्पूर्ण शासन उसी के नाम से चलता था। देश में शांति और सुव्यवस्था बनाए रखना आन्तरिक विद्रोहों को दबाना बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना उसी का कार्य होता था। वही सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था वहीं सर्वोच्च न्यायधीश भी होता था और उसके निर्णय को अन्तिम समझा जाता था अपराधियों को दण्ड भी वही देता था। राज्य में बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति वहीं करता था तथा वह उन्हें दण्डित व पदस्थ भी कर सकता था।

यद्यपि गुप्त शासकों के अधिकारी बड़े ही व्यापक थे परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि सम्राट स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होते थे। वरन् उसे परामर्श देने के लिए एक मन्त्री परिषद तथा राजसभा भी होती थी। प्रयाग प्रशस्ति में भी राजसभा का उल्लेख मिलता है। इसके सदस्य सभ्य कहलाते थे जो न केवल सामान्य विषयों में भी सम्राट को परामर्श देते थे वरन् उत्तराधिकार जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर भी सम्राट को परामर्श देते थे। उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त ने अपनी राज्यसभा के परामर्श से ही समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। सम्राट न केवल अपनी मन्त्री परिषद तथा राजसभा से परामर्श लेता था परन्तु राज्य के बड़े–बड़े अधिकारियों का भी वह परामर्श लेता रहा होगा जो उसके बड़े ही विश्वासपात्र एवं स्वामीभक्त होते थे।

गुप्त सम्राट अपनी विचित्र उपाधियों के लिए भी जाने जाते हैं जो इस प्रकार हैं 'परमदेवता', 'परमभट्टारक', 'एकाधिराज', 'महाराधिराज', 'पृथ्वीपाल', 'परमेशवर', 'एकाधिराज', 'महाराजाधिराज' और 'चक्रवर्ती' थी। श्रीगुप्त घटोत्कच तथा कुमारगुप्त जैसे शासकों को केवल महाराज कहा गया। कालीदास द्वारा दी गयी राजसी उपाधियां हैं 'राजन', 'नरपति', 'देव', 'भट्टारक', 'सम्राट' आदि।

रानियों का महत्व: गुप्तकाल में रानियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। राजा के साथ–साथ रानी के चित्र भी मुद्राओं पर अंकित होने से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वे भी प्रशासन का कार्य देखती थी। कभी–कभी रानियों को 'महादेवी', 'परमभट्टारिकाराशी' जैसी उपाधियों से भी नवाजा जाता था।

युवराज: सम्राट के उपरान्त युवराज का पद आता था। वह अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था। गुप्त सम्राट सामान्यतः अपने उत्तराधिकारी मनोनीत करते थे। यह जरूरी नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज होता था वरन् कोई भी राजकुमार अपनी प्रतिभा एवं योग्यता के बल पर युवराज के पद को प्राप्त कर सकता था। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त ने अपनी प्रतिभा एवं योग्यता के बल पर इस पद को प्राप्त किया था। युवराज सैन्य अभियान में भी जाता था और अपने बल तथा सैनिक प्रतिभा का भी परिचय देता था। चन्द्रगुप्त ने शकों और स्कन्दगुप्त ने पुण्यमित्रों को हराकर अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया था। युवराज तथा अन्य राजकुमार शासन के संचालन में सम्राट की सहायता किया करते थे। ये प्रायः सामन्तों तथा राज्यपालों के रूप में नियुक्त किये जाते थे और प्रान्तीय शासन का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था।

मन्त्रीपरिषद: गुप्त सम्राट इसने विशाल साम्राज्य का शासन अकेले नहीं चला सकते थ अत. उनकी सहायता क [illegible] राजा को परामर्श देने तथा उसे शासन के कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए अनेक अमात्य, मन्त्री तथा सचिव हुआ करते थ मन्त्री कई प्रकार के होते थे। सम्राट के विश्वासपात्र परामर्शदाता मन्त्रिन् कहलाते थे। दूसरे प्रकार के मन्त्री सन्धीविग्राहक कहलाते थे। इनके अधिकार में सधि तथा विग्रह का कार्य रहता था। तीसरे प्रकार के मन्त्री अक्षपटलाधिकृत कहलाते थे। [illegible] में राज्य के कामन पत्र होते थे। कुछ ऐसे अधिकारी भी होते थे जिनका सम्बन्ध सेना से होता था। ये महादण्डनायक तथा [illegible] ाकृत कहलाते थे। अभिलेखों में कुमारमात्य नामक एक पदाधिकारी का भी उल्लेख मिलता है। पहले विद्वान [illegible] कुमारमात्य के पद पर कोई राजकुमार अथवा युवराज ही होता था, जो राज्यपाल तथा अन्य किसी उच्च पद पर नियुक्त [illegible] जाता था। किन्तु अब यह मत प्रतिपादित किया जा रहा है कि कुमारमात्य का तात्पर्य केवल राजकुमारों से ही नहीं [illegible] उच्च अधिकारियों से भी है। डा० राखाल दास बैनर्जी के विचार में कुमारमात्य उन मंत्रियों को कहते थे जिनका [illegible] ाकुल के ही समकक्ष होता था। डा० अल्तेकर का यह भी विचार है कि कुमारमात्य शासन के सर्वोच्च पदाधिकारी होते [illegible] हमें कुमारमात्यों का उल्लेख मिलता है जो राजकुमार न थे। उदाहरणार्थ संधिविग्राहक हरिषेण तथा मंत्री पृथ्वीसेन कुमारमात्य थे। इसी प्रकार करमदण्डा के अभिलेख के अनुसार पृथ्वीसेन कुमारगुप्त का मन्त्री तथा कुमारमात्य था। गुप्तकाल म [illegible] शासन विभाग के पदाधिकारियों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। एक ही मंत्री महाबलाधिकृत तथा महादण्डनायक [illegible] नियुक्त किया जा सकता था। प्रायः अमात्य तथा सचिव का पद वंशानुगत होता था। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध [illegible] की संख्या निश्चित नहीं थी परन्तु प्रायः उनकी संख्या सात–आठ हुआ करती थी। आयुक्त पुरुष नामक पदाधिकारी [illegible] राजकोष से लगता है।

प्रशासनिक ईकाइयां: गुप्त साम्राज्य इतना विशाल था कि केन्द्र से सम्पूर्ण शासन चलना असम्भव था। अतः प्रशासन को [illegible] से चलाने के लिए इसे प्रान्तों में बांटा गया था जिन्हें 'भूक्ती', 'प्रदेश' और 'भोग' कहा जाता था। भूक्ती का तात्पर्य [illegible] इस शब्द का प्रयोग उत्तरी भारत में विशेषकर किया जाता था। प्रत्येक भूक्ती अथवा प्रान्त के शासन के लिए [illegible] जाते थे। प्रत्येक भूक्ती विषय अथवा मण्डल में विभक्त था। विषय आधुनिक जिले की भांति होता था विषय का शासक [illegible] कहलाता था। विषयपति के पद पर प्रायः कुमारमात्य आयुक्तक अथवा महाराज नियुक्त किए जाते थे। विषयपति [illegible] व्यापारियों की श्रेणी के सभापति से सहायता मिलती थी। इनकी सहायता के लिए लेखक भी हुआ करते थ [illegible] प्रमुख व्यक्तियों से भी इन्हें प्रशासन में सहायता मिलती थी।

शासन की सबसे छोटी इकाई गांव होता था। गांव की शासन गांव का मुखिया करता था जिसे 'ग्रामिक' कहा [illegible] सहायता के लिए गांव की एक सभा होती थी। कुछ गावों की सभी सभी व्यस्क ग्रामीणों को मिलाकर बनती थी [illegible] केवल ब्राह्मणों तथा थोडे से बड़े आदमियों को मिलाकर बनती थी। यह सभा भिन्न–भिन्न विभागों क व्यक्तियों को [illegible] थी। कुछ लोग न्याय का कार्य करते थे, कुछ मन्दिरों, तालाबों आदि की देखभाल करते थे। नगर के प्रबन्ध के लिए [illegible] था, सम्भवतः नगर में नगर परिषद भी होती थी।

न्यायिक प्रशासन: गुप्त काल में न्याय का कार्य प्रायः सम्राट स्वयं करता था परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि [illegible] साम्राज्य में न्याय का सारा कार्य अकेले ही सम्राट करता था। केन्द्र तथा प्रान्तों में न्यायधीश होते थ जो न्याय के कार्य करते थे विषय में न्यायधीश प्रधान नगरों में रहते थे। इन न्यायधीशों को वहां के प्रधान सेठ तथा कायस्थ की सहायता मिलती [illegible] सेठ व्यापारियों का तथा कायस्थ कर्मचारियों का प्रतिनिधि होता था। गांवों में न्याय के लिए राज्य कर्मचारी होता [illegible] सहायता से न्याय करता था। कभी–कभी केवल गांव की सभा ही न्याय करती थी और दण्ड देती थी। [illegible] शासन का अधिकार प्राप्त था, अपना विशेष प्रकार का न्यायालय रखती थी। जल तथा अग्नि परीक्षा द्वारा भी न्याय [illegible] काल में दण्ड विधान बहुत कठोर नहीं था। प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। अंग–भंग का दण्ड नहीं दिया जाता [illegible] के लिए दायां हाथ काट दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। दण्ड अपराध [illegible] था। बड़े–बड़े अपराधों के लिए बड़े–बड़े जुर्माने होते थे।

सैन्य संगठन: गुप्तकाल साम्राज्यवाद का युग था। इस युग में कई विजेता हुए जिन्होंने साम्राज्य का विस्तार [illegible] विशाल सेना द्वारा ही सम्भव हो सकता था इसलिए गुप्त सम्राटों ने एक विशाल तथा शक्तिशाली सेना का [illegible] का सर्वोच्च पदाधिकारी महासेनापति अथवा महाबलाधिकृत कहलाता था। उसके अधीन अनेक सेनापति होते थे। [illegible]

की होती थी – (1) हाथी (2) घोड़े (3) रथ तथा (4) पैदल। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रथों का प्रयोग बहुत कम होता था। अश्वारोहियों का प्रधान सेनापति महाश्वपति कहलाता था उसके नीचे घुड़सवारों का नायक होता था जो भटाश्वपति कहलाता था और हस्तिसेना का प्रधान सेनापति महापीलुपति कहलाता था। हस्तिसेना का नायक कटुक कहलाता था। सेनापतियों को बलाधिकृत कहते थे जो महाबलाधिकृत के नियन्त्रण तथा अनुशासन में कार्य करते थे। महादण्डनायक भी उच्च सैनिक पदाधिकारी होता था जिसकी अधीनता में कई दण्डनायक होते थे। द्वार पर पहरा देने वाले प्रतिहार भी होते थे जो अस्त्र–शस्त्र रखते थे। इनका प्रधान महाप्रतिहार कहलाता था। सेना के सामान का प्रबन्ध करने वाले पदाधिकारियों को रणभान्डागारिक कहते थे।

पुलिस का प्रबन्धः जहां गुप्त सम्राटों ने साम्राज्य विस्तार तथा बाह्य सुरक्षा के लिए एक बड़ी शक्तिशाली सेना का गठन किया था वहां आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए उन्होंने पुलिस विभाग की भी समुचित व्यवस्था की थी जिससे चोरी, डकैती, हत्या तथा अन्य प्रकार के अपराधों को रोका जा सके और साम्राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनी रहे। फाह्यान के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि पुलिस का इतना अच्छा प्रबन्ध था कि चोरों और डाकुओं का किसी प्रकार का भय नहीं रहता था। देश में अपराधों की संख्या बहुत कम थी। पुलिस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था। यत्र तत्र पुलिस के लिए 'भट' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। गुप्तचर विभाग के कर्मचारी 'दूत' कहलाते थे।

राजस्व के साधनः गुप्त अभिलेखों के अध्ययन से राज्य के राजस्व के साधनों का पता चलता है। इसमें कुछ थे 'उद्रंग' या 'भूमिकर', 'उपरिक' जो फ्लीट के विचार में उन कृषकों से लिया जाता था जिसका भूमि पर कोई स्वामित्व अधिकार नहीं था, 'वट', 'भूत', 'धान्य', 'हिरण्य', 'अदेय', 'वैष्टीक', या अनिवार्य श्रम 'दशपराध' या दस अपराधों के लिए जुर्माना 'भोग' भाग आदि। कुछ अभिलेखों में ऐसे प्रसंग हैं कि ग्रामों को कर मुक्त कर दिया गया था। एक अभिलेख के शब्दों में "इसे कर नहीं देने हैं। इसे सेना, पुलिस तंग नहीं करेंगे। इसे अपनी गाय व बैल नहीं देने होंगे। न ही फूल, दूध, चरवाह, खाल और ईंधन देने होंगे, न ही नमक या गीले नमक क्रय या विक्रय या खनिज पदार्थ या टैक्स देने होंगे। इसके अनिवार्य परिश्रम नहीं करना होगा, न ही अपने छिपे हुए कोष और पदार्थ 'क्लृपत' और 'उपक्लृपत' देने होंगे।" एक अन्य अभिलेख में राजा द्वारा दी गयी इन भुक्तियों का उल्लेख है "सैनिकों और राजा के छत्रधारियों द्वारा उत्पीड़न से मुक्ति, चारागाह, खालों और अंगार या ईंधन का अधिकार समर्पण न करना, औषधियों और खनिज पदार्थ शुद्ध करने का अधिकार न छोड़ना, जानवरों की वृद्धि न देना, बलि के लिए जानवर न देना, फूल या दूध या छिपे हुए धन और पदार्थ न देना।

डा० अल्तेकर के अनुसार केन्द्र या प्रान्तों में गुप्त प्रशासन सुव्यवस्थित था केन्द्रीय सचिवालय कार्यकुशल थे और वह जिलों तथा ग्रामों में होने वाली घटनाओं की सूचना प्राप्त कर सकता था। गुप्त प्रशासन ने काफी लम्बे समय तक प्रजा को विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक विद्रोह से सुरक्षित रखा। दण्ड विधान का प्रशासन तथा न्याय तथा मानवीयता का सुन्दर समन्वय था। सरकार प्रजा के सांसारिक तथा आध्यात्मिक हितों की रक्षा करती थी। प्रशासन के विकेन्द्रित होने के कारण जनता का भी शासन में हाथ था और स्थानीय संस्थाओं को बहुत से अधिकार प्राप्त थे।

हुण कौन थे

हुण एक खानाबदोश एवं जंगलियों के समूह थे। आरम्भ में वे चीन के पड़ोस में रहते थे। वे पश्चिम की ओर बढ़े और दो भागों में विभक्त हो गये। एक भाग वोल्गा नदी की ओर चला गया और दूसरा भाग आक्सस नदी की ओर चला गया। जो हुण यूरोप चले गये वे काले हुण कहलाए और उनका सबसे बड़ा महान नेता ऐट्टीला था। जो हुण ईरान और भारत में रहने लगे वे श्वेत हुए थे और ऐफ्थालाईट्स कहलाए। पाचवीं शदी के मध्य में वे आक्सस घाटी में शक्तिशाली बन गये। 484 ई० में उनके राजा अक्शौनवर ने ईरान के सस्सैनियन राजा फिरोज को परास्त किया और उसका वध कर दिया। इससे हुणों का मान और बढ़ गया और छठी शदी के अन्त में वे एक विशाल साम्राज्य पर राज्य करते थे जिसकी राजधानी बल्ख थी। हुणों ने स्कन्दगुप्त के समय में भारत पर आक्रमण किया था लेकिन उन्हें खदेड़ दिया गया। पराजय इतनी भयंकर रही होगी कि उन्होंने बहुत लम्बे समय तक भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया।

तोरमानः भारत में हुणों के आक्रमण के विषय में अधिक जानकारी हमारे पास नहीं है। दो हुण राजाओं तोरमान और मिहिरकुल के नाम के सिक्कों तथा अभिलेखों से उनके बारे में जानकारी मिलती है। उन्हें हुण समझा जाता है लेकिन इसका कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। 520 ई० में गांधार के हुण राजा के दरबार में चीनी दूत सोंग–युन अपने समय से दो पीढ़ी पहले हुणों द्वारा इस राज्य पर

आक्रमण तथा अधिकार का उल्लेख किया है। उसने इस प्रदेश का विवरण इस प्रकार दिया है [illegible] किया था और बाद में एक टेगिन या राजवंश के राजकुमार को राजा बना दिया, इसके बाद दो पीढ़ियां बीत गयीं [illegible] स्वभाव अत्याचारी और प्रतिकारी था और वह बहुत अत्याचार करता था। वह बुद्ध के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं [illegible] दानव पूजा उसे प्रिय थी ..... केवल अपनी शक्ति पर निर्भर होकर उसने की–दिन या कश्मीर के राजा के साथ [illegible] उसने राज्य की सीमाओं के विषय में झगड़ा किया। तीन वर्ष तक वह उससे युद्ध कर चुका था। राजा के पास [illegible] थे। राजा निरन्तर अपनी सेनाओं के साथ सीमा पर रहता था और कभी अपने राज्य में वापस न आया।

एक यूनानी लेखक कॉस्मस ने लगभग 547 ई० में अपनी कृति क्रिश्चियन टोपोग्रैफी में इस प्रकार लिखा "भारत से ऊपर [illegible] की ओर श्वेत हुण रहते थे। यह वर्णन मिलता है कि गील्लास नामक एक शासक युद्ध में जाते समय अपने साथ [illegible] तथा बहुत बड़ी घुड़सवार सेना लेकर जाता है। वह भारत का स्वामी है और लोगों पर अत्याचार करके उनसे शुल्क ले [illegible] नदी भारत के विभिन्न देशों को हुणों के देश से अलग करती है।" वही लेखक बताता है कि फाईसन नदी सिन्धु है [illegible] के अन्त में यह छठी सती के प्रारम्भ में तोरमान पंजाब से बढ़ा और उसने पश्चिमी भारत के बहुत बड़े भाग को विजित किया [illegible] भी उसके राज्य में था। तोरमान के सिक्के उसके विदेशी होने का प्रमाण देते हैं और वह सिद्ध करते हैं कि वह उत्तर पश्चिम [illegible] पंजाब व कश्मीर के भागों में राज्य करता था। सम्भवतः गांधार में राज्य करने वाले हुण परिवार से सम्बन्धित था। आठवीं शती [illegible] एक जैन कृति "कुवलयमाला" में कहा गया है कि तोरमान संसार का प्रभु था। चन्द्रभागा या चनाब नदी के तट पर [illegible] रहता था। उसने जैन मत स्वीकार कर लिया था।

तोरमण के बारे में डा० उपेन्द्र ठाकुर का मत है कि "महान विजेता तोरमाण असंदिग्ध रूप से अत्यधिक कुशल शासक और [illegible] राजनीतिज्ञ था जिसने हुणों की खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त किया, उसने अपने पराक्रम, दूर दृष्टि, शान्त मस्तिष्क, राजनैयकता [illegible] अराधक व्यवहार के द्वारा मध्य एशिया से पाटलीपुत्र तक फैले विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसने चालू प्रशासकीय ढांचे [illegible] कोई परिवर्तन नहीं किया तथा किसी को बेकार में परेशान नहीं किया। उसने धन्यविष्णु जैसे अधिकारियों को महिहि के पद [illegible] प्रान्तीय प्रशासन की पुरानी प्रणाली तथा पुराने अधिकारी परिवारों तथा सामन्ती को बनाए रखा।

उसकी इस दूरदर्शिता से नये विजित क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से सुविधा रही और इस युग के शासक परिवार [illegible] नहीं हुई। उसने इतने कम समय में उत्तरी भारत के पर्याप्त भाग विजित किया था उसके उदाहरण बहुत कम हैं, यह महान [illegible] तथा आश्चर्यजनक कार्य था जिससे अशोक तथा समुद्रगुप्त भी ईर्ष्या कर सकते थे। वह धार्मिक तथा प्रशासकीय मामलों में सहिष्णु [illegible] रहा, उसने अपने प्रशासन को स्थिर किया, सिक्के जारी किये तथा गुप्त साम्राज्य के विघटन की गति को तीव्र किया [illegible] साम्राज्य का शव ही शेष रह गया था जिसे शीघ्र ही राजनीतिक गिद्धों ने नोच डाला जो ऐसे अवसरों की सदैव तलाश [illegible] तोरमण रिटायर हो गया किन्तु गुप्तों का वैभव कभी नहीं लौटा और अगली शताब्दी में इतिहास के मन्त्र से वे पूर्णतः गायब हो [illegible] देश की राजनीतिक एकता इतनी बिगड़ गयी थी कि उसकी मरम्मत नहीं हो सकी तथा 350 ई० के बाद भारतीय इतिहास [illegible] तथा सामान्य जीवन की साझी कड़ी कहीं खो गयी। यह सत्य है कि इस समय तक हुण राजनीतिक दृष्टि से गायब [illegible] पुराना जीवन लौटकर नहीं आया।"

मिहिरकुल: लगभग 515 ई० में तोरमण का पुत्र मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी बना। ह्युनत्सांग के अनुसार शाकल [illegible] राजधानी थी। वह यह भी बताता है कि "मिहिरकुल" ने इस नगर पर अपना अधिकार स्थापित किया। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में [illegible] रुचि थी किन्तु बाद में उसने आदेश जारी कर दिया कि पांच दिनों में सभी भिक्षुओं को समाप्त कर दिया जाए [illegible] छोड़ा जाए।

'राजतरंगिणी' में मिहिरकुल को शक्तिशाली राजा कहा गया है जिसने गांधार और कश्मीर पर राज्य किया और [illegible] लंका को विजित किया। मिहिरकुल को प्रचण्ड स्वभाव का व्यक्ति बताया गया है। उसके अत्याचार की लम्बी [illegible]

प्रतीत होता है कि मिहिरकुल एक शक्तिशाली राजा था जिसने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर बढ़ाई [illegible] अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका प्रभुत्व ग्वालियर तक फैला हुआ था। सम्भवतः उससे आगे भी उसके प्रभुत्व [illegible] जाता है। कॉस्मस ने हुण सरदार को भारत का स्वामी बताया है। किन्तु मिहिरकुल शीघ्र ही परास्त हो गया। मंदसौर [illegible] यशोधर्मन दावा करता है कि 'प्रसिद्ध शासक मिहिरकुल ने भी उसके चरणों में सम्मान अर्पित किया जिसका सिर [illegible]

के अतिरिक्त किसी के आगे नहीं झुका था और जिसके बाहुपास में आकर बर्फ का पहाड़ (हिमालय) गलत ही अपने आपको अजेय दुर्ग समझकर गर्व अनुभव करता है।"

ह्यूनत्सांग ने गुप्त सम्राट द्वारा मिहिरकुल की पराजय का वर्णन इन शब्दों में किया है "मगध नरेश बालादित्य राजा बुद्ध के नियम का अनन्य उपासक था। जब उसने मिहिर कुल के अत्याचारों तथा नृसंशता के समाचार सुने तो उसने राज्य की सीमाओं को पूर्णतया सुरक्षित कर लिया और शुल्क देने से इन्कार कर दिया। जब मिहिरकुल ने उसके राज्य पर आक्रमण किया तो बालादित्य ने अपनी सेना सहित एक द्वीप में आश्रय लिया। मिहिरकुल ने अपनी सेना का बड़ा भाग अपने छोटे भाई के अधीन छोड़ दिया, स्वयं किश्तियों पर सवार हुआ और अपनी सेना के कुछ भाग के साथ द्वीप पर उतरा। किन्तु एक तंग दर्रे में बालादित्य ने मिहिरकुल का वध करने का निश्चय किया किन्तु उसकी माता के कहने पर उसे मुक्त कर दिया। वापस लौटकर मिहिरकुल को ज्ञात हुआ कि उसका भाई वापस लौटकर आया था और उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। इसलिए उसने कश्मीर में आश्रय की मांग की और उसे यहां आश्रय मिला भी। तब उसने यहां एक विद्रोह करवाया और राजा का वध करके स्वयं कश्मीर के सिंहासन पर बैठ गया। उसने गांधार के राजा का वध किया और राजवंश को समाप्त किया। स्तूपों तथा संघराओं को नष्ट किया और देश की सम्पत्ति को लूटकर लौट गया। किन्तु एक ही वर्ष मे उसकी मृत्यु हो गयी।"

लंका के राजा के विरुद्ध भी उसके एक अभियान का वर्णन मिलता है। " उसकी रानी ने अपने वक्ष पर लंका का बना हुआ एक क्रासलेट पहना हुआ था। जिस पर लंका के राजा के पैरों का चित्र था। मिहिरकुल ने उसे अपमान समझा और लंका पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया।" यह कहना कठिन है कि इस अनुश्रति में कितना सत्य है।

मिहिरकुल की मृत्यु की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार उसकी मृत्यु 540 ई० में हुई। कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि उसकी मृत्यु 547 ई० में हुई। किन्तु मिहिरकुल इतना अत्याचारी था कि "उसकी मृत्यु के समय मेघगर्जना हुई और बौछार हुई और घनघोर अन्धकार छा गया, पृथ्वी कम्पायमान हो गयी और एक भयानक तूफान आया।" ये विचार ह्यूनत्सांग के हैं।

मिहिरकुल के धर्म के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। उसके सिक्कों पर शिव के बैलों के चित्र हैं। सम्भवतः वह शिव का उपासक था। ग्वालियर अभिलेख में बताया गया है कि मिहिरकुल ने सूर्य का एक मन्दिर बनवाया, सम्भवतः वह सूर्य का उपासक था।

उत्तर गुप्त वंश जो कि एक अभिलेख में एक प्रसंग है कि "मौरवरियों के हाथी गर्व के साथ आगे बढ़ते गये। जिन्होंने हुणों की सेनाओं को कुचल दिया था।" सम्भव है कि हुणों पर यह विजय मौरवरी राजा ईसान वर्मा ने प्राप्त की हो। मौरवरियों ने भी हुण शासकों की तरह सिक्के चलाए। उन्होंने उन प्रदेशों पर भी राज्य किया जो पहले हुणों के अधिकार में थे।

प्रतीत होता है कि मिहिरकुल की पराजय से भारत के हुणों की प्रभुता समाप्त हो गयी। इसके बाद भारत के इतिहास में विप्लवकारी शक्ति न रही। तुर्कों तथा इरानियों द्वारा 563 तथा 567 ई० के बीच आक्सन के तटों पर हुणों की पराजय से भी भारत में उनका मान कम हो गया। छोटे--छोटे हुण सरदार पंजाब तथा उत्तर पश्चिमी भारत में राज्य करते रहे। उसके साथ–साथ हुण भारतीय समाज में विलीन हो गये।

हुण सभ्यता: पश्चिमी देशों के बौद्ध अभिलेखों में कहा गया है कि हुणों की कोई लिखित भाषा नहीं है और उनकी शिष्टाचार के नियम भी त्रुटिपूर्ण हैं। ग्रहों आदि के चलन का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। वर्षों की गणना में उनके कोई मध्यस्थ भाग या कोई और छोटे–बड़े महीने नहीं है। वे केवल वर्ष को बारह भागों में बांट देते हैं। संगीत के कोई साज नहीं मिलते। येथा देश के राजवंश की स्त्रियां लम्बे--लम्बे वस्त्र पहनती हैं जो तीन फुट से अधिक धरती पर लटकते हैं। वे अपने सिर पर आठ फुट लम्बा एक सींग पहनती हैं जिसमें से तीन फुट भाग लाल रंग का होता है। .....धनी तथा निर्धन लोगों के अपने–अपने ढंग के वस्त्र होते हैं। उनमें से अधिकांश बुद्ध में विश्वास नहीं करते और झूठे देवताओं की पूजा करते हैं। वे जीवों की हत्या करते हैं और उनका मांस खाते हैं।

यह सत्य है कि हुणों ने थोड़े समय के लिए भारत पर राज्य किया, किन्तु उन्होंने देश को कई प्रकार से प्रभावित किया। राजनीतिक दृष्टि से हुण आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य के पतन में योग दिया। साम्राज्य के साधन समाप्त हो गये। राजनीतिक एकता समाप्त हो गयी, देश छोटे–छोटे राज्यों में बंट गया। आक्रमणों से गड़बड़ और अव्यवस्था फैल गयी और इससे जनता की हानि हुई।

सांस्कृतिक दृष्टि से हुण अभिशाप सिद्ध हुए। हुणों ने कला की उत्कृष्ट कृतियां नष्ट कर दी। उन्होंने विहारों तथा मन्दिरों को गिरा दिया और जला दिया। उन्होंने केवल गुप्त कला की कृतियों को ही नष्ट नहीं किया बल्कि इतिहास के बहुमूल्य स्त्रोतों को भी जला दिया।

सामाजिक दृष्टि से हुण आक्रमणों का महत्व है। हुणों ने भारतीयों की जातिय रचना को प्रभावित किया। भारत में राजनैतिक सत्ता खो बैठने के बाद वे देश में ही बस गए। उन्होंने भारतीय स्त्रियों से विवाह किया और अन्त में भारतीय समाज में ही विलीन हो गये।

डा० स्मिथ बताते हैं कि "राजपूतों की तथाकथित 36 जातियां में एक को हुण कहा गया। हवेल ने लिखा है इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान असंख्य राजपूत जातियों में विदेशी तत्व हैं जिन्हें इन्डो आर्य समाज ने चौथी से छठी शताब्दी तक अपने अन्दर विलीन कर लिया।"

नैतिक प्रभाव की हैवेल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है "हुणों के रक्त के अत्यधिक मिश्रण से इण्डो आर्य परम्परा का नैतिक स्तर नीचा हो गया और बहुत से अश्लील अन्धविश्वासों को पनपने का मौका मिला जिनकी आर्यव्रत के महान दार्शनिक ऋषियों और आचार्यों ने कल्पना भी नहीं की थी।" उसी लेखक के विचार में हुण आक्रमणों ने पूर्वी निरंकुशता के लिए रास्ता खोल दिया। स्मिथ ने इस बारे में लिखा है "निरंकुशवाद भूल तारतार या मंगोल या अधिक सम्भावना यही है कि भारतीयों ने इसे मंगोल हूणों से ग्रहण किया।

क्या गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था या नहीं इस बारे में विद्वानों में विरोधाभाष दिखाई देता है। कुछ प्रारम्भिक विद्वान यह मानते थे कि गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल था। उसे क्लासिकल युग भी कहा जाता है। सामान्यतः स्वर्ण काल उस काल को कहते हैं जब किसी देश की संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर हो। किसी देश का क्लासिकल युग वह युग होता है जब उस देश के लेखकों में वे सांस्कृतिक मानदण्ड स्थिर होते हों जो परवर्ती युगों के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं। डा० रौमिला थापर लिखती हैं क्लासिक युग वह युग है जिसमें सहित्य, वास्तुकला तथा ललित कलाएं उत्कर्ष के ऐसे स्तर पर पहुंच जाएं कि आने वाले समय के लेखक आदर्श बन सकें।"

डा० एम०ए० मेहण्डेल लिखते हैं कि गुप्तकालीन सम्राटों के संरक्षण में संस्कृत ने बहुत उन्नति की। उसी काल में पुराणों को सम्भवतः साहित्य को अन्तिम रूप दिया गया। उसी युग में रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों को अन्तिम रूप दिया गया। साहित्य के सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई। कालीदास भवभूति भारवती और माघ उस समय के नाटककार और कवि थे। दण्डीन सुबन्धु और बाण उस समय के गद्य लेखक थे। चन्द्र, वामन और भृतहरि उस समय के व्याकरण लेखक थे। आर्यभट्ट वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे नक्षत्र वैज्ञानिक थे। इसलिए गुप्त को संस्कृत साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। पहले कुछ विद्वानों का मत था कि गुप्त काल में संस्कृत साहित्य का पुनर्जन्म हुआ परन्तु यह ठीक नहीं था क्योंकि संस्कृत का किसी काल में भी ह्रास नहीं हुआ था। कालीदास और अश्वघोष की कृतियों से सिद्ध होता है। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ लेख और वत्सभटी के मन्दसौर शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत काव्य शैली चौथी और पांचवी शताब्दी में परिपक्व अवस्था में थी।

डा० एल०डी० बारनेट के विचार में गुप्त काल का भारत के इतिहास में वही स्थान था जो कि युनान के इतिहास में पेरिक्लीज़ का था। वी०ए० स्मिथ ने लिखा है कि गुप्त काल में कई क्षेत्रों में उन्नति हुई। इसलिए गुप्तकाल की इंग्लैंड के एलिजाबेथ के काल से तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार इंग्लैंड में शेक्सपीयर सब लेखकों से श्रेष्ठ थे उसी प्रकार भारत में कालीदास थे। जिस प्रकार इंग्लैंड में शेक्सपीयर के अलावा उसके काल में और भी बड़े लेखक थे उसी प्रकार भारत में कालीदास के अलावा और भी बड़े लेखक थे। आर्यभट्ट और वराहमिहिर गुप्तकाल में संसार के सर्वप्रथम नक्षत्र वैज्ञानिक और गणितज्ञ थे।

डा० आर०सी० मजूमदार का विचार है कि गुप्तकालीन सम्राट भारतीय इतिहास पर अपनी छाप छोड़ गये। उन्होंने एक आदर्श पेश किया जो कि भविष्य में अनुकरणीय था। गुप्तकाल की महत्ता इतनी थी कि अब भी हम उसका भारत का स्वर्ण युग अथवा क्लासिकल युग कहते हैं। उस काल में लोगों ने क्षेत्रों में ऐसी उन्नति की जिसकी आज तक सराहना होती है। उन्नति के क्षेत्र में साहित्य विज्ञान कला आदि थे। गुप्त सम्राटों ने लोगों को शान्ति प्रदान की। गुप्त साम्राज्य इतनी अधिक अवधि तक रहा जिसका कोई अन्य साम्राज्य भारत में न रहा। गुप्त सम्राटों ने ऐसा आदर्श पेश किया जिससे कई पीढ़ियां प्रभावित हुई।

डा० ए०के० मजूमदार ने लिखा है कि गुप्त काल में भारत के इतिहास में एक नया अध्याय शुरु हुआ। गुप्त काल के सम्राटों ने अपनी छाप उस युग पर लगा दी। इस काल में संस्कृत साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुंच गया। कालीदास ने नाटक और महाकाव्य और बाण ने गद्य साहित्य की रचना की। इस काल में पुराणों को अन्तिम रूप दिया गया। इसी काल में असंग वसुबन्धु और दिग्नाग जैसे बौद्ध दार्शनिक हुए। समुद्रगुप्त वसुबन्धु का संरक्षक था। कला के क्षेत्र में भी गुप्त काल का बड़ा योगदान रहा।

डा० ए०के० मुंशी के अनुसार प्रारम्भिक गुप्त सम्राटों ने चक्रवर्ती छवि को बनाए रखने के साथ--साथ राज्य को समृद्ध और सुखी बनाया।" वसुबंन्धु और नयन्भारो के विचार, कालीदास के श्रेष्ठ काव्य और नाटक, वराहमिहिर के [illegible] आविष्कार, दिल्ली का लौह स्तम्भ, वास्तु मन्दिरों के निर्माण का प्रारम्भ, अजन्ता भितिचित्रों की कला का सृजन, [illegible] सम्प्रदायों का उदय, महाभारत का पूरा होना और वायु पुराण और मत्स्य पुराण की रचना इस युग की घटनाएं [illegible]

केवल विजयी और प्रशासनिक निपुणता पर आधारित नहीं था। इसकी महत्ता इसके समग्र दृष्टिकोण में छिपी थी। इसकी शक्ति सैनिक शक्ति पर उतनी आश्रित थी जितनी भीतरी व्यवस्था और आर्थिक प्राचुर्य पर।"

डा० दण्डेकर के शब्दों में "यह युग अप्रतिम और हर दृष्टि से भारतीय उपलब्धियों का युग था। हिन्दू प्रतिभा की सृजनात्मक गतिविधियों के पल्लवन का काल था और इसे सचमुच भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।"

भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण गुप्तकाल स्वर्ण काल कहा जा सकता है। उपाध्याय ने इसकी तुलना यूनान के पेक्लस काल से, रोम के आगस्टस काल से, इटली के पुनर्जागरण काल से तथा इंग्लैंड के एलिजाबेथ काल से की है।

डा० रोमिला थापर ने गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग मानने वाले मत को पूर्णतया अस्वीकार तो नहीं किया है परन्तु उसको सीमित अवश्य किया है। उनका कहना है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इतिहास के लिखने वालों के स्वर्ण युग एक यूटोपिया था जिसका अस्तित्व सुदूर अतीत में ही हो सकता था। इसलिए आरम्भिक भारतीय इतिहासकारों ने उसे स्वर्ण युग कहा जिसमें हिन्दू संस्कृति दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गयी। फिर भी गुप्त काल का स्वर्ण युग केवल उत्तर भारत तक सीमित था क्योंकि दकून और दक्षिणी भारत में गुप्त काल के पश्चात ही उच्च स्तर की सभ्याता का विकास हुआ। उनका कहना है कि स्वर्ण युग केवल उच्च वर्गों तक ही सीमित था।

डा० डी०एन० झा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत' में यह विचार पेश किया है कि गुप्त काल किसी भी प्रकार से भारत के इतिहास का स्वर्ण युग नहीं था। झा महोदय लिखते हैं कि सारनाथ की बुद्ध प्रतिमाएं गुप्तकाल की मूर्तिकाल की सर्वोच्च उपलब्धियां मानी जाएगी और अजन्ता के तत्कालीन चित्रों पर बौद्ध जीवन की गहरी छाप है। आर्यभट्ट और वराहमिहिर की कृतियों में खगोल विज्ञान से सम्बन्धित जिन तथ्यों को निरूपित किया गया है उनका भारत की प्राचीन मान्यताओं से नाममात्र का संबंध है। वराहमिहिर ने खगोल विज्ञान से सम्बन्धित पांच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। जिनमें से एक सिद्धान्त का नाम रोमक सिद्धान्त। उसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से रोमन सिद्धान्त से है। उसका दूसरा सिद्धान्त है पालिस सिद्धान्त जिस पर सिकन्दरया के काल गयी ज्योतिषविद पाल की स्थापनाओं की छाप है। इसलिए तथा कथिक हिन्दू पर्नजागरण के साक्ष्य के रूप में कालीदास के ग्रंथों, कुछ पुराणों सिक्कों और शिलालेखों को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनसे संकेत मिलता है कि गुप्त राजाओ में वैष्णव मत ने शैवमत नामक दो सम्प्रदायों को संरक्षण प्रदान किया था। लेकिन कालीदास के ग्रंथों में बौद्धिक पुनर्जागरण अथवा साहित्य के पुर्नउत्थान का संकेत नहीं मिलता। गुप्तकाल के बहुत पहले से ही चारण काव्य के रूप में पुराणों का अस्तित्व था। गुप्त काल में उनका अन्तिम रूप में संकलन और सम्पादन किया गया। तब से वर्तमान रूप में प्रकट हुए। वैष्णव मत और शैव मत से भी किसी धार्मिक पुर्नउत्थान का बौद्ध नहीं होता। इन दोनों धर्मों के मूल सिद्धान्त पहले भी विद्यमान था। अब सामन्ती जीवन के उद्भव के नये संदर्भ में वे अधिक से अधिक अनुयाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। इसी तरह हिन्दू शब्द का प्रयोग भी सही संदर्भ में नहीं किया जाता। गुप्त काल में देश के कुछ भागों में किसानों की स्वतन्त्र स्थिति की उपेक्षा की गयी। वे कृषिदास तथा अर्ध–कृषिदास अवस्था में आ गये। भूमि का बन्दोबस्त करने की प्रथा ने स्थायी आदमियों को कठपुतलियों के दर्जे में पहुंचा दिया। बेगार प्रथा और अन्य कई प्रकार की उगाहियों और लगानों से लदे रहने के कारण गंगा के मैदानी इलाकों में शहरी केन्द्रों का ह्रास हो गया। महिलाओं की अवस्था भी खराब हो गयी और वे स्वयं सम्पत्ति मान ली गई। गुप्तकालीन साहित्य में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वर्ण भेद का नंगा नाच देखा जा सकता था। न्याय और न्याय के मामले में वर्गीय भेदभाव बरता जाता था। गुप्तकाल में छुआछूत की प्रथा पहले से अधिक मजबूत हो गयी। उस समय के सबसे ऊंचे कवि और नाटककार आमतौर पर किसी रमणी के प्रतिपुरुष के मासल और कामोत्तेजक प्रेम को विषयवस्तु के रूप में ग्रहण करते थे। अशिक्षित लोग राजदरबार के अलंकृत साहित्य को शायद ही समझ अथावा ग्रहण कर पाते थे। उस समय के लोग तनिक भी सुखी नहीं थे। देश के कुछ भागों में दास प्रथा के प्रचलन के कारण किसान आर्थिक बंधनों में जकड़ गये। फाह्यान ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में लोग सुखी थे परन्तु डा० डी.एन. झा का मत है कि निस्संदेह उच्च वर्ग के लोग सुखी और समृद्ध थे जैसा कि उस समय के साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित होता है परन्तु ऐसा निम्न श्रेणी के लोगों के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी अवस्था ठीक नहीं थी। सामाजिक तनाव विद्यमान था। वर्ण विभक्त समाज को कायम रखने के लिए धर्म के हथियार का प्रयोग किया जाता था। उच्च वर्ग के लोगों के लिए इतिहास के सभी युग स्वर्ण युग हैं परन्तु साधारण जनता के लिए वे कभी स्वर्ण युग नहीं हैं। जनता का स्वर्ण युग अतीत के गर्भ में नहीं परन्तु भविष्य के गर्भ में निहित है।

ऐसे ही विचार डा० डी०एन० झा और कृष्ण मोहन श्रीमाली द्वारा सम्पादित पुस्तक 'प्राचीन भारत का इतिहास' में [illegible] है कि गुप्तकाल के साहित्य और कला के क्षेत्रों की तथाकथित उपलब्धियों को भिन्न दृष्टिकोण से देखने की [illegible] कालीदास की कृतियां के साहित्यिक लालित्य द्वारा ध्वनित उच्चवर्गीय जीवन मूल्यों और आस्थाओं को छिपाया नहीं [illegible] कि उस समय कला का संरक्षण बड़े–बड़े सामंतों के हाथों में था। जब समय की तथाकथित राजनीतिक एकता कुछ कम [illegible] होती है, जब हम गुप्त काल में होने वाले ग्राम्य आत्मनिर्भरता के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते हैं, अतः स्वर्ण युग [illegible] पर आधारित प्रतीत नहीं होता। विशेषकर जन–साधारण के लिए तो गुप्तकाल स्वर्ण युग नहीं था और राष्ट्र उन्हीं [illegible] उन्हीं के परिश्रम से एक विशाल भट्टालिया का निर्माण होता है। तथाकथित राजनीतिक एकता, हिन्दु पुनर्जागरण [illegible] भारवी, वसुबन्धु, देवगढ़, भीतरगाव, अजन्ता और बाघ जैसी उपलब्धियों के पीछे वे पिसते हुए लोग थे जिनका [illegible] कोई हरिषेण, वत्सभट्टी अथवा बाणभट्ट नहीं था।

डा० डी०एन० झा ने प्रो० डी०डी० कोसाम्बी का अनुशरण किया है जो यह मानते थे कि गुप्त काल में "स्वामिभक्ति [illegible] और आश्रितों को सामन्तीय प्रमुखों के साथ एक श्रृंखला में निबद्ध कह दिया" और यही भाव धर्म में भक्ति सिद्धान्त [illegible] विकसित हुआ। जहां तक बौद्ध और जैन धर्मो में भी भक्ति अंश पहुंच गया तो सामन्तीय व्यवस्था को प्रतिबिम्बित [illegible]

वी०ए० स्मिथ, आर०सी० मजूमदार, ए०के० मजूमदार, एम०ए० महेण्डेल, दण्डेकर और अन्य विद्वानों का यह मत [illegible] भारत के इतिहास का स्वर्ण युग था और उनके सामने डा० झा का मत ठीक दिखाई नहीं देता। डा० झा [illegible] निर्भर है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे इतिहास के तथ्यों को तोड़–मोड़ कर अपने मत को सिद्ध करना चाहते [illegible] ने लिखा है डी०एन० झा जैसे विद्वानों ने सफाई इंसपेक्टर की मनोवृति का परिचय देते हुए गुप्तकाल की भारतीय संस्कृति के [illegible] पक्षों पर विशेष रूप से ध्यान दिया है जिनमें उन्हें कुछ कमी दिखाई दी लेकिन वे दोष अधिकतर उनके विचारों में [illegible] है। गुप्त काल में स्त्रियों की दशा, नगरों का ह्रास, पुराणों में गुप्त सम्राटों की तथाकथित आलोचना आदि के बारे में उन्होंने सत्य को [illegible] है। यद्यपि उनके कथनों को पूर्ण रूप से सत्य भी मान लिया जाए तो उससे केवल इतना निष्कर्ष निकलेगा कि गुप्त काल की संस्कृति [illegible] का लाभ सभी वर्गो और सभी प्रदेशों को नहीं मिला। लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा कब हुआ है कि संस्कृति की [illegible] सभी वर्गो और प्रदेशों को समान रूप से मिला हो। ऐसा न तो पेरिक्ल के काल मे एथन्स में हुआ न आगस्टस के [illegible] में हुआ। भारत वर्ण व्यवस्था का देश रहा है और अब भी है। इस व्यवस्था के दोष किसी से छिपे नहीं है। [illegible] देकर भारत के इतिहास के किसी युग विशेष न मानना कदापि उचित नहीं है। जो इतिहासकार संस्कृत साहित्य [illegible] कला की उत्कृष्ट कृतियों में केवल मांसल सौन्दर्य ही पाते हैं और सारनाथ और मथुरा के बुद्ध और कालीदास के [illegible] 'रघुवंश' को नजरअन्दाज करते हैं, वे पक्षपाती हैं। वही हाल इन इतिहासकारों का है जो विदेशी रामक और पोलस [illegible] को भारतीय संस्कृति की जीवन शक्ति का प्रमाण मानने के बजाय उनकी चर्चा यह सिद्ध करने के लिए करते हैं कि [illegible] संस्कृति हिन्दू नहीं थी। इसी प्रकार भक्ति का अध्ययन एक उत्कृष्ट धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप मे करने [illegible] चर्चा यह सिद्ध करने के लिए करते हैं कि उस युग में धर्म का उपयोग सामाजिक आर्थिक व्यवस्था कायम [illegible] जा रहा था। यह ठीक है कि तत्कालीन साहित्य में गुप्त नरेशों की प्रशस्ति नहीं मिलती परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं [illegible] काल में भारतीय समाज में उनके महत्व को उस प्रकार स्वीकार नहीं किया गया था जिस प्रकार यूरोप में सिकन्दर [illegible] के महत्व को स्वीकार किया गया था। उससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय का साहित्य 'राजकीय [illegible] गुप्त [illegible] के साहित्य में गुप्त सम्राटों का गुणगान होता भी डा० झा जैसे इतिहासकार उसके महत्व को मानने से इन्कार कर [illegible] सृजन राजाओं की स्तुति के लिए किया गया था। उनका कहना है कि उस युग के सामान्य जनों के गीत गाने के लिए [illegible] वत्सभट्टि तथा बाणभट्ट नहीं था परन्तु सामान्य लोगों के जीवन का वर्णन राजकीय अभिलेखों में नहीं मिल [illegible] प्राचीन संस्कृति में राजकीय अभिलेखों में आम आदमी का वर्णन नहीं मिलता। यदि हमें सामान्य जनों का [illegible] हमें उस काल के कथा साहित्य, पुराण लोकगीत, मेले, त्यौहारों का वर्णन और मूर्तियों आदि का देखना [illegible] राजकीय सहित्य और कलाकृतियों में नहीं मिल सकता।

ऊपर वर्णित विद्वानों के विचारों को जानने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंच हैं कि गुप्तकाल के साहित्य, कला [illegible] में हम स्वर्ण युग कह सकते हैं जबकि आर्थिक क्षेत्र में शहरों के ह्रास, सामन्तवाद व्यापार के ह्रास का दर्शन [illegible] को आर्थिक रूप से स्वर्ण काल नहीं कह सकते।

अध्याय-3

फाह्यान का विवरण
Account of Fahien

फाह्ययान एक चीनी यात्री था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में भारत आया। यद्यपि उसने तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में कुछ नहीं लिखा है। यहां तक कि उसने अपने काल के भारतीय राजाओं के नामों का उल्लेख भी नहीं किया है। वह मध्य चीन से चलकर गोबी मरूस्थल तथा हिन्दुकुश पर्वत को पार करता हुआ भारत पहुंचा, 399 ई० से 414 ई० तक वह भारत में रहा तथा उसने भारत के विभिन्न बौद्ध धर्म से सम्बन्धित व अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों की यात्रा की। इन यात्रा बर्णनों को उसने एक पुस्तक के रूप में छोड़ा जो चन्द्रगुप्त द्वितीय की सांस्कृतिक अवस्था के निर्माण में बहुत सहायक है।

जन्म तथा बाल्यकालः फाह्यान का जन्म चीन के वुयंग नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता बौद्ध धर्म का अनुयायी था तथा इस कारण वह उसे बौद्ध धर्म में दीक्षा देना चाहता था। उसके तीन और बड़े भाई थे जो अल्पायु में ही मर चुके थे। फलस्वरूप उसका पालन–पोषण बड़े अच्छे तथा स्नेहपूर्ण वातावरण में हुआ। एक बार वह बीमार पड़ा तथा उसके बचने की कोई आशा नहीं रही। इस पर उसके पिता ने उसे समीपवर्ती बौद्ध मठ में भेज दिया जहां भिक्षुओं की सेवा के कारण वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गया। इसके पश्चात वह लगातार बौद्ध मठों में ही रहने लगा। यहां पर उसे बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया और उसकी बुद्ध के प्रति अटूट आस्था बन गई। अब वह एक भ्रमणकारी बौद्ध भिक्षु बन गया।

प्रारम्भिक यात्राः बौद्ध ग्रंथों की तलाश तथा बौद्ध जन्म भूमि के दर्शन की इच्छा से प्रेरित होकर उसने 399 ई० में कुछ मित्रों के साथ अपनी भारत यात्रा की शुरुआत की थी। उसके साथ भारत के लिए प्रस्थान करने वालों में चीनी यात्री हुईचिंग, तओ चेंग, हुई–यिग और हुई–वेई थे। मार्ग में उसकी भेंट अन्य चीनी भारतीय यात्रियों से हुई।

सर्वप्रथम वह शान–शान पहुंचा, यहां भारतीय सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव था। इस स्थान पर लगभग चार हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। ये सभी भिक्षु हिनयानी थे यहां के कुछ लोग अन्य भारतीय धर्मों के भी अनुयायी थे। इसके पश्चात वह यात्रा की कठिनाइयों को सहन करते हुए अपने सह यात्रियों के साथ करा नाम शहर पहुंचा। यहां भी हीनयान समुदाय के चार हजार भिक्षु रहते थे। यहां से दुर्गम मार्गों तथा निर्जन प्रदेशों की यात्रा करते हुए वह खोतान पहुंचे। खोतान के लोग समृद्ध एवं सुखी थे और अधिकांश महायान सम्प्रदाय के थे। यहां बौद्ध यात्रियों के ठहरने की समुचित व्यवस्था थी। खोतान के शासक ने फाह्यान के ठहरने की व्यवस्था गोमती विहार में की थी। इस विशाल बौद्ध बिहार में तीन हजार भिक्षु रहते थे। यहां से उसके कुछ साथी काशगर चले गये किन्तु वह रथ महोत्सव देखने की इच्छा से तीन माह तक रुका रहा। खोतान के विषय में फाह्यान ने विस्तृत सूचना दी है। यहां 14 बौद्ध विहार थे। यहां गोमती विहार के समीप ही एक 250 फुट ऊंचा दूसरा विहार था इसके निर्माण में 80 वर्ष लगे थे। इस विहार में बहुमूल्य मणिमुक्ता जड़े हुए थे। इसकी सुन्दरता अवर्णनीय थी।

खोतान के पश्चात फाह्यान 25 दिन की यात्रा के पश्चात् कार्घलिक पहुंचा। यहां का शासक बौद्ध था। यहां हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु रहते थे। ये सभी महायान सम्प्रदाय के थे। यहां से तासकुर धान होते हुए वह काशगर नामक एक पर्वतीय राज्य में पहुंचा। फाह्यान के अनुसार इस देश में बुद्ध का पाषण निर्मित थूकदान था। यहां बुद्ध का एक दन्तावशेष भी था इसके ऊपर एक स्तूप का निर्माण किया गया था। इसके बाद एक माह की यात्रा करके वह अपने सहयात्रियों के साथ बोलोट--ताहन पहुंचा जहां गर्मी के मौसम में भी बर्फ जमी रहती थी। यहां से कठिन यात्रा के कष्टों को सहन करते हुए वह उत्तरापथ पहुंचा। सीमा पर दारेल प्रदेश में अनेक हीनयानी भिक्षु रहते थे। सिन्धु नदी पार करके वे उद्यान प्रदेश में पहुंचे, यहां के निवासियों का खानपान मध्य देश के निवासियों के समान था। यहां पर पांच सौ बौद्ध विहार थे, ये सभी हीनयान से सम्बन्धित थे। एक परम्परा के अनुसार बुद्ध इस प्रदेश में आए थे और अपना पदचिन्ह छोड़ गये थे।

उधान से वह गांधार पहुंचा, जहां पूर्व काल में अशोक के पुत्र धर्मवर्द्धन ने शासन किया था। यहां बुद्ध ने बोधित्सव के रूप में एक व्यक्ति को नेत्रदान दिया था। यहां हीनयान मत के अनुयायियों की संख्या अधिक थी। यहां से पूर्व दिशा में पांच दिनों की यात्रा करके वह तक्षशिला पहुंचा। चीनी कथाओं के अनुसार बुद्ध ने यहां बोधित्सव के रूप में अपना सिर काटकर किसी व्यक्ति को दिया

था। इस नगर में एक रत्नजडित बहुमूल्य स्तूप था। तक्षशिला से चीनी यात्री पुरुषपुर (पशावर) आया। यहां कनिष्क [illegible] स्तुप विद्यमान था। यह स्तूप लगभग 400 फुट ऊंचा था। चीनी यात्री के विचार में यह दुनिया का सबस ऊंचा स्तूप [illegible] ने इस स्तूप की सुन्दरता की प्रशंसा की है। चीनी यात्रा के अनुसार उसके आगमन से पूर्व हुण राजा ने पशावर प [illegible] वहां के राजा से बुद्ध का भिक्षा पात्र छीनने का प्रयास किया था।

इसके बाद फाह्यान 16 योजन दूरी तय करके नगरहार (जालन्धर) पहुंचा। यहां बुद्ध क कपाल की एक अस्थि क [illegible] स्तूप था। यहा का राजा उसकी प्रतिदिन पूजा करता था और उसकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखता था। नगरहार [illegible] दिन यात्रा के उपरान्त फाह्यान एक ऐसे स्थान पर पहुचा जहां बुद्ध के वस्त्र की पूजा होती थी। यहां स सफद कोह पर्वत [illegible] हुए यात्रा की कठिनाइयां व शीत के कारण उसके साथी हुई–चिंग की मृत्यु हो गयी। चीनी यात्री को अपन साथी [illegible] मृत्यु [illegible] बेहद दुख हुआ लेकिन उसने यात्रा जारी रखी और कुछ दिन के बाद बन्नू जा पहुंचा। यहा हीनयान मत के लगभग तीस [illegible] रहते थे। सिन्धु नदी पार करके फाह्यान पंजाब के भेड़ स्थान पर पहुंचा। यहां हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदा [illegible] में थे। यहां के बौद्ध मतावलम्बियों ने चीनी यात्री का सम्मान किया।

पंजाब से 80 योजन की दूरी तय करने के पश्चात फाह्यान मथुरा पहुचा, मार्ग में उसने अनक विहार देख जिनम [illegible] भिक्षु रहते थे। यहा यमुना नदी के दोनों ओर 20 विहार थे जिनमें तीन हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। भारत क [illegible] सम्मान करते थे। उनका दर्शन करते समय वे प्रायः मुकुट उतार लेते थे। चीनी यात्री के अनुसार मथुरा के बाद मध्य देश या ब्राह्मण देश आरम्भ हो जाता था। मध्य देश के बारे में जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य का केन्द्रीय भाग था। फाह्यान के अनुसार यहां [illegible] की संख्या बहुत बड़ी है तथा वे सुखी हैं। उन्हें अपनी जमीन जायदाद दर्ज नहीं करवानी पड़ती और मजिस्ट्रेटो के पास [illegible] होकर उनके नियम का पालन करना पड़ता है।

मध्य देश से फाह्यान सकाश्य (सकीसा–कदित्य) पहुंचा। एक बौद्ध कथानुसार अपनी मां को उपदेय देने के लिए बु [illegible] यह स्थान बौद्धों के लिए एक तीर्थ था। बुद्ध की सप्तपदी के स्थान पर अशोक ने एक स्तूप बनवाया था। यहां बुद्ध [illegible] 16 ऊंची मूर्ति रखी हुई थी। इसके पीछे अशोक ने एक 60 फुट ऊंचा स्तम्भ बनवाया था जिसके शीर्ष भाग पर एक सिंह मूर्ति बनी [illegible] थी। जहां बुद्ध ने अपने केश काटे थे वहां भी एक स्तूप बनाया गया था। इनके अतिरिक्त जहां तीन प्रारम्भिक बुद्ध [illegible] ने भ्रमण किया था वहां भी स्तूप बनाए गए थे। यहां के हीनयानी व महायानी बौद्धों की संख्या हजारों म थी

यहां से फाह्यान दक्षिण पूर्व की ओर यात्रा करके कान्यकुब्ज (कन्नौज) पहुंचा। यह नगर गंगा क किनारे पर स्थित थ [illegible] भिक्षुओं के दो विहार थे। नगर से 6-7 मील की दूरी पर पश्चिम की ओर वह स्थान था जहां बुद्ध ने अपन शिष्य [illegible] का उपदेश दिया था। यहां पर स्तूप बना हुआ था। गंगा नदी पार करके दक्षिण की ओर तीन योजन की यात्रा क पश्चात [illegible] आरीजक वन पहुंचा। यहा भी बुद्ध ने उपदेश दिया था। यहां से दस योजन दक्षिण पूर्व की ओर चलन क बाद वह [illegible] पहुं नगर के दक्षिण द्वार के बाहर तथा सड़क के दाहिनी ओर वह स्थान था जहां बुद्ध ने अपना दातुन फेंका था [illegible] बन गया था। यही वह स्थान था जहां चार बुद्धों ने विश्राम किया था। यहां से फाह्यान श्रावस्ती पहुंचा। यहां पर [illegible] अंगुलिमाल, सुदत आदि द्वारा निर्मित स्तूप थे। श्रावस्ती में सुदत ने एक भव्य मन्दिर बनवाया था। फाह्यान न श्रावस्ती [illegible] स्थानों का उल्लेख किया है जो कनकगुनी, काश्यप तथा कुकुछन्द आदि पूर्व बुद्धों तथा दवदत के जीवन स सम्बन्धित [illegible] यहां के प्रसिद्ध जेतवन का भी उल्लेख किया है। इसे सुदत ने जितनी सुवर्ण मुद्राएं इसमें बिछ सकती थी उतन म [illegible] कारण फाह्यान ने इसे सुवर्ण उपवन कहा है। उसके आगमन के समय श्रावस्ती उजाड सा हो चुका था। यहां पर बौद्ध [illegible] अन्य मतावलम्बी भी रहत थ। यहां कुछ विहार व स्तूप अब तक विद्यमान थे। बुद्ध ने सर्वाधिक समय सुवर्ण उपवन म [illegible]

इसके पश्चात फाह्यान निकटवर्ती प्रदेशों की यात्रा करता हुआ कपिलवस्तु पहुंचा। उस समय तक यह नगर [illegible] लेकिन चीनी यात्री लिखता है कि भगवान बुद्ध से सम्बन्ध रखने वाले सभी स्थानों को पहचाना जा सकता [illegible] था और न ही बहुत लोग रहते थ। यहां का वातावरण एक अरण्य के समान था। यहां कुछ बौद्ध भिक्षु तथा बहुत [illegible] थे। कपिलवस्तु से वह लुम्बिनी वन गया जहां पर बुद्ध का जन्म हुआ था। लुम्बिनी वन के पूर्व की ओर पांच या [illegible] रामग्राम था जहा बुद्ध के अवशेषों पर निर्मित एक स्तूप था। इसके पश्चात फाह्यान कुशीनगर पहुचा। यह एक छो [illegible] जहां बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ था। इस नगर में भी बहुत कम लोग और थोड़े से भिक्षु रहते थ। यहां से [illegible]

वैशाली पहुंचा जो किसी समय लिच्छवियों की राजधानी होती थी। इसके उत्तर में एक विशाल जंगल था जहां एक विशाल जंगल था जहां एक विहार निर्मित था। इस स्थान पर कभी बुद्ध ने निवास किया था। नगर के भीतरी भाग में प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली द्वारा बुद्ध के सम्मान में बनवाया गया स्तूप तथा बुद्ध को दान में दिया गया उद्यान था।

इसके बाद फाह्यान पाटलीपुत्र पहुंचा। फाह्यान के अनुसार यह नगर भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर था। यहां अशोक द्वारा निर्मित राजप्रसाद उस समय भी विद्यमान था इसे देखकर वह बड़ा आश्चर्यचकित हो उठा था। राजमहल की सुन्दरता को देखकर उसने कहा था जैसे इसका निर्माण मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने किया हो। पाटलीपुत्र के फाह्यान ने अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप तथा दो स्तम्भ भी देखे थे। दोनों ही स्तम्भ पर लेख उत्कीर्ण थे और शीर्ष भाग पर सिंह मूर्तियां बनी हुई थी। अशोक के स्तूप के पास एक विहार था। इसमें लगभग 500 भिक्षु रहते थे। फाह्यान ने महायान विहार में मंजुश्री नामक एक बौद्ध आचार्य का भी उल्लेख किया है जो अपनी विद्ववता के कारण पूजनीय माना जाता था।

पाटलीपुत्र के फाह्यान बुद्ध के प्रिय शिष्य सारीपुत्र के जन्म व मृत्यु स्थल नालन्दा पहुंचा। सारीपुत्र के अवशेषों पर जो स्तूप बनाया गया था वह आज भी मौजूद था। इस समय नालन्दा एक ग्राम के रूप में मौजूद था। इसके बाद फाह्यान राजगृह पहुंचा। यहां पर उसने दो विहारों के होने का उल्लेख किया है। नगर के पश्चिमी द्वार के निकट अजातशत्रु द्वारा निर्मित एक भव्य स्तूप था। बुद्ध की अस्थियों के जो अवशेष अजातशत्रु को प्राप्त हुए थे, उन्हीं के ऊपर यह स्तूप बनाया गया था। फाह्यान ने आसपास के भी अनेक स्थानों की चर्चा की जो बुद्ध तथा उसके शिष्यों के जीवन से सम्बन्धित थे। राजगृह से उसने गया की यात्रा की, उसे यह स्थान भी लगभग उजाड़ मिला। इसके बाद उसने उस स्थान के दर्शन किये जहां बुद्ध ने बोधित्सव के रूप में 6 वर्ष तक तय किया था। इसके अतिरिक्त उसने उन स्थानों का उल्लेख किया जहां बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था और जहां मार ने उसें पथभ्रष्ट करने का प्रयास किया था और निकटवर्ती प्रदेशों की यात्रा करने के पश्चात फाह्यान पाटलीपुत्र लौट आया। वहां से वह वाराणसी पहुंचा, उसने वाराणसी में स्थित मृगवन (सारनाथ) का भी उल्लेख किया है। सारनाथ में अनेक स्थानों पर स्तूप निर्मित थे। यहां दो विहार थे जिनमें बौद्ध भिक्षु रहते थे।

गृहयात्रा: वाराणसी से फाह्यान फिर पाटलीपुत्र वापस आया और यहीं से अपनी गृहयात्रा आरम्भ कर दी। चम्पा से होता हुआ वह ताम्रलिप्ती पहुंचा जो बंगाल की खाड़ी में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह और व्यापारिक केन्द्र था। दो वर्षों तक उसने वहां पर निवास किया। ताम्रलिप्ती से 14 दिन की समुद्र यात्रा करके वह सिंहलद्वीप पहुंचा, वहां से 90 दिन की यात्रा करके वह जावा पहुंचा। यहां पर वह पांच महीने ठहरा रहा फिर उसने सिंगचाव की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में तूफान आ जाने के कारण उसे घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ा। तीन महीने के बाद वह चाक्ययाड़ पहुंचा। वहां के राजा ने फाह्यान का बड़ा स्वागत किया। वह अपने साथ फाह्यान को सिंगचाव ले गया। वहां से वह नानकिंग पहुंचा। स्वदेश पहुंचकर फाह्यान ने अपनी यात्रा का सारा विवरण अपने मित्र को सुनाया जिसे उसने लेखबद्ध कर लिया। नानकिंग में फाह्यान ने बुद्ध भद्र नामक एक भारतीय पण्डित की सहायता से उन ग्रंथों का अनुवाद करना आरम्भ किया जिन्हें वह भारत से लेकर आया था। 88 वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया।

फाह्यान का भारत के बारे में विवरण

फाह्यान लगभग छह वर्षों तक भारत में रहा और उसके विभिन्न भागों के धार्मिक तथा सांस्कृतिक केन्द्रों का भ्रमण करता रहा। उसने भारत को जो विवरण दिय है वह उसकी स्वयं की अनुभूति पर आधारित है और उसने आंखों देखा हाल बतलाया है। उसने धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा को तो विशेष रूप से वर्णन किया है परंतु राजनीतिक दशा की उसने लगभग अनदेखी की है। आश्चर्य की बात तो यह है कि उसने तत्कालीन सबसे प्रभावशाली और पराक्रमी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम तक का भी उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार वैष्णव धर्म उस समय का एक प्रभावशाली धर्म था फिर भी चीनी यात्री उसकी ओर से उदासीन ही रहा और इसके सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है। लेकिन फिर भी उसके वर्णन से तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है जिससे भारत के इतिहास निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। उसने भारत की तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा और चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजधानी का जो चित्र चित्रित किया है उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

राजनीतिक दशा: फाह्यान ने तत्कालीन राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि उस समय की शासन व्यवस्था बड़ी ही सुन्दर एवं सराहनीय थी। उसके मतानुसार प्रजा बड़ी ही धन धान्यपूर्ण थी एवं सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी। लोगों को पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और उनके कार्यों में राज्य की ओर से बहुत कम हस्तक्षेप किया जाता था। लोग स्वतन्त्रतापूर्वक

व्यवसाय तथा व्यापार करके जीविकापार्जन कर सकते थे। क्रय–विक्रय कौड़ियों के माध्यम से किया जाता था और [illegible] का प्रधान साधन था। जनता को आवागमन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यात्रियों की सुविधा के लिए सराय होती थी [illegible] की सुविधा रहती थी। यात्रियों का बड़ा आदर होता था, उनकी सुविधा के लिए सड़क के किनारे छायादार वृक्ष [illegible] पानी पीने के लिए स्थान–स्थान पर कुएं खुद रहते थे। धर्मशालाओं मे यात्रियों को मुफ्त भोजन मिलता था। बड़े–बड़े नगरों में [illegible] की ओर से औषधालयों का प्रबन्ध किया जाता था, जहां निःशुल्क औषधि बांटी जाती थी। राज्य कर बहुत थोड़ [illegible] का मुख्य साधन भूमि कर था। दण्ड विधान कठोर नहीं था। अपराधियों को प्राय जुर्माना लगाया जाता था। प्राणदण्ड किसी भी दशा में नहीं दिया जाता था। राजद्रोहियों का केवल दाहिना हाथ काट दिया जाता था, किसी अन्य प्रकार के अंग-भंग का दण्ड नहीं दिया जाता था। कानून व्यवस्था कड़ी थी, लोगों को चोरों तथा डाकुओं का भय नहीं रहता था। राजा से उसकी प्रजा प्रेम करती थी, वह अनुशासन में रहती थी जिसकी वजह से शान्ति तथा सुव्यवस्था बनी रहती थी। फाह्यान के अनुसार तत्कालीन समस्त ब्राह्मण धर्मावलम्बी था। चीनी यात्री कहता है कि इस काल में अकाल तथा अराजकता का कभी भी सामना नहीं हुआ था।

सामाजिक दशा: फाह्यान के विवरण से भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता [illegible] है कि उत्तरी भारत के लोग धनी, धर्मात्मा और विद्या प्रेमी थे। ये एक–दूसरे के साथ सहानुभूति रखते थे और एक–दूसर की सहायता करने को तत्पर रहते थे। अपने व्यवहार में वे सत्य का पालन करते थे। लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति के थे, ये लोग न तो शिकार करते थे और न ही मांस, प्यास व लहसुन का सेवन करते थे। नगरी में इन चीजों की दुकान तक नहीं थी। इन वस्तुओं का प्रयोग केवल चाण्डाल तथा नीच लोग करते थे, जिन्हें नगर से बाहर रहना पड़ता था और इन्हें लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। ये लोग अपने गलें में ढोल बांधकर उसे बजाते हुए चलते थे ताकि लोगों को उनके आगमन की सूचना का पता लग जाए तथा उनके स्पर्श से बच सकें। सूअर तथा मुर्गियों को केवल नीच लोग ही पालते थे। बाजार में कहीं भी कसाईघर तथा मदिरालय विद्यमान नहीं थे। केवल चाण्डाल लोग ही मछली पकड़ते थे तथा पशुओं का शिकार करते थे। अन्य जातियों का जीवन तथा व्यवसाय पवित्र था। फाह्यान ने वैश्यों की अधिक प्रशंसा की है। मथुरा के वैश्यों के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि वे बड़े ही धर्मपरायण थे। वे बड़े दानवीर थे तथा बौद्ध भिक्षुओं की सुविधा के लिए उन्होंने विश्राम गृह बनवाए हुए थे। मठों के खर्च के लिए उन्हें भूमि दान दी जाती थी। मठों की दीवारों पर ताम्रपत्र जड़े गये थे जिन पर दानदाता का नाम अंकित किया जाता था। फाह्यान के कथनानुसार पाटलीपुत्र के वैश्यों ने भी अपने नगर में औषधालय तथा दानगृह बनवाये थे। इन औषधालयों तथा दानगृहों में रोगियों असहायों अनाथों तथा अपंग लोगों को निशुल्क भोजन, वस्त्र तथा औषधि दी जाती थी। इन औषधालयों में औषधि तथा कुशल चिकित्सकों की व्यवस्था होती थी। रोगियों के विश्राम का भी इनमें प्रबन्ध रहता था। रोगियों की इनमें पूरी देखभाल होती थी तथा पूर्ण स्वस्थ होने पर ही उन्हें वहां से जाने दिया जाता था। फाह्यान के अनुसार भारत में अतिथि सत्कार को पूरा महत्व दिया जाता था। [illegible] अतिथि आ जाता था तो उसका हार्दिक स्वागत किया जाता था तथा यथाशक्ति उसकी सेवा तथा आदर सम्मान किया जाता था।

धार्मिक दशा: फाह्यान के वर्णन से तत्कालीन धार्मिक दशा पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है कि बौद्ध धर्म पंजाब बंगाल में उन्नत दशा में था तथा मथुरा में इसका विकास हो रहा था। मथुरा के श्रमणों के विषय में उसने लिखा है कि वे बड़े धर्मपरायण होते थे और धर्म में उनकी बड़ी निष्ठा थी। वे प्रतिदिन सूत्रों का पाठ करते थे तथा ध्यानमग्न रहते थे। जब कोई श्रमण वहां आता था तो वे भोजन, जल, वस्त्र आदि से उसका स्वागत करते थे। अन्य नगरों के भिक्षुओं का भी जीवन आदर्शमय होता और पास–पड़ोस के ग्रामीण लोग उनके भोजन, वस्त्र आदि की समुचित व्यवस्था किया करते थे। बौद्ध स्तूपों तथा वैहारों के निर्माण के बारे में भी फाह्यान ने लिखा है उसके कथनानुसार देश में सारिपुत्र भोगलायन और आनन्द के सम्मान में स्तूपों का निर्माण करवाया गया था। आगे फाह्यान कहता है कि बुद्ध के निर्वाण के समय से लेकर आज तक राजा सामन्त और गृहस्थ सभी भिक्षुओं के लिए विहार बनवाते आए हैं और इन विहारों के लिए खेत, मकान, बाग, नौकर, पशु आदि दान देते थे। भूमि दान ताम्र पत्रों द्वारा दी जाती थी जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता था और कोई भी राजा इसका उल्लंघन नहीं कर सकता था। फाह्यान के कथनानुसार प्रत्येक विहार में भिक्षुओं के लिए कक्ष होते थे, इनमें उन्हें बिस्तर, चटाईयां तथा भोजन मिलता था। जब कोई नया भिक्षु वहां आता था तो अतिथि सरकार के बाद उसकी योग्यता और पद के अनुसार उसे उचित स्थान प्रदान किया जाता था। वर्षा काल में सभी भिक्षु अपना एक सम्मेलन करते थे और धर्मोपदेश देते थे।

फाह्यान के कथनानुसार मध्य देश में बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था जहां उसे बहुत कम बौद्ध मठ दखने को मिले। [illegible] में वैष्णव धर्म का बोलबाला था और सम्राट स्वयं वैष्णव धर्म को मानने वाला था। परन्तु राज्य की ओर से किसी भी धर्म में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। धार्मिक मामलों में ऐसे लोगों को पूरी स्वतन्त्रता थी और बौद्धों तथा ब्राह्मणों में अच्छा सम्बन्ध था।

आर्थिक दशाः फाह्यान के अनुसार भारत की तत्कालीन आर्थिक दशा बड़ी ही सुदृढ़ तथा सराहनीय थी। देश धन धान्य सम्पूर्ण था और लोग सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। व्यवसाय तथा व्यापार बड़ी ही उन्नत दशा में था और ताम्र लिप्ती पूर्वी भाग का प्रसिद्ध बन्दरगाह था और आयात निर्यात का केन्द्र था। फाह्यान ने लिखा है कि व्यापार में कौड़ी का प्रयोग किया जाता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कौड़ी का प्रयोग केवल सामान्य क्रय विक्रय के कार्यों में किया जाता था। बड़े व्यापार में सोने तथा चांदी की मुद्राओं का प्रयोग ही किया जाता होगा।

सांस्कृतिक दशाः फाह्यान के उल्लेख में भारत की तत्कालीन सांस्कृतिक दशा पर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता है। उसके कथनानुसार भारत के लोग उत्सव व समारोह के बड़े प्रेमी थे और कुछ शुभ अवसरों पर वे उत्सव मनाया करते थे। उन्होंने लिखा है कि वे बैशाख की अष्टमी को विशेष प्रकार का उत्सव मनाते थे जिसमें मुनियों का एक जुलूस निकाला जाता था इस उत्सव के अवसर पर एक रथ के ऊपर एक पांच मंजिला ढांचा बनाया जाता था और रंग–बिरंगे वस्त्रों में लिपटे बांसों का प्रयोग करके उसे एक स्तूप का स्वरूप दे दिया जाता था। इस रथ के ऊपर देव प्रतिमाएं रखी जाती थी जो सोने तथा अमूल्य रत्नों से अंलकृत रहती थी। रथ के बाह्य भाग में चतुर्दिक ताख बने होते थे जिनमें बुद्ध तथा बौद्धिसत्वों की प्रतिमा रखी जाती थी। इस प्रकार कुल दस रथों का निर्माण इस उत्सव को मनाने के लिए किया जाता था। इन रथों की शोभा अवर्णनीय होती थी। साधु तथा गृहस्थ सभी इन उत्सवों में शामिल होते थे। गाने बजाने वाले इन रथों के साथ–साथ चलते थे। नगर के विभिन्न भागों में इन रथों का प्रदर्शन किया जाता था। रात्रि के समय दीपकों के प्रकाश में सम्पूर्ण नगर जगमग उठता था। यह उत्सव सभी नगरों में मनाया जाता था और लोगों के आनन्द और मनोविनोद का साधन था।

फाह्यान तत्कालीन साहित्य तथा कला की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है उसके कथनानुसार सम्राट की साहित्य में बहुत रुचि थी और साहित्यकारों को वह अपना आश्रय दिया करता था। उसने पाटलीपुत्र में निवास करने वाले एक विद्वान आचार्य के बारे में लिखा है जो बड़ी ही कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था। सम्राट उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखता था और उसके दर्शन के लिए उसके पास जाया करता था। इस अवसर पर सम्राट को कोई निम्न स्थान स्थान ग्रहण करना पड़ता था। यदि संयोगवश सम्राट का कोई अंग उस आचार्य के अंग से स्पर्श हो जाता था तो आचार्य अपने अंग को जल से धो देता था। इस आचार्य से विद्याध्यन करने तथा इसके उपदेश को सुनने के लिए लोग दूर से आया करते थे।

फाह्यान ने तत्कालीन स्तूपों विहारों तथा पाटलीपुत्र के राजप्रशाद की भव्यता का सुन्दर वर्णन किया है। इससे हमें तत्कालीन कला का भी बौद्ध होता है। मन्दिरों और विहारों में स्वर्ण पत्रों और बहुमूल्य रत्नों का जो प्रचुरता में प्रयोग किया जाता था उससे तत्कालीन अलंकारिता का बोध होता है।

पाटलीपुत्र की दशाः पाटलीपुत्र से और अशोक के महल से फाह्यान अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके विचार में कई भवनों वाला महल देवताओं ने बनाया था जो पत्थर के ऊपर पत्थर रखते गये। उन्होंने दीवारें और द्वार बनाए, चित्रकारी की और दैवी ढंग से उनमें मूर्तियां उत्कीर्ण की। उसने लिखा है कि पाटलीपुत्र में महायान और हीनयान सम्प्रदाय के दो बौद्ध मठ थे जिनमें छह–सात सौ बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। पाटलीपुत्र के महाजनों और दानियों ने एक विशाल औषधालय बनवाया था जहां निर्धनों को मुफ्त औषधियां प्रदान की जाती थी। फाह्यान लिखता है कि नगर के लोग बड़े धनी थे और दान देने में एक–दूसरे से स्पर्धा किया करते थे। नगर में ऐसी अनेक संस्थाएं थीं जहां दीन–दुखियों तथा अपाहिजों को दान दिया जाता था।

फाह्यान के उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन काल शान्ति और सुव्यवस्था का युग था और प्रजा सुखी तथा सम्पन्न थी। यह धार्मिक सहनशीलता तथा सांस्कृतिक विकास का युग था। बौद्ध धर्म उन्नत दशा में था तथा वैष्णव धर्म की उन्नति हो रही थी। व्यापार तथा उद्योग–धंधे फल–फूल रहे थे और प्रजा चरित्रवान तथा सदाचारी थी।

अध्याय-4

वाकाटक वंश
Vakataka Dynasty

दक्षिण में सतवाहनों तथा पश्चिम शकों के पतन के पश्चात जिन नई शक्तियों का उदय हुआ और जिन्होंने दक्षिण तथा पश्चिम में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की उसमें वाकाटकों का स्थान अग्रगण्य है। यह शक्ति गुप्तों के समकालीन थी और समुद्रगुप्त के समय में इनकी गिनती दक्षिण भारत की महान शक्तियों में होने लगी थी। प्रो० डुब्रैल ने लिखा है "तीसरी से छठी शताब्दी तक दक्षिण में राज्य करने वाले सभी वंशों में सर्वश्रेष्ठ, सम्मानपूर्ण स्थान का अधिकारी, अन्य सभी से आगे निकल जाने वाला समस्त दक्षिण की महतम सभ्यता वाला वंश निस्संदेह वाकाटकों का तेजस्वी वंश था।

वाकाटकों की उत्पत्तिः वाकाटकों की उत्पत्ति अर्थात मूल के बारे में विद्वानों के अलग–अलग विचार हैं जो निम्नलिखित हैं

1. पूर्वी मालवा बुन्देलखण्ड विषयम मतः कुछ विद्वानों का विचार है कि गुप्त राजवंश का उदय बुन्देलखण्ड पूर्वी मालवा प्रदेश में हुआ। इन विद्वानों के विचार में इसका सफलतम संकेत पुराणों में मिलता है। (1) इन ग्रंथों में जिस स्थान पर विंध्यशक्ति और उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथम का वर्णन किया गया है उसका प्रारम्भ 'विदिशा के भावी राजा की चर्चा' सूचक शब्दों से किया गया है। लेकिन एक बात यहां यह भी सत्य है कि इस स्थल पर पुराणों में उल्लिखित सभी राज्य विदिशा के नहीं है परन्तु यह भी स्पष्ट है कि उनके राज्य विदिशा से बहुत दूर स्थित नहीं माने जा सकते। इसलिए स्मिथ ने यह सुझाव रखा कि वाकाटकों के मूल निवास स्थान की खोज मध्य भारत में की जानी चाहिये। स्मिथ के इस सुझाव को जायसवाल तथा एरक जैसे अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। (2) पुराणों में विंध्यशक्ति का नाम विदिशा (आधुनिक बेस नगर के समीप) किलकित नामक राजाओं के साथ जोड़ा गया है। विष्णु पुराण के अनुसार ये किलकित नरेश यवन अथवा पुलिंद थे और विंध्यशक्ति भी उनमें से एक था जबकि मत्स्य पुराण के अनुसार विन्ध्य शक्ति ने किलकित राजाओं के उपरान्त शासन किया। जायसवाल का कहना है कि विष्णु पुराण में किलकित राजाओं का गलती से यवन मान लिया गया है। वह स्वयं विंध्यशक्ति को किलकित तो मानते हैं परन्तु इस शब्द को जातिवाचक न मानकर प्रदेश सूचक बताते हैं। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि पन्ना के निकट किलकित नाम की एक लघु नदी अभी भी विद्यमान है। (3) प्रथम वाकाटक नरेश विंध्यशक्ति का नाम भी संकेतिक है कि वह विंध्याचल प्रदेश को अपनी शक्ति का केन्द्र मानता था। इसका पुराणों में एक संकेत भी मिलता है। ग्रंथों में प्रवीर (प्रवरसेन पंचम) का वर्णन करने के उपरान्त उन जातियों और वंशों की सूची दी गयी है जिन्होंने इसके बाद शासन किया। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि यहां विंध्यकों का आशय वाकाटकों से ही मानते हैं जिनके नाम की व्युत्पत्ति विंध्यशक्ति से बताते हैं। (4) वायु पुराण में प्रवीर की राजधानी कांचनका अथवा पुरिका का उल्लेख मिलता है। जायसवाल महोदय ने इस चनका अथवा कांचनका की पहचान भूतपूर्व अजगढ रियासत में स्थित नचना ग्राम से की है। इस प्रकार इस दृष्टि से भी पौराणिक साक्ष्य वाकाटकों का सम्बन्ध मालवा बुन्देलखण्ड प्रदेश से सिद्ध करते हैं।

   डा० के०पी० जायसवाल के अनुसार वाकाटकों का मूलतः उपर्युक्त प्रदेश में उदय होना अन्य तथ्यों से भी ज्ञात होता है। जिस प्रकार 'त्रेकुटक' वंश नाम त्रिकुट से निकला है वैसे ही वाकाटक नाम 'वकाट' अथवा 'वाकाट' नाम से निकला है। इस दृष्टि से विचार करके जायसवाल ने वाकाटकों की झांसी जिले में स्थित चिरगांव के पूर्व में भूतपूर्व आरछा राज्य में स्थित बगाह गांव का मूल निवासी माना है। जायसवाल की सूचनानुसार यह एक ब्राह्मण प्रधान गांव है और परम्परानुसार भी यहां के ब्राह्मण योद्धा द्रोणाचार्य को माना जाता है। (2) नचना से पांच मील दूर स्थित दुरहा गांव से प्राप्त एक शिलालेख मिला है जिस पर जायसवाल के अनुसार 'वाकाटकनाम्' लेख लिखा है।

   डा० एस०आर० गोयल के अनुसार वाकाटकों के मूलतः उत्तर भारतीय होने के सबलतम प्रमाण समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में है। जिसमें समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलित आर्यावर्त जिन राजाओं का वर्णन है उनमें एक रुद्रदेव है जिसकी पहचान रुद्रसेन प्रथम वाकाटक से की जा सकती है।

अल्तेकर और मिराशी का दक्षिण भारत विषयक मत और आलोचना

वाकाटकों के मूल स्थान के विषय में उपर्युक्त अल्तेकर और मिरासी को मान्य नहीं हैं। उनका कहना है कि इस विषय में पुराणों का साक्ष्य बहुत अस्पष्ट है और इससे विदिशा अथवा किलकित नदी वाले प्रदेश से वाकाटकों का सम्बन्ध निश्चित नहीं होता। लेकिन इस स्थल पर पुराणों का वर्णन कुछ अस्पष्ट होने के बावजूद कुल मिलाकर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन ग्रंथों के रचियता वाकाटकों को विंध्याचल के उत्तर में स्थित पूर्वी मालवा–बुन्देलखण्ड का निवासी मानते थे। अल्तेकर का कहना है कि दुरेहा अभिलेख का पाठ 'वाकाटक' न होकर 'वकंत्रिक' है।

अल्तेकर और मिरासी का विचार है कि वाकाटक नरेश मूलतः दक्षिण के रहने वाले थे। शीला एल० वीनेर का भी यही मत है कि इस सुझाव का मूल आधार अमरावती से प्राप्त तीसरी ई० का एक खण्डित लघु प्राकृत अभिलेख है जिसमें वाकाटक नाम से अभिकृत एक गृहस्थ और उसकी दो पत्नियों के दान कृत्य अल्लिखित है।

इस लेख के बारे में मिराशी और अल्तेकर का यह कहना है कि प्राचीन समय में यात्रा के कष्टों को देखते हुए यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि यह वाकाटक नामक गृहपति किसी निकटवर्ती प्रदेश से अमरावती गया होगा। मिराशी का तो यहां तक कहना है कि "जिस प्रकार गुप्त नामक पुरुष से गुप्त वंश का उदय हुआ उसी प्रकार सम्भवतः वाकाटक नामक गृहपति से वाकाटक वंश की उत्पत्ति हुई।" परन्तु, जैसा कि सरकार ने कहा है कि इस लेख में वाकाटक एक व्यक्ति का नाम है, वंश का नाम नहीं। यह कल्पना करना भी ठीक नहीं है कि इस व्यक्ति का वाकाटक राजवंश के साथ कोई सम्बन्ध हो सकता है। वह व्यक्ति धर्म निष्ठा की दृष्टि से बौद्ध था जबकि वाकाटक वंश के अनुयायी वैदिक धर्म को मानने वाले थे। इसके अतिरिक्त यह धारणा भी निराधार है कि वह व्यक्ति दक्षिण भारत का ही रहा होगा। अमरावती में दान देने वाले व्यक्तियों में राजगृह और पाटलीपुत्र तक के लोग मिलते हैं, मध्य भारत की तो बात ही क्या है।

मिराशी का कहना है कि वाकाटकों के ताम्रपत्रों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक संज्ञाएं पूर्ववर्ती पल्लव राजाओं के ताम्रपत्रों से मिलती है। इससे लगता है कि पल्लव व वाकाटक राजाओं में कोई सम्बन्ध था। मिराशी ने अपने मुख्य राज्यों के दान शासनों के नहीं वरन् वत्सगुल्म के वाकाटकों के बसीम ताम्रपत्र के हैं। परन्तु वत्सगुल्म का वाकाटक राज्य पूर्णतः दक्षिण भारतीय का और पल्लव राज्य के निकट स्थित था, इसलिए उसके और पल्लवों के अभिलेखों में ऐसी समानता सर्वथा कल्पनीय है। लेकिन इन दक्षिण भारतीय संज्ञाओं का वत्सगुल्म राज्य के लेख में मिलना अगर यह सिद्ध कर सकता है कि उनकी शासन पद्धति दक्षिण भारतीय वातावरण की देन थी और इस प्रकार वाकाटक मूलतः दक्षिण भारतीय थे तो क्या इन संज्ञाओं का वाकाटकों के मुख्य और प्राचीनतम राज्य के अभिलेखों में न मिलना यह सिद्ध नहीं करता कि उसकी शासन पद्धति उत्तर भारतीय वातावरण की देन थी और तदनुसार वाकाटक मूलतः उत्तर भारतीय थे।

मिराशी का कहना है कि बसीम दानपत्रों में राजाओं के लिए प्रयुक्त 'हारतीपुत्र' तथा 'धर्ममहाराज' उपाधियां वाकाटकों के दक्षिणी होने का अचूक प्रमाण है, क्योंकि ये उपाधियां केवल विण्डदुकड़, सातकणी, पल्लव कदम्ब तथा पूर्व चालुक्य के लिए प्रयुक्त मिलती है। वे उत्तर भारत के राजा के ताम्रपत्रों में प्राप्त नहीं होती। लेकिन ये उपाधियां तो केवल बसीम ताम्रपत्रों में ही मिलती हैं, वाकाटकों के मुख्य राजा के किसी नरेश के अभिलेख में नहीं। डा० एस०आर० गोयल के विचार में 'धर्मराज' तथा 'हारतीपुत्र' उपाधियां प्रथम प्रवरसेन ने शायद धारण की ही नहीं थी। इन उपाधियों का वत्सगुल्म के राजाओं के लेखों में इस पर इसलिए आरोपित कर दिया गया लगता है क्योंकि इन्हें वत्सगुल्म के अन्य नरेशों ने धारण किया था। अगर प्रवरसेन प्रथम ने ये उपाधियां धारण की होती तो उसके लिए इनका प्रयोग गौतमीपुत्र के वंशजों के लेखों में भी मिलता।

मिराशी का कहना है कि वाकाटकों ने दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार के पुरुषों को कई पीढ़ियों तक अपना सचिव नियुक्त किया था। इस ब्राह्मण वंश का उसके अन्तिम ज्ञात सदस्य वटाहदेव के घटोत्कच–गुहा लेख में मिलता है। इस वंश का नाम और पूर्व निवास स्थान वल्लुर था और मूल पुरुष यज्ञपति नामक ब्राह्मण जिसका पुत्र देव, मिराशी के अनुसार विंध्यशक्ति और प्रवरसेन प्रथम का समकालीन था। उसने अपने समकालीन राजा को धर्मकार्य में प्रेरित किया। अजन्ता की साहलवी गुफा के अभिलेखानुसार इस वंश के अन्तिम दो सदस्य हास्तभोज और वराहदेव क्रमशः वत्सगुल्म शाखा के वाकाटक नरेश देवसेन और हरिषेण के मुख्य सदस्य थे। इन तथ्यों के आधार पर मिराशी का कहना है कि क्योंकि वाकाटक राजा और वल्लुर वंश के सचिव और विंध्यशक्ति के समय से लेकर हरिषेण के समय तक परस्पर सम्बन्ध रहे हैं, इसलिए उनका उदय एक ही प्रदेश में हुआ होगा और क्योंकि इसमें एक वंश सचिवों का वल्लुर वंश दाक्षिणात्य था, इसलिए वाकाटक भी दाक्षिणात्य होने चाहिये।

मिराशी के इस तर्क में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने हस्तिभोज और वराहदेव के पूर्वजों को वाकाटक नरेशों के सचिव होने का श्रेय देकर यह सर्वथा निराधार निष्कर्ष निकाल लिया है कि जिस प्रकार हस्तिभोज और वराहदेव दवसेन तथा हरिषेण के सचिव थे इन सचिवों के पूर्वज प्राचीनतर वाकाटक वंश के नरेशों के सचिव रहे होंगे। लेकिन इस विषय में अधिक से अधिक यही कल्पना की जा सकती है कि वत्सगुल्म शाखा के वाकाटक राजाओं ने वल्लुर के इन ब्राह्मणों को शुरू से ही संरक्षक प्रदान किया था। यहां तक यह तथ्य उल्लेखनीय है कि घटोत्कच गुहा लेख में इस सचिव वंश के प्रथम तीन सदस्यों का तो विशेषतः उल्लेख किया है परन्तु चौथे सदस्य रवि के विषय में, जिसे मिराशी वत्सगुल्म शाखा के स्थापक सर्वसेन का समकालीन मानते हैं, यह नहीं कहा कि उसने सब प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी अतः हो सकता है कि उसने सर्वसेन को वत्सगुल्म राज्य की स्थापना करने में सहायता दी हो। उस अवस्था में यह कल्पना की जा सकती है कि उसके वंश को वाकाटकों का संरक्षण सर्वसेन के समय में प्राप्त हुआ था। इस प्रकार मिराशी इस तर्क का सम्बन्ध भी अधिक से अधिक वत्सगुल्म के वाकाटकों के साथ जोड़ा जा सकता है इससे वाकाटकों के मूल निवास स्थान की समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

जातिः अजन्ता के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस वंश का स्थापक द्विज था। अतएव कुछ विद्वानों का विचार है कि कण्व और सहवाहन राजाओं की भांति वाकाटक राजा भी ब्राह्मण थे और विष्णुबुद्ध इनका गोत्र था। किन्तु इस सम्बन्ध में यह नहीं करना चाहिये कि द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए भी किया जाता था केवल शूद्र ही इससे बाहर थे। अतएव उनके क्षत्रिय तथा वैश्य होने की सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है। चूंकि गुप्तों ने उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था अतएव यह सम्भावना और भी अधिक बलवती हो जाती है।

उदयकालः वाकाटकों के उत्पत्ति स्थान व जाति आदि पर विचार कर लेने के पश्चात अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि उनका उदय कब हुआ। पूना ताम्रपत्र लेख से हमें ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया था जिसकी केवल पांच वर्ष उपरान्त मृत्यु हो गयी थी। रुद्रसेन की मृत्यु अनुमानतः 390 ई० के समीप हुई होगी। इसलिए उसके सिंहासनारोहण की तिथि 385 ई० रही होगी। रुद्रसेन का पिता पृथ्वीषेण प्रथम सम्भवतः अन्त तक सिंहासन पर रहा इसलिए उसका शासन काल 350 से 385 ई० रहा होगा। एक अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि पृथ्वीषेण प्रथम सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसका वंश सौ वर्षों तक सुख व समृद्धि से शासन कर चुका था। इसलिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाकाटक वंश के स्थापक विंध्यशक्ति ने 250 ई० के आसपास ही शासन करना आरम्भ किया होगा। इस प्रकार वाकाटक वंश उदय काल 250 ई० के समय रहा होगा।

वाकाटक वंश का उदय गुप्त वंश से बहुत पहले ही हो चुका था और समुद्रगुप्त के शासन काल तक उसकी शक्ति इतनी बढ़ हो गयी थी कि उसकी गणना दक्षिण के बड़े ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली राजवंशों में होने लगी थी। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर समुद्रगुप्त ने अपने दक्षिण विजय अभियान में वाकाटकों के साथ वैमनस्य मोल नहीं लिया। समुद्रगुप्त के इतिहासकार ने वाकाटकों के अधिकतर क्षेत्रों में जो प्रदेश थे उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वह क्षेत्र आता था जहां पर वह अपने कर्मचारियों को नियुक्त करके प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे। मध्य भारत तथा पश्चिमी भारत इसी वर्ग में आते थे। द्वितीय वर्ग में वह क्षेत्र आता था जो उनके प्रभाव के अन्तर्गत था और जहां पर उनके सामन्त अपने कर्मचारी नियुक्त करके शासन करते थे। मध्य प्रदेश के कुछ भाग जैसे जासो, अजयगढ़, रीवा तथा सागर उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे। उदाहरणार्थ नचना एवं गुना के लेखों से हमें ज्ञात होता है कि वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण प्रथम का माण्डलिक व्याघ्रदेव विंध्यपर्वत के उत्तर में शासन करता था।

वाकाटक वंश के राजा

विंध्यशक्तिः पुराणों में विंध्यशक्ति को वाकाटक वंश का संस्थापक कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्यशक्ति पहले दक्षिण में सतवाहनों की अधीनता में शासन करते थे किन्तु जब सतवाहनों का पतन हुआ और उनकी शक्ति कमजोर पड़ गयी तो विंध्य शक्ति ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और उसने एक नये राजवंश की स्थापना की जो इतिहास में वाकाटक वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्यशक्ति का प्रारम्भिक नाम कुछ और था। विंध्यप्रदेश पर अपनी शक्ति स्थापित करने के उपरान्त इसने विंध्यशक्ति की उपाधि धारण की और इसी नाम से वह सुविख्यात हुआ। आरम्भ में विंध्य शक्ति के पास दो ही जनपद थे किन्तु उसने विंध्य पर्वत को पार कर मालवा के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पुराणों में विदिशा अर्थात मालवा तथा पुरिका अर्थात बरार का शासक बतलाया गया है और विदर्भ इसकी राजधानी थी जहां से वह राज्य पर शासन करता था। उसने सम्भवतः 250 ई० के लगभग शासन करना आरम्भ किया था और सम्भवतः 275 ई० तक शासन किया

प्रवरसेन प्रथम: विंध्यशक्ति की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही वीर साहसी तथा महत्वाकांक्षी सम्राट था। उसने अपने पिता के साम्राज्य को एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। वह एकमात्र वाकाटक नरेश था जिसने सम्राट की उपाधि धारण की थी और अपनी विजय यात्राओं से अपनी इस उपाधि को सार्थक सिद्ध कर दिया। प्रवरसेन बड़ा ही दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ था। उसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए अपने पुत्र गौतमी का विवाह नागभारशिव वंशीय भवनाग की पुत्री के साथ कर दिया। उन दिनों भारशिव वंश की गणना बड़े शक्तिशाली राजवंशों में होती थी। इसलिए यह अनुमान लगाना असगत न होगा कि इस वंश से प्रवरसेन को अपने राज्य को विस्तृत करने में तथा उसे सुसंगठित बनाने में बड़ी सहायता मिली।

प्रवरसेन की गणना महान विजेताओं में होती है। इस् तथ्य की पुष्टि उसके अश्वमेघ यज्ञों से हो जाती है। पुराणों के अनुसार उसने चार अश्वमेघ यज्ञ किये थे। इससे स्पष्ट है कि वह बड़ा वीर और विजेता रहा होगा और अपनी विजयों के उपलक्ष्य में उसने यह यज्ञ किए थे। प्रवरसेन का एक आक्रमण पूर्व की ओर हुआ था जिसमें उसने मध्य प्रान्त के पूर्वी तथा उत्तर पूर्व के जिले को जीत लिया था। प्रवरसेन दूसरा आक्रमण सम्भवतः दक्षिण की ओर हुआ था जिसके परिणामस्वरूप उसने दक्षिण बरार तथा हैदराबाद का उत्तर–पश्चिमी भाग अपने राज्य में मिला लिया था। सम्भवतः बघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ़ के भी काफी भाग पर प्रवरसेन की सत्ता स्थापित हो गई थी। सम्भवतः गुजरात तथा काठियावाड के शक राज्य पर भी प्रवरसेन की सत्ता स्थापित हो गयी थी। इस प्रकार प्रवरसेन ने अपने पूर्वजों के एक छोटे से राज्य को वृहत साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया जिसके अन्तर्गत उत्तरी महाराष्ट्र, बराट, मध्य प्रान्त तथा हैदराबाद का बहुत बड़ा भाग आ गया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण कौशल, बघेलखण्ड, मालवा, गुजरात तथा काठियावाड में उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अतएव प्रवरसेन का सम्राट की उपाधि धारण करना अश्वमेघ यज्ञ करना सर्वथा उचित था।

साम्राज्य विभाजन: प्रवरसेन के चार पुत्र थे। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम गौतमीपुत्र था। सम्भवतः अपने पिता के जीवन काल में ही उसकी मृत्यु हो गयी थी इसलिए प्रवरसेन के पश्चात उसका पौत्र रुद्रसेन सिंहासन पर बैठा।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन के जीवन काल में साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में उसके चारों पुत्र राज्यपाल के रूप में शासन कर रहे थे और अपने पिता की मृत्यु के उपरांत उन्होंने अपने–अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारियों ने नागपुर को अपनी राजधानी बनाकर शासन किया और प्रवरसेन के पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म को अपना केन्द्र बनाकर स्वतन्त्र रूप से शासन करना आरम्भ किया। इस प्रकार वाकाटक साम्राज्य दो शाखाओं में विभाजित हो गया। एक का शासक रुद्रसेन प्रथम तथा दूसरे का सर्वसेन था। प्रवरसेन के दो पुत्रों के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भवतः रुद्रसेन प्रथम ने जो मूल शाखा का प्रतिनिधित्व करता था उसने इन दोनों को परास्त करके उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। अब तक दोनों शाखाओं के राजाओं के विषय में अलग–अलग चर्चा की जाएगी।

रुद्रसेन प्रथम: प्रवरसेन की मृत्यु के उपरान्त उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम वाकाटक वंश की मूल शाखा का शासक बना। वह नाग भारशिव वंश के शासक भवनाग की दुहिता का पुत्र था। उसे अपनी स्थिति को सम्भालने में अपने नाना भवनाग से बहुत बड़ी सहायता मिली। अनुमान लगाया गया है कि अपने नाना की सहायता से उसने अपने चाचा को विफल कर दिया और उनमें से दो को परास्त कर अपने राज्य में मिला लिया और उसके तीसरे चाचा सर्वसेन ने भी उससे झगड़ा मोल लेना उचित न समझा होगा। रुद्रसेन वैष्णव धर्म का अनुयायी था किन्तु अपने नाना के प्रभाव में आकर और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया और वह महाभैरव का उपासक बन गया।

प्रयाग प्रशस्ति से हमें यह सूचना मिलती है कि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन नामक एक राजा के साथ संघर्ष किया था। कुछ विद्वान इस रुद्रसेन का समीकरण वाकाटक वंशीय रुद्रसेन प्रथम के साथ किया था किन्तु डा० अल्तेकर ने इसे निराधार एवं निर्मुल सिद्ध कर दिया है।

उज्जैन के शक की अधीनता में क्षत्रप अथवा सामन्त के रूप में शासन कर रहे थे किन्तु रुद्रसेन प्रथम के शासन काल में उन्होंने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और वाकाटक साम्राज्य से अपना सम्बन्ध घोषित कर दिया और वाकाटक साम्राज्य से अपना सम्बन्धविच्छेद कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि शक नरेश रुद्रसेन द्वितीय ने जो रुद्रसेन प्रथम का समकालीन था महाक्षप की उपाधि धारण की थी, जो स्वतन्त्र शासक की उपाधि होती थी। यद्यपि उज्जयिनी शकों ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया किन्तु वाकाटक राज्य के शेष भाग पर रुद्रसेन ने सफलतापूर्वक शासन किया और अपने नाना की सहायता से उसे सुरक्षित बनाए रखने में सफल रहा, उसने 360 ई० तक शासन किया।

पृथ्वीषेन प्रथमः रुद्रसेन की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र पृथ्वीषेण प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसका शासन काल [illegible] ई० तक माना जा सकता है। वाकाटक लेखों से हमें ज्ञात होता है कि वह बड़ा सच्चरित्र साधु प्रवृत्ति का व्यक्ति था [illegible] सम्राट की सज्ञा दी गयी है और उसकी तुलना धर्मराज युधिष्ठर से की गयी है। उसका शासन काल शान्ति पूर्ण [illegible] काल माना जाता है।

जिस समय पृथ्वीसेन सिहासन पर बैठा, उस समय वाकाटक वंश की वत्सगुल्म शाखा के नरेश सर्वसेन का पुत्र [illegible] में शासन कर रहा था। पृथ्वीसेन के समय में दोनों शाखाओं में प्रेम भाव बना रहा, ऐसा अनुमान लगाया गया है कि [illegible] शाखा ने नागपुर की मूल शाखा के अधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पृथ्वीसेन के समय में दोनों शाखाओं ने मिलकर [illegible] अथवा दक्षिण महाराष्ट्र पर आक्रमण कर दिया था और उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इस विजय से [illegible] साख बहुत बढ गई।

पृथ्वीषेण के समय की दूसरी महत्वपूर्ण घटना वाकाटक तथा गुप्त वंश का वैवाहिक सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय [illegible] प्रभावती गुप्त का विवाह पृथ्वीषेन के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ 380 ई० में कर दिया। इस विवाह का बहुत बड़ा [illegible] इससे दो शक्तिशाली राजवंशों के अत्यन्त मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये और दोनों ने ही संकट काल में एक दूसरे की [illegible] इस विवाद के पांच वर्ष उपरान्त पृथ्वीषेण की मृत्यु हो गयी।

रुद्रसेन द्वितीयः पृथ्वीषेण की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय सिंहासन पर बैठा। वह वैष्णव धर्मावलम्बी था [illegible] में वाकाटक राज्य समृद्धिशाली हो गया था। परन्तु दुर्भाग्यवश पांच वर्ष के शासन के उपरान्त ही रुद्रसेन की 390 ई० में मृत्यु [illegible] गयी। इस समय उसकी अवस्था केवल 30 वर्ष की थी और उसकी पत्नी प्रभावती गुप्त केवल 25 वर्ष की थी।

दिवाकर सेनः रुद्रसेन द्वितीय के दो पुत्र थे। दिवाकर सेन तथा दामोदार सेन। रुद्रसेन की मृत्यु के समय दिवाकर की अवस्था [illegible] वर्ष की और दामोदर की आयु दो वर्ष की थी। अतएव 390 ई० में दिवाकर सेन को सिहासन पर बैठाया गया और प्रभावती संरक्षिका [illegible] के रूप में राज्य का शासन चलाने लगी। उसे अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय से हर प्रकार की सहायता प्रदान हुई और [illegible] स्थिति सम्भाल ली। इस समय वाकाटक वंश की दूसरी शाखा में विध्यशक्ति द्वितीय राज्य करता था। उसने प्रभावती [illegible] प्रकार का विरोध नहीं किया और दोनों शाखाओं में प्रेमभाव बना रहा। प्रभावती के संरक्षण के तेरहवें वर्ष 403 ई० में [illegible] सेन की मृत्यु हो गयी।

प्रवरसेन द्वितीयः दिवाकर सेन की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई दामोदर सेन सिंहासन पर बैठाया गया और प्रभावती संरक्षिका [illegible] के रूप में शासन चलाने लगी। छः सात वर्ष बाद 410 ई० में दामोदर सेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से राजा हुआ। उस समय प्रवरसेन [illegible] की आयु लगभग बीस वर्ष थी। प्रवरसेन द्वितीय की सामरिक प्रवृत्ति न थी और न वह महत्वाकांक्षी था। अतएव [illegible] से ही अपने को संतुष्ट रखा। प्रवरसेन की साहित्य में बडी रुचि थी। उसने प्राकृत में एक काव्य लिखा था [illegible] था। उसमें लंका की विजय का वर्णन है। प्रवरसेन ने एक नई राजधानी बनाई जिसका नाम प्रवरपुर रखा। इस [illegible] वंश की बरार शाखा में भी प्रवरसेन द्वितीय ने अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह कुन्तल की राजकुमारी अजित भट्टारिका [illegible] दिया था। तीस वर्षों के शासन के उपरान्त 440 ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गयी।

नरेन्द्रसेनः प्रवरसेन के उपरान्त उसका पुत्र नरेन्द्रसेन राजसिंहासन पर बैठा। उसे राजसिंहासन हेतु अपने भाई से [illegible] पड़ा तथा अन्य आपत्तियों का भी सामना करना पड़ा। उसकी सबसे बड़ी आपत्ति नल सम्राट भवदत वर्मा का आक्रमण [illegible] राज्य में शासन करता था। भवदत को इस युद्ध में विजय प्राप्त हुई और उसने नरेन्द्रसेन के राज्य के बहुत से [illegible] अधिपत्य स्थापित कर लिया। परन्तु भवदत की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र अर्थपति के शासन काल में नरेन्द्रसेन [illegible] खोए हुए राज्य पर विजय प्राप्त की वरन् उसने बस्तर के कुछ भाग पर भी अपना अधिपत्य जमा लिया [illegible] नरेन्द्रसेन ने अधिकृत कर लिया किन्तु वह अधिक दिन तक वाकाटकों के अधीन न रह सका। ऐसा प्रतीत होता है कि [illegible] दक्षिण भारत का कौशल भी नरेन्द्रसेन के अधीन आ गया था। 460 ई० में नरेन्द्रसेन की मृत्यु हो गयी।

पृथ्वीषेण द्वितीयः नरेन्द्रसेन द्वितीय के बाद उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा। अपने पिता की भांति उसे भी [illegible] का सामना करना पड़ा। उसके शासन काल में नोकुटक वंश के राजा न जो दक्षिण गुजरात में शासन करते [illegible] आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में सम्भवतः पृथ्वीषेण की पराजय हो गयी थी और उस अपने कुछ जिले खोने पड़े [illegible]

दिनों पश्चात पृथ्वीषेन ने अपने खोए हुए प्रदेशों को फिर जीत लिया। पृथ्वीषेण की मृत्यु के उपरान्त वाकाटक वंश की प्रधान शाखा समाप्त हो गई। इसके बाद दूसरी शाखा का हरिषेण दोनों पर शासन करने लगा।

बासिम शाखा: 1939 में में विध्यशक्ति द्वितीय के बासिम ताम्रपत्र अभिलेख से पहले वाकाटक वंश की बासिम या वत्सगुल्म शाखा का कोई ज्ञान नहीं था। इस शाखा के कई शासकों के नाम अजन्ता अभिलेख में भी दिए गए हैं जो निम्नलिखित हैं:

सर्वसेन: यह प्रवरसेन का छोटा पुत्र था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पिता के जीवन काल में यह दक्षिण बरार के राज्यपाल के रूप में शासन कर रहा था। किन्तु अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त उसने वहां पर अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया और मूल शाखा से अपना नाता तोड़ लिया। इसका शासन काल लघु कालीन था।

विंध्यशक्ति द्वितीय: सर्वसेन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र विंध्यशक्ति सिंहासन पर बैठा। उसने लगभग 50 वर्ष तक शासन किया। वह बड़ा ही वीर तथा महत्वाकांक्षी शासक था। उसने कुन्तल अथवा दक्षिण महाराष्ट्र पर विजय प्राप्त करके उसे साम्राज्य में मिला लिया।

प्रवरसेन द्वितीय: विंध्यशक्ति द्वितीय के उपरान्त उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय शासक बना। उसने 400 से 515 ई० तक शासन किया। प्रवरसेन द्वितीय के बाद उसका पुत्र शासक हुआ किन्तु उसके नाम का कुछ पता नहीं है अजन्ता अभिलेख से उसका नाम गायब हो चुका है।

देवसेन: प्रवरसेन द्वितीय के बाद अन्य राजाओं ने शासन किया जिसका नाम हमारे पास नहीं है। उनके बाद देवसेन गद्दी पर बैठा। वह बड़ा ही विलासी शासक था, राज्य का वास्तविक शासन उसके योग्य मन्त्री हस्तिभोज के हाथ में था।

हरिषेण: देवसेन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र हरिषेण बासिम शाखा का शासक बना। वह इस शाखा का सबसे अधिक योग्य तथा प्रतापी शासक था। इस समय मूल शाखा में पृथ्वीषेण द्वितीय शासन कर रहा था। उसके कोई सन्तान न थी। इसलिए उसकी मृत्यु के उपरान्त हरिषेण मूल शाखा का भी स्वामी बन गया और इस प्रकार दोनों शाखाओं पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। हरिषेण इतने में ही सन्तुष्ट न था क्योंकि वह एक महत्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी शासक था। उसने अपने बाहुबल से गुजरात, मालवा, दक्षिण कौशल, आंध्र तथा कुन्तल प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। उसका प्रभाव तथा उसकी शक्ति इन विजयों से इतनी बढ़ गयी कि आंध्र नरेश विक्रमेन्द्र ने उसके साथ मैत्री कर ली और उसने अपने पुत्र माधववर्मन प्रथम का विवाह वाकाटक वंशीय राजकुमारी के साथ कर दिया। सम्भवतः कुन्तल का कदम्ब वंश भी हरिषेण के प्रभाव में आ गया। हरिषेण ने 510 ई० तक शासन किया और उसकी मृत्यु के उपरान्त वाकाटक वंश का पतन हो गया।

वाकाटकों के अधीन धर्म, कला और साहित्य

वाकाटकों के युग में धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्रों में पर्याप्त कार्य हुआ। वाकाटक वंशी कट्टर हिन्दु थे। इनमें से अधिकांश शिव के अनुयायी थे और महेश्वर तथा महाभैरव नाम से उसकी उपासना करते थे। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय का जमाता रुद्रसेन द्वितीय विष्णु का उपासक था। हिन्दु धर्म शास्त्रों में निर्दिष्ट पर कई यज्ञ वाकाटकों ने किए। प्रवरसेन को सात यज्ञ करने का गौरव प्राप्त था और कहा गया है कि उसने चार अश्वमेघ यज्ञ किए। वाकाटक शासकों ने धर्मपरायण तथा विद्वान ब्राह्मणों को भूमि और गांव भी दान दिये। उन्होंने शिव की उपासना के लिए कई मन्दिर बनवाए।

वाकाटक शासक केवल ज्ञान के संरक्षक नहीं थे बल्कि स्वयं भी प्रसिद्ध लेखक थे। सर्वसेन प्राकृत काव्य 'हरिविजय' का लेखक था। यह पुस्तक महाभारत के कृष्ण सत्यभामा पारिजात काण्ड पर आधारित थी। यह काव्य अब प्राप्त नहीं है किन्तु अन्य लेखकों द्वारा दिये गये उद्धरणों के रूप में इसके कुछ संदर्भ प्राप्त हुए हैं। ये सन्दर्भ भी काव्य की शैली तथा कथा के विषय में बहुत कुछ कहते प्रतीत होते हैं। इस काव्य के विषय के अतिरिक्त सर्वसेन कई गाथाओं का लेखक था जो "गाथासप्तशती" में सम्मिलित है। उसकी राजधानी वत्सगुल्म ज्ञान तथा संस्कृति का केन्द्र बन गयी।

मुख्य वाकाटक शाखा का प्रवरसेन द्वितीय भी "गाथासप्तशती" में सम्मिलित कई गाथाओं का लेखक था। महाराष्ट्रीय लिपि में वह 'सेतुबन्ध' काव्य का भी लेखक था जो 'रावणवहो' के नाम से प्रसिद्ध था। दण्डी के अनुसार कहावतो के लिए 'सेतुबन्ध' हीरों की खान थी। बाण के अनुसार "इस सेतु अर्थात सेतुबन्ध के माध्यम से प्रवरसेन की प्रसिद्धी समुद्र पार कर गई। जिस प्रकार पहले बन्दरों ने समुद्र को पार किया था।" यह भी सम्भव है कि कालीदास कुछ समय तक प्रवरसेन द्वितीय के दरबार में भी रहा हो और 'मेघदूत'

की रचना उसने वहीं की हो। वाकाटक शासक चित्रकला, मूर्तिकला तथा भवन निर्माण कला के भी संरक्षक थे। विदर्भ [illegible] मन्दिर के बरामदे में स्तम्भ इन्डो–पर्सपोलिशन शैली के हैं। एक पेड़ के दोनों ओर दो बैठे हुए आध शेरा की मूर्तियां हैं [illegible] पेड़ की ओर है। नचना का मन्दिर प्रवरसेन द्वितीय के समय में एक सामन्त व्याघ्रदेव ने बनवाया था।

अजन्ता की विहार गुफाएं 16 और 17 तथा चैत्य गुफा 19 वाकाटक काल की है। विहार गुफा 16 हरिषेण के मन्त्री वराहदेव ने बनवाई थी। इसमें एक हाल है जो 66 फुट लम्बा, 65 फुट चौड़ा और 50 फुट ऊंचा है। छत को शहतीरों और कड़ियां के आकार से सजाया गया है। धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक बहुत बड़ी मूर्ति भी है। गुफा का चित्र विथिकाएं तो विकृत हो चुकी हैं केवल मृत्यु–शैयासीन राजकुमारी के चित्र की ग्रिफिथ्स (Griffiths) ने करुणा भावना, कलात्मक, कुशलता और रंग की दृष्टि से बहुत प्रशंसा की है। विहार गुफा 17 भी गुफा 16 जैसी है। गुफा 19 को सुन्दर मूर्ति कला से सजाया गया है। बैठे हुए और खड़े हुए दानी नाकों की मूर्ति यहां देखी जा सकती है। फर्गुसन के अनुसार यह गुफा भारत में बौद्ध कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में से है।

वाकाटक साम्राज्य का पतन: उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हरिषेण की मृत्यु के समय (लगभग 510 ई०) वत्सगुल्म की [illegible] वंश अपनी चरम सीमा पर था। लेकिन इसके बाद कुछ ही वर्षों में यह विशाल साम्राज्य धराशायी हो गया। हरिषेण के किसी इस उत्तराधिकार उपलब्ध स्त्रोतों में उल्लिखित नहीं मिलता, यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि उसके किसी अवयस्क पुत्र ने उसके बाद 15-20 वर्ष इस विघटनशील राज्य पर शासन किया होगा। मिराशी का विचार है कि दण्डी के दशकुमारचरित के अन्तिम उच्छवास में प्रदत कथा हरिषेण के पुत्र के शासन काल में विदर्भ साम्राज्य के विघटन के आधार पर लिखी गयी है लेकिन यह अनुमान अगर सही है तब भी इसे केवल इतना विष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वाकाटक साम्राज्य हरिषेण की अयोग्यता और अधीन राजाओं के विश्वासघात के कारण छिन्न–भिन्न हुआ था। इस निष्कर्ष से तत्कालीन इतिहास विषयक ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। हर हालात में यह राज्य छठी शताब्दी ई० के मध्य तक पूर्ण तथा छिन्न–भिन्न हो चुका था। वाकाटक इस सती के उतरार्द्ध में बादामी के चालुक्यों ने दक्षिणापथ के उन प्रदेशों को जीता जो वाकाटको के स्थान पर अन्य शक्तियां हो गयी करते पाया था। चालुक्यों के अभिलेख में वाकाटकों के साथ उनके संघर्ष की कहीं भी चर्चा नहीं है।

वाकाटकों के पतन का मूल कारण हरिषेण द्वारा अपनाई गई नीति थी। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करते समय विजित प्रदेश पर अपना नियंत्रण दृढ़ रूप से स्थापित करने के स्थान पर उनके राजाओं से सम्भवतः कर प्राप्त करके ही सन्तोष कर लिया। यह नीति समुद्रगुप्त द्वारा दक्षिणापथ नरेशों के प्रति अपनाई गई नीति जैसी ही थी इसीलिए ये प्रदेश उसके उत्तराधिकारी [illegible] उसी प्रकार जैसे पूर्वी दक्षिणापथ पर गुप्तों का प्रभाव समुद्रगुप्त के बाद समाप्त हो गया था।

वाकाटकों के पतन का एक अन्य कारण वे नवोदित शक्तियां थीं जो धीरे–धीरे वाकाटक साम्राज्य और निकटवर्ती प्रदेश [illegible] होती जा रही थी। उदाहरणीय वाकाटकों के हाथ से मालवा प्रदेश निकल जाने के कारण स्पष्टतः वहां के [illegible] यशोधर्मा–विष्णुवर्धन के वंश का उदय था। इसी प्रकार इस युग में उत्तरी महाराष्ट्र के कल्चुरियों का उदय हुआ जिन्होंने [illegible] को अपने अधिकार में कर लिया। कल्चुरी नरेश कृष्णराज का अधिकार दक्षिण में नासिक, पश्चिम में बम्बई और पूर्व में [illegible] अमरावती वैतुल तक था। स्वामीराज नामक राजा का संवत 325 (= 573-74 ई०) का एक दानपत्र विदर्भ में नगरधन [illegible] है। यह राजा कृष्णराज के अधीन रहा होगा। इसी प्रकार बस्तर प्रदेश के नल भी, जिनकी राजधानी पुष्करी थी, इस [illegible] हुए थे और परिणामस्वरूप वाकाटकों के लिए अतिरिक्त विपत्ति का कारण बने होंगे। दक्षिण में वाकाटकों के पतन का [illegible] राष्ट्रकुटीय मनांक के वंशजों का शक्तिशाली हो जाना हो सकता है, लेकिन एम०एच० कृष्ण की यह धारणा कि इस [illegible] ने छठी शती ई० में एक साम्राज्य स्थापित किया था और उसका उदय वाकाटकों के पतन का मुख्य कारण था [illegible] राष्ट्रकुटों ने ऐसा कोई साम्राज्य स्थापित किया होता तो वे चालुक्यों के द्वारा साम्राज्य स्थापना में बडी बाधा सिद्ध होते [illegible] इस रूप में उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में कहीं नहीं मिलता। दक्षिणी शत्रुओं में वाकाटकों के लिए सम्भवतः विष्णुकुण्डी भयंकर सिद्ध हुआ था इसलिए हो सकता है कि वह हरिषेण का निकट सम्बन्धी रहा हो। यह भी सर्वथा सम्भव है कि [illegible] ने शुरू–शुरू में मिलकर युद्ध लड़े हों क्योंकि त्रिकुट जैसे कुछ प्रदेश ऐसे हैं जिसे जीतने का दावा दोनों राजा करते [illegible] है विष्णुकुण्डियों की वाकाटकों से खटपट हो गयी और उन्होंने वाकाटकों पर आक्रमण करके उनके साम्राज्य को [illegible] विष्णुकुण्डी सिक्कों का स्वयं विदर्भ से मिलना एवं माधव वर्मा जनाश्रय द्वारा रेवा और नर्मदा तथा प्रभाव [illegible] जाना इसके प्रमाण हैं।

इकाई-II

अध्याय-1

पुष्पभूति वंश

जानकारी के स्त्रोतः थानेश्वर के वर्धन अथवा पुष्पभूति वंश के इतिहास को जानने के लिए बड़े ही प्रचुर मात्रा में साधन उपलब्ध हैं, जिनमें साहित्यिक अभिलेखीय तथा मुद्रा संबंधी साक्ष्य सम्मिलित है। इसे सौभाग्य ही कहिए कि हमें ह्यूनसांग और बाणभट्ट की कृतियाँ प्राप्त हो गई है। अभिलेख और मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण इनकी पूर्ति करते हैं।

हर्षचरितः पुष्पभूति वंश और विशेषकर हर्ष के समय का इतिहास जानने का एक प्रमुख साधन हर्षचरित है। बाण का जन्म एक ब्राह्मण कुल में हुआ था और वे हर्ष के राजकवि थे। हर्षचरित वस्तुतः हर्षवर्द्धन के जीवन और उसके क्रिया–कलापों का एक ग्रन्थ है किन्तु इससे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का भी हमें ज्ञान होता है। यद्यपि बाण ने अपने आश्रयदाता का गुणगान करते समय यत्र–तत्र उसे अतिरंजित कर दिया है फिर भी सावधानी तथा सतर्कतापूर्वक अध्ययन करने पर इस ग्रंथ से प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इस ग्रंथ के प्रथम प्रकरण में लेखक ने अपना तथा अपने परिवार का परिचय दिया है। इसके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ प्रकरण में हर्ष के पूर्वजों तथा थानेश्वर के राजवंश के इतिहास का वर्णन मिलता है। इसके पांचवें तथा छठे प्रकरण में हर्ष के युद्धों तथा उसकी विजयों का वर्णन मिलता है। इसके अन्तिम प्रकरण में विंध्य वनों में रहने वाले धार्मिक सम्प्रदयों का वर्णन मिलता है।

कादम्बरीः यह भी बाणभट्ट की ही रचना है। यद्यपि यह एक काव्य ग्रंथ है फिर भी इसके अध्ययन से तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है।

हर्षरचित नाटकः हर्ष स्वयं भी एक उच्चकोटि का विद्वान तथा लेखक था। उसके तीन नाटकों अर्थात् रत्नावली, नागानन्द, तथा प्रियदर्शिका की रचना की थी। रत्नावली और प्रियदर्शिका प्रेम तथा राजदरबार षड्यन्त्रों से है और नागानन्द में हर्ष की उदारता तथा दानशीलता का वर्णन है।

आर्यमंजूश्री मूलकल्पः इस ग्रंथ में पुष्पभूति वंश की उत्पत्ति की हमें थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। किन्तु अनैतिहासिक ग्रंथ होने के कारण यह अधिक प्रामाणिक नहीं माना जाता।

ह्वेनसांग का वर्णनः चीनी यात्री ह्वेनसांग हर्ष के शासनकाल में भारत आया था और उसने बहुत कुछ अपनी आंखों से देखा था उसका विवरण हर्षकालीन इतिहास जानने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ हैं इसका इतना बड़ा महत्व है कि डॉ० राधा मुकुद मुकर्जी ने इसकी जांच तथा व्यापकता के कारण इसे गजेटीयर की संज्ञा दी है। उसके विवरण से तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है।

मधुबन ताम्रपत्र अभिलेखः यह अभिलेख 631 ई० का है इससे हर्ष की चार पीढ़ियों तक की वंशावली का ज्ञान प्राप्त होता है।

सोनीपत अभिलेखः इस अभिलेख में हर्ष के शासनकाल के कालक्रम की अवस्थाओं को सुलझाने में बड़ी सहायता मिली है।

बांसखेड़ा अभिलेखः यह 628 ई० का अभिलेख है। इसमें हर्ष के हस्ताक्षर की प्रतिलिपि उपलब्ध हुई है जिससे यह अनुमाल लगाया गया है कि हर्ष एक कुशल लेखक रहा होगा।

मुद्राएं

सौभाग्यवंश अनेक ऐसी मुद्राएं उपलब्ध हुई है जिनसे हर्ष के गुणों पर प्रभाव पड़ता है। ये मुद्राएं निम्नलिखित है।

कनिघम द्वारा प्रकाशित मुद्राः 1894 ई० कनिघम महोदय ने एक मुद्रा प्रकाशित की थी जिसे के अग्रभाग पर एक अश्वारोही का चित्र अंकित है और जिस पर हर्ष देव उत्कीर्ण है इसके पृष्ठ भाग पर एक सिंहासनासीन देवी का चित्र अंकित है। हार्नले महोदय

ने इसे कन्नौज नरेश हर्ष की मुद्रा बतलाई है किन्तु अन्य विद्वानों ने इसे कश्मीर के शासक हर्ष की मुद्रा बतलाया है

भिटोरा मुद्राभाण्ड: फैजाबाद जिले में स्थित भिटोरा नामक गांव में अन्य शासकों की मुद्राओं के अतिरिक्त श्री प्रतापशील की स मुद्राएं और शीलादित्य की 184 मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। ये रजत् मुद्राएं हैं और गुप्त मुद्राओं से इनका साम्य हैं इन पर राजा घोड़ और मयूर के चित्र उत्कीर्ण है। मयूर के चारों ओर 'विजिता–वानिरवन पति श्री प्रतापशील देवो जयति' लिखा हुआ है। इन मुद्राओं पर तिथियां भी उत्कीर्ण हैं। बर्न महोदय ने श्री प्रतापशील की पहचान प्रभाकार वर्धन तथा श्री शीला दित्य की पहचान प्रसिद्ध पुष्य हर्षवर्धन से की है। इन मुद्राओं में श्री शीला दित्य की एक मुद्रा पर श्री हर्ष नाम अंकित है। बर्न महोदय की यह पहचान अधिकतम विद्वानों को मान्य हो गई है।

हर्ष की स्वर्ण मुद्रा: अभी कुछ ही दिन पूर्व हर्ष की एक स्वर्ण मुद्रा उपलब्ध हुई है इस मुद्रा के अग्र भाग पर ब्रह्मी लिपि में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महारा (जह) र्षदेव लिखा है और पृष्ठ भाग में नन्दी पर बैठे हुए शिव और पार्वती का चित्र है शिव जटाधारी और त्रिशुलधारी है इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि हर्ष की शैव धर्म की बड़ी श्रद्धा थी।

पुष्पभूति वंश का परिचय: पुष्पभूति या वर्धन कौन थे? उनकी जाति क्या थी यह प्रश्न कुछ विवादाग्रस्त बना हुआ है 'आर्यमन्जुश्रीमूलकल्प' में पुष्पभूतियों को वैश्य बताया गया है इसी प्रकार ह्वेनसांग के यात्रा विवरण मे यह बात स्पष्ट लिखी हुई कि हर्ष वैश्य जाति का था। इसलिए पुष्पभूति वंश के राजाओं को सामान्यतः वैश्य माना जाता है यह मत कुछ हद तक सही भी है। लेकिन कनिंघम का विचार था कि पुष्पभूति राजा बेस राजपूत थे जिससे ह्वेनसांग को उनके वैश्य होने का भ्रम उत्पन्न हो गया होगा। लेकिन ह्वेनसांग ने अन्य लेखक राजाओं की जाति सही लिखी है। वह भास्करवर्मा की ब्राह्मण, वल्लभी के ध्रुवभट्ट को क्षत्रिय सिन्ध नरेश को शुद्र तथा पारिपात्र के राजा को वैश्य बताता है। इसलिए यह माना न्यायसंगत होगा कि उसे हर्ष की भी पूरी जानकारी मालूम थी जो उसके काल में निश्चय ही चर्चा का विषय रही होगी।

जायसवाल ने पुष्पभूतियों को मालवा के यशोधर्मा–विष्णुवर्धन का वंशज माना है। यह मत 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' के पांच श्लोकों पर आधारित है। इसमें तीन श्लोकों में विष्णु से उत्पन्न दो धनी व्यक्तियों का उल्लेख है जो महायान बौद्ध धर्म में रूचि रखते थे और तदुपरान्त श्रीकण्ठ के आदित्य नाम वाले तीन वैश्य जातीय राजाओं की चर्चा है जो स्थानेश्वर के निवासी थे। इसके बाद के श्लोक में हर्ष का उल्लेख है जो 'सार्वभूमि–नराधिय'' कहा गया है और विष्णु की पहचान यशोधर्मा विष्णुवर्द्धन से करके उसे हर्ष का पूर्वज ठहराया है। क्योंकि वह यशोधर्मा विष्णु वर्धन को थानेसर का राजा मानते हैं। इसलिए उन्हें पुष्पभूति वंश के राजाओं का यशोधर्मा–विष्णुवर्द्धन का वंशज मानने में कोई कठिनाई नहीं है! (1) लेकिन यशोधर्मा–विष्णुवर्धन का थानेसर से कोई सम्बन्ध नहीं था फ्लीट ने अवश्य ही मन्दसौर प्रशस्ति के एक अंश का गलत अनुवाद करके यह अर्थ निकाला था कि विष्णु वर्धन भगवान स्थाणु (थानेसर का शिव) के अतिरिक्त अन्य किसी के सामने सिर नहीं झुकाता था, परन्तु अब यह प्रशनातीत रूप से सही माना जाता है कि इस लेख में यह बात मिहिर कुल के बारे में कही गई है विष्णु वर्धन के बारे में नहीं। (2) आर्यमन्जुश्रीमूलकल्प के इस अंश में विष्णु से आशय विष्णुवर्धन से ही है, यह कहना कठिन है। वैसे भी इस ग्रंथ की एक पाण्डुलिपि में विष्णु की बजाय ब्राह्मण पाठ मिलता है। (3) इस ग्रंथ के उस अंश का जहां थानेश्वर के राजाओं का उल्लेख है, विष्णु और दो धनी व्यक्तियों का उल्लेख करने वाले श्लोकों से सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। (4) यशोधर्मा–विष्णुवर्द्धन ने लगभग 540 ई० तक अवश्य ही शासन किया होगा दूसरी ओर थानेश्वर पर 580 ई० के लगभग प्रभारवर्धन शासन करने लगा था। इस बीच सामान्यतः तीन पीढ़ी के तीन राजा (नरवर्धन राज्यवर्धन प्रथम और आदित्यवर्धन) शासन नहीं कर सकते थे। (5) अगर 'सम्राट राजाधिराज' यशोधर्माविष्णुवर्द्धन हर्ष का पूर्वज होता तो उसकी चर्चा हर्ष के अभिलेखों में अवश्य होती, मात्र 'महाराज' उपाधिधारी नरवर्धन से वश प्रारम्भ नहीं किया जाता।

कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि हर्ष चन्द्र वंशीय क्षत्रिय था। इस मत का आधार 'हर्षचरित' था वह स्थल है जहां राज्यश्री और ग्रहवर्मा के विवाह के अवसर पर उनके वंशों की तुलना चन्द्र और सूर्यवंशों से की गई। दूसरे शब्दों में यहां पुष्पभूति और मौखरी वंशों को चन्द्र और सूर्यवंशी कहा गया है। और क्योंकि मौखरी सूर्यवंशी थे इसलिए पुष्पभूति चन्द्रवंशी रहे होंगे। इस मत के समर्थन में अनेक विद्वानों द्वारा बार–बार ध्यान दिलाया गया है कि यहां बाण ने चन्द्र और सूर्यवंशों के साथ पुष्पभूति और मौखरीवंशों की मात्र तुलना की है स्वयं उनका सूर्य और चन्द्रवंश नहीं कहा है। परनतु इसी को लेकर बी एन शर्मा जैसे अनेक इतिहासकार ह्वेनसांग के स्पष्ट कथन को मानने की बजाय बाण के उपर्युक्त कथन के साथ खींच–तान करके हर्ष को चन्द्रवंशी क्षत्रिय सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं।

यद्यपि उपर्युक्त विवरण में कई विद्वानों ने अपने–अपने विचार रखे हैं लेकिन ज्यादातर विद्वान पुष्पभूतियों को वैश्य ही मानते हैं

श्रीकण्ठ जनपद और स्थाणीश्वर

बाण के हर्षचरित के अनुसार हर्ष के पैतृक राज्य की राजधानी स्थाणीश्वर (आधुनिक थानेसर हरियाणा के कुरुक्षेत्र जिले में स्थित) श्रीकण्ठ जनपद में एक जनपद विशेष था तथा सरस्वती नदी के तट पर स्थित था। बाण ने इस स्थान का अपनी काव्यात्मक शैली में वर्णन किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग की सूचना के अनुसार यह मथुरा के उत्तर पश्चिम में 500 ली की दूरी (लगभग 83 मील) पद स्थित था। बाण के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ जनपद का नाम था जबकि स्थाणीश्वर इसकी राजधानी थी। किन्तु ह्वेनसांग ने देश तथा राजधानी दोनों के लिए एक ही नाम स्थाणीश्वर का प्रयोग किया है।

प्रारम्भिक शासक: बाण के अनुसार इस वंश का संस्थापक पुष्पभूति नामक व्यक्ति था। वह शैव धर्मावलम्बी था और तान्त्रिक क्रियाओं में इसका विश्वास था। मधुबन, बांसखेड़ा आदि अभिलेखों से हर्ष के चार पूर्वजों अर्थात नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकरवर्द्धन के नामों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। इसमें से प्रथम तीन शासकों नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन तथा आदित्यवर्द्धन तथा आदित्यवर्द्धन ने महाराज की उपाधि धारण की थी जिससे स्पष्ट है कि वे सामंत के रूप में शासन कर रहे थे। किन्तु प्रभाकरवर्द्धन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। अतः वह स्वतन्त्र शासक था।

नरवर्द्धन: अभिलेखों में जिन प्रारम्भिक शासकों की सूची दी गई है उनमें नरवर्द्धन का नाम सर्वप्रथम आता है क्योंकि पुष्पभूति का नाम किसी भी अभिलेख में उपलब्ध नहीं है इसलिए नरवर्द्धन को ही इस वंश का प्रथम ऐतिहासिक शासक मानना चाहिए। उसने 'महाराज' की उपाधि धारण की थी इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र शासक तथा वरन् किसी साम्राज्य की अधीनता में सामन्त के रूप में शासन कर रहा था, वह सूर्य का उपासक था उसकी पत्नी का नाम वृज्रणी देवी था। उसके सम्बन्ध में अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं है।

राज्यवर्द्धन: मधुबन तथा बांसखेड़ा अभिलेखों में नरवर्द्धन के उपरान्त राजवर्द्धन का नाम मिलता है। इससे वही उसका उत्तराधिकारी प्रतीत होता है और वही उसकी मृत्यु के उपरान्त थानेसर का शासक हुआ। अपने पिता की भांति वह भी महाराज की उपाधि धारण करता था इससे यह सिद्ध होता है कि वह भी किसी नरेश को सामन्त के रूप में राज्य कर रहा था। वह भी सूर्य उपासक था।

आदित्यवर्द्धन: अभिलेख में राज्यवर्द्धन के पश्चात् आदित्यवर्द्धन का नाम अंकित मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह उसका उत्तराधिकारी था। अपने दो पूर्वजों की भांति वह भी केवल महाराज की उपाधि धारण करता था अर्थात् वह भी किसी राजा के अधीन सामन्त शासक थ। उसने गुप्त राजकुमारी महासेनगुप्त के साथ विवाह किया था। इस विवाह से उसने गुप्तों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गए होंगे। इस विवाह से उसको शक्ति बढ़ाने में सहायता मिली होगी।

प्रभाकरवर्धन (लगभग 580 से 605 ई०)

आदित्यवर्द्धन के पश्चात् उसकी रानी महासेनगुप्त से उत्पन्न उसका पुत्र प्रभाकरवर्धन शासक बना। वह इस राजवंश का प्रथम शासक था। 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कि हर्ष के बांसखेड़ा अभिलेख में उसका एक ऐसे शासक के रूप में वर्णन किया गया है जिसका यश चारों ओर फैल गया था एवं जिसने अपने शौर्य तथा प्रेम द्वारा दूसरे शासकों पर विजय प्राप्त की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके समय में स्थाणेश्वर पूर्ण प्रभुत्ता सम्पन्न राज्य बन गया था। बाण ने उसकी राजनैतिक उपलब्धियों का अलंकारिक शैली में वर्णन किया है। बाण लिखता है कि प्रभाकरवर्धन हुण रूपी हिरणों के लिए सिंह, सिन्धु देश के राजा के लिए ज्वर, गुर्जरों की नींद उड़ाने वाला, गान्धार राजा रूपी मस्त हाथी के लिए कूटपालक नामक बुखार, लाट देश की चातुरी को समाप्त करने वाला तथा मालव–लक्ष्मी रूपी लता को काटने वाला था।

बाण का यह वर्णन काव्यात्मक शैली में है इसलिए इसका ऐतिहासिक परीक्षण करना आवश्यक है। जहां तक हुणों का प्रश्न है इससे पहले उनके नेता मिहीर फुल की महत्वाकांक्षा को नरसिंह गुप्त बालदित्य तथा यशोधर्मा द्वारा करारी चोट लगी थी। इस समय सम्भवतः उनकी शक्ति पुनः बढ़ गई थी। सी०वी० वैद्य ने बाण के विवरण का यथा रूप स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि हुण इस समय भी गान्धार (अथवा पेशावर) तथा शाक्ल (अथवा सियाल बीट) में एक प्रमुख शक्ति के रूप में विद्यमान थे एवं प्रभारवर्धन ने उन्हें पराजित किया था। राधाकुमुद मुकर्जी भी इससे सहमत है। पर यहां पर एक बात उल्लेखनीय है कि हर्षचरित के अनुसार अपने अन्तिम दिनों में प्रभाकरवर्धन का अपने द्वितीय पुत्र राज्यवर्धन को हुणों के दमन के लिए उतरापथ की ओर भेजना पड़ा था। इस आधार पर आर०एस० त्रिपाठी तथा आ०सी० मजुमदार प्रभाकरवर्धन द्वारा हुणों के दमन को सन्देहस्पद लगता है

बी०एन० शर्मा ने मत प्रस्तुत किया है कि प्रभाकरवर्धन ने हुणों को हराया किन्तु उसके पश्चात उसके अन्तिम दिनों में हूण फिर उत्पन्न हो गया। और प्रभाकरवर्धन के द्वितीय पुत्र राज्यवर्धन ने हुणों को परास्त किया था इसलिए बाण ने प्रभाकरवर्धन को 'हुण हरिज केसर' कहा है।

प्रभाकरवर्धन के अन्य मुद्दों के बारे में स्मिथ का कहना है कि वे सभी सफल हुए थे। वैद्य ने बाण के विवरण को पूर्ण सत्य माना है तथा यह विचार व्यक्त किया है कि प्रभाकरवर्धन असन्दिग्ध रूप से उत्तरी भारत का प्रमुख शासक था। बाण द्वारा उल्लिखित सिन्धुराज सम्भवतः रायवंश के शासक राय साहसी का पुत्र द्वितीय राय सिंहरस था।

स्मिथ के अनुसार बाण द्वारा बसाया गया गुर्जर राज्य पंजाब में स्थित था। किंतु पंजाब के ऊपर प्रभाकरवर्द्धन का आधिपत्य पहले से ही था। अधिक उपयुक्त होगा कि बाण द्वारा उल्लिखित राज्य पंजाब में न होकर राजस्थान के भिनमाल प्रदेश में था। गांधार व लाट प्रदेश पर सम्भवतः प्रभाकरवर्द्धन के कुछ आक्रमण मात्र किए होंगे। गांधार को ह्वेनसांग ने कपिसा के अधीन बताया है। लाट पर इस समय गुर्जरों का शासन था। प्रभाकरवर्धन के काल में वे शायद कल्चुरियों के अधीन थे।

बाण के प्रभाकरवर्द्धन को मालव लक्ष्मी रूपी लता के लिए कुठार बताया है। यह बता सकना कठिन है कि इस समय मालवा का शासक कौन था। मुकर्जी के मतानुसार मालवा का यह शासक यशोधर्मा का पुत्र शीलादित्य था किंतु यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि यह शासक देवगुप्त था। जिसने आगे चलकर राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा की हत्या की थ। प्रभाकरवर्द्धन का यह युद्ध भी निर्णायक प्रतीत होता है।

प्रभाकरवर्द्धन को अपने उपर्युक्त शत्रुओं पर किस सीमा तक सफलता मिली कहना कठिन है। बाण का वर्णन इस विषय में सत्य नहीं है। प्रो० देवहुति का निष्कर्ष है कि वह एक युद्धप्रिय नरेश था। उसे शत्रु को देखकर निधि दर्शन की प्रसन्नता होती थी इसलिए वह जरा से भी बहाने से शत्रु पर धावे बोल देता होगा।

प्रभाकरवर्द्धन सूर्यभक्त था। हर्ष के मधुबन व बांसखेड़ा दानपत्रों में उसे परमादित्य भक्त कहा है। हर्षचरित के अनुसार वह दोनों तीन बार आदित्य हृदय मंत्र का जप करता था और प्रतिदिन सूर्योदय के समय स्नान करके श्वेत पुकुल पहनकर सिर पर श्वेत वस्त्र ढककर, पूर्व की ओर मूंह करके, घुटनों के बल बैठकर रक्त कमल से, जो पद्मराग मणी के पवित्र काल में सूर्य के दोनों अनुरक्त मानो, उसके हृदय के रूप में रखा रहता था। देवहुति के अनुसार उसकी सूर्यभक्ति पर ईरानी प्रभाव था।

प्रभाकरवर्द्धन की अनेक पत्नियों का उल्लेख बाण ने 'हर्षचरित' में किया है इनमें यशोमति या यशोवती प्रधान थी। बाण ने उसे महादेवी पद की संज्ञा दी है। देवहुति का अनुमान है कि वह किसी महत्वूपर्ण वंश से संबंधित नहीं रही होगी वरना तथ्य का उल्लेख अवश्य करता। हार्नले के अनुसार वह मालव नरेश यशोधर्मा की पुत्री थी। परन्तु यह मत गलत है क्योंकि यशाधर्मा की मृत्यु लगभग 532-33 है इसलिए वह प्रभाकरवर्द्धन का श्वसुर नहीं हो सकता। प्रभाकर का श्वसुर यशोमती के सती होने के समय जीवित था।

हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्द्धन के राज्यवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन नामक दो पुत्र तथा राज्यश्री नामक एक पुत्री थी। ये तीनों संतान यशामती से उत्पन्न हुई थी। राजश्री का विवाह मौरवरि राजा ग्रहवर्मा से हुआ। इस समय राजश्री की आयु 12-13 वर्ष रही होगी उसकी तुलना में ग्रहवर्मा की आयु बहुत अधिक थी। इस विवाह का अपना एक ऐतिहासिक महत्व है।

राजश्री के विवाह के फलस्वरूप पुष्पभूति तथा मौरवरी वंश में मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हो गये और दोनों ही एक दूसरे के राज्य के शुभचिंतक तथा सहायक बन गये।

राज्यवर्द्धनः हर्षचरित में बताया गया है कि राज्यवर्द्धन को हुणों के विरुद्ध एक अभियान पर भेजा गया था। किंतु हूणों का दमन करने से पहले ही राज्यवर्द्धन को प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के कारण वापस थानेश्वर लौटना पड़ा। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी और उसकी माता सरस्वती के तट पर सती हो गयी थी। राज्यवर्द्धन इतना दुःखी हो गया कि उसे हर्ष के पक्ष में सिंहासन छोड़ने का निश्चय किया। किंतु हर्षवर्द्धन भी सिंहासन स्वीकार करने को तैयार न था अतः राज्यवर्द्धन को 605 ई० में सिंहासन पर बैठना पड़ा। सिंहासन पर बैठते ही राज्यवर्द्धन को समाचार मिला कि राजश्री के पति ग्रहवर्मा का मालवा के शासक देवगुप्त ने वध कर दिया है उसने यह भी सुना कि राजश्री को बंदी बना लिया गया है। राज्यवर्द्धन इसे सहन न कर सका। अपने छोटे भाई को राजधानी में छोड़कर उसने देवगुप्त के विरुद्ध 10,000 घुड़सवारों के साथ प्रस्थान किया। उसने सुगमता से मालवा की सेनाओं को खदेड़ दिया किंतु गौड़ के शासक ने धोखे से उसकी हत्या कर दी।

राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार मिलने के समय हर्षवर्द्धन केवल 16 वर्ष का था। वह सिंहासन पर नहीं बैठना चाहता था। किंतु मंत्रियों के परामर्श से उसने उसकी बात मान ली। इस प्रकार 606 ई० में वह थानेश्वर का राजा बना।

हर्षवर्द्धन (606 से 647 ई०)

हर्षवर्द्धन प्रभाकरवर्द्धन का छोटा पुत्र था वह 590 ई० महदेवी यशोमती के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसका बाल्यकाल अपने भाई राज्यवर्द्धन, अपने मामा के पुत्र भण्डी तथा मालवनरेश के दो पुत्रों कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त के साथ व्यतीत हुआ था, जो स्थानेश्वर में रहते थे। बाण के हर्षचरित से ज्ञात होता है कि हर्ष को युद्ध करने की समुचित शिक्षा दी गयी थी। वह बलिष्ठ शरीर का था और अस्त्र शस्त्र चलाने में बड़ा ही दक्ष था। जब हर्ष की अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी तब उसे इस युद्ध अभियान के लिए जाना पड़ा। उस समय हुणों ने उसके पिता के साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। हर्षवर्द्धन ने अपने भाई राज्यवर्द्धन के साथ शत्रुओं का सामना करने के लिए प्रस्थान किया। 604 ई० में एक सेना के साथ वह थानेसर से चल पड़ा किंतु वह अपने भाई से पीछे रह गया और युद्ध में भाग न ले सका। वह जंगल में शिकार खेलता रहा। जब हर्ष शिकार में व्यस्त था तो थानेसर से एक दूत सूचना लेकर आया कि उसका पिता बीमार है। सूचना पाते ही हर्ष राजधानी की ओर चल पड़ा और बिना कुछ खाए पिए तीन दिन की यात्रा करके अपने पिता के पास आ पहुंचा। हर्ष ने शीघ्र ही अपने भाई राज्यवर्द्धन के पास भी दूत भेजे जो हुणों से युद्ध कर रहा था परंतु उसके आने से पूर्व ही प्रभाकरवर्द्धन का स्वर्गवास हो गया।

जिस समय प्रभाकरवर्द्धन मरणासन्न था उस समय उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन हुणों से युद्ध में संलग्न था। यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वही राज्य का वास्तविक अधिकारी था किंतु अभाग्यवश वह साम्राज्य के सुदूर प्रदेश में रण प्रांगण में विद्यमान था और अचिरात उसका आना असम्भव था। यद्यपि हर्ष ने अपने भाई को बुलाने के लिए दूत भेजे किंतु वह अपनी विषम परिस्थितियों से विवश होकर राजधानी में न आ सका। यद्यपि हर्ष प्रभाकरवर्द्धन का छोटा पुत्र होने के कारण साम्राज्य का उत्तराधिकारी न था किंतु उसकी मरण शैया के पास वही विद्यमान था। ऐसी परिस्थिति में प्रभाकरवर्द्धन ने हर्ष को राज्यभार सम्भलने का निर्देश दिया। स्मिथ तथा डा० राधामुकुन्द मुकर्जी ने इस निर्देश से यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रभाकरवर्द्धन तथा उसके सभासद हर्ष को ही उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे परंतु यह सही प्रतीत नहीं होता। वास्तविकता जो यह है कि न तो प्रभाकरवर्द्धन अपने छोटे पुत्र को राज्यपद देना चाहता था और न हर्ष स्वयं उसे स्वीकार करना चाहता था। सत्य तो यह है कि अपने ज्येष्ठ पुत्र की अनुपस्थिति में प्रभाकरवर्द्धन के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं था। इसलिए उसने हर्षवर्द्धन को यह निर्देश दिया– "संसार में प्रवेश करो, मेरे कोष का उपयोग करो, राज्य के भार को वहन करो, प्रजा की रक्षा करो, अपने आश्रितों की रक्षा करो, अस्त्र–शस्त्र का अभ्यास करो और अपने शत्रुओं का दमन करो।" कोई भी पिता तत्कालीन परिस्थितियों में इसी प्रकार का निर्देश देने के लिए बाध्य हुआ होगा। हर्ष भी राजपद के लिए अनिच्छुक था और विवश होकर ही राज्यभार संभाला था। यदि वह सिंहासन प्राप्त करने की आकांक्षा रखता तो फिर वह अपने बड़े भाई को बुलाने के लिए राजदूत क्यों भेजता। उसने यह भी आशंका व्यक्त की थी कि कहीं पिता की मृत्यु का दुखद समाचार पाकर राज्यवर्द्धन सन्यास ग्रहण न कर ले। केवल इतना ही नहीं जब राज्यवर्द्धन हुणों को परास्त कर रणक्षेत्र से वापस आया और स्वयं सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और हर्ष को शासन भार ग्रहण करने को कहा तो हर्ष बड़ा दुखी हो गया और इन्कार कर दिया। हर्ष की इस बात से यह स्पष्ट हो गया कि वह अपने भाई कि अनुपस्थिति में सिंहासन ग्रहण करने का उद्यत न था।

राज्यवर्द्धन के सिंहासन ग्रहण करते ही समाचार मिला कि उसकी बहन राजश्री के पति, कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा का मालवा शासक देवगुप्त ने वध कर दिया है और उसकी बहन को बन्दी बना लिया है, अपने बहनोई ग्रहवर्मा की हत्या और अपनी बहन को संकटग्रस्त पाकर अपने छोटे भाई हर्षवर्द्धन को राजधानी में छोड़कर, दस हजार घुड़सवारों तथा अपने ममेरे भाई भण्डी को साथ लेकर मालवा की ओर प्रस्थान कर दिया। बाण के कथनानुसार राज्यवर्द्धन ने बड़ी सरलता से मालव नरेश को परास्त कर दिया लेकिन गौड़ के शासक शशांक ने धोखे से उसकी हत्या कर दी।

यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि राज्यवर्द्धन की हत्या गौड़ नरेश द्वारा की गयी थी जो मालवा नरेश का मित्र था किंतु इस बात पर मतभेद है कि उसने उसे युद्ध में परास्त करने के उपरान्त हत्या की थी अथवा विश्वासघात द्वारा उसके प्राण लिये थे।

डा० आर.सी. मजूमदार डा० बैनर्जी तथा अन्य विद्वानों ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि गौड़ के शासक ने राज्यवर्द्धन को युद्ध में परास्त करने के पश्चात ही उसकी हत्या की थी लेकिन ज्यादातर विद्वान विश्वासघात से हत्या को सही ठहराते हैं।

राज्यवर्द्धन ने किस मालव नरेश को हराया था और किस गोड़ नरेश ने विश्वासघात कर उसकी हत्या की था यह न इतिहासकारों के लिए एक समस्या तथा जटिल पहेली बन गया है। जहां तक मालवा नरेश का सबध है बाण ने अपने हर्षचरित में उसे केवल पापात्मा कहा है और उसके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार बाण न गोड के शासक का भी कहीं पर नाम नहीं लिखा है।

डा० गांगुली ने मालव नरेश का समीकरण चालुक्य नरेश शंकरगण के साथ किया है। उनका कहना है कि कल्चुरी नरेश शंकरगण ने मालव नरेश महासेन गुप्त को परास्त कर मालवा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसी पराजय के फलस्वरूप महासेन के दो पुत्रों कुमारगुप्त और माधवगुप्त को थानेसर में शरण लेनी पड़ी थी। इस संरक्षण के कारण ही मालवा नरेश अप्रसन्न हो गया होगा और थानेसर के नरेश प्रभाकरवर्द्धन के दामाद ग्रहवर्मा को परास्त कर उसकी हत्या कर दी होगी किन्तु यह समीकरण कोरी कल्पना तथा अनुमान पर आधारित है। इसलिए इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता

डा० हार्नले तथा डा० मुखर्जी ने माधव नरेश का समीकरण मन्दसौर अभिलेख के यशोवर्मन विक्रमादित्य के पुत्र शीलादित्य से किया है। इन विद्वानों ने अपने मत के प्रतिपादन में कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि विक्रमादित्य के पुत्र शीलादित्य को उसके शत्रुओं ने परास्त कर दिया, शीलादित्य ने भागकर कश्मीर नरेश प्रवरसेन द्वितीय के यहां शरण ली जो इनका मामा था। प्रवरसेन द्वितीय की सहायता से शीलादित्य पुनः मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर सका

उपर्युक्त विद्वानों का कहना है कि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में जिस विक्रमादित्य के पुत्र शीलादित्य का उल्लेख किया है वह मंदसौर अभिलेख के यशोधर्मन विक्रमादित्य का पुत्र शीलादित्य था और जिन शत्रुओं ने उसे परास्त किया था वे मौखरी और गुप्त नरेश थे, उन्होंने मिलकर उसे परास्त किया।

हार्नले महोदय का कहना है कि ह्वेनसांग ने भी मालवा के एक पूर्वकालीन सम्राट शीलादित्य का उल्लेख किया है इसलिए उन्होने इस शीलादित्य का समीकरण मालवा के शीलादित्य के साथ किया है।

डा० हार्नले तथा डा० मुकुर्जी का उपर्युक्त मत भी अमान्य है क्योंकि यह भी कोरी कल्पना तथा अनुमान पर आधारित है न तो इसका कोई विशक्त प्रमाण है कि मालवा के यशोधर्मन ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और न इस विक्रमादित्य का राजतरंगिणी के विक्रमादित्य के साथ समीकरण करने का कोई साक्ष्य उपलब्ध है। ह्वेनसांग के शिलादित्य का मालवा के शीलादित्य के साथ समीकरण करना भी कपोल कल्पित है। यह भी अनुमान निराधार है कि गुप्तो को शीलादित्य के विरुद्ध वर्द्धनों और मौरवरियों की सहायता मिली होगी क्योंकि गुप्तो तथा मौरवरियों में वंशानुगत शत्रुता थी और वर्द्धनों के साथ उनके सम्बन्ध अच्छे न थे।

डा० हेमचन्द्र राय चौधरी तथा कुछ अन्य विद्वानों ने मालवराज का समीकरण देवगुप्त के साथ किया है। यही मत सबसे अधिक तथ्यसंगत प्रतीत होता है। बासखेड़ा अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि देवगुप्त तथा अन्य राजाओं का मद दुष्ट हाथियों के समान थे और जो चाबुक के प्रहार से अपना मुंह फेर लेने के लिए बाध्य किये गये थे, एक साथ जीतकर अपने शत्रुओं का विनाश करके संसार पर विजय प्राप्त करके, प्रजा को संतुष्ट करके महाराजा राज्यवर्द्धन ने सत्य के अनुरोध पर शत्रु के भवन में अपने प्राण खो दिये।" विद्वानों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि देवगुप्त सम्भवतः मालव नरेश महासेनगुप्त का पुत्र और कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त का सौतेला भाई था। उसने सम्भवतः अपने पिता तथा भाईयो के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था और उन्हें परास्त कर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया होगा। चूंकि कुमार गुप्त और माधवगुप्त थानेसर में शरणागत थे अतः माधवगुप्त की सत्ता मालवा में स्थापित करने के लिए प्रभाकरवर्द्धन ने उसके साथ युद्ध किया होगा और उसे परास्त कर दिया होगा। अपनी इस पराजय का बदला लेने के लिए ही देवगुप्त ने प्रभाकरवर्द्धन के दामाद ग्रहवर्मा की हत्या कर दी होगा।

हर्षवर्द्धन (606-647 ई०)

जिस समय हर्ष सिंहासन पर बैठा वह उस समय केवल 16 वर्ष का एक नौजवान था। उसे शासन का कोई अनुभव नहीं था। इससे पूर्व उसने किसी युद्ध में भाग भी नहीं लिया था परंतु वह शस्त्र विद्या में कुशल था। पिता तथा बड़े भाई की मृत्यु हो जाने के कारण उसका पथ प्रदर्शक भी न था। वह शत्रुओं से घिरा था। उसका बहनोई ग्रहवर्मा मारा डाला गया

था और कन्नौज पर शत्रुओं ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। उसकी बहन राजश्री बंदीगृह में डाल दी गयी थी। उसका सेनापति भी राजधानी से दूर शत्रुओं से संघर्ष कर रहा था। इस प्रकार हर्ष संकटपूर्ण स्थिति में था और उसकी समस्याएं बड़ी भयंकर थी। किन्तु दे समस्याएं तत्कालीक और अति महत्वपूर्ण थी। पहली समस्या तो गौड़ नरेश शशांक को दण्ड देना था और दूसरे राजश्री को मुक्त करवाकर कन्नौज की रक्षा करना था।

हर्षवर्द्धन की विजय: हर्ष एक योद्धा तथा विजेता था। उसने कई शक्तियों से लोहा लिया तथा विजय प्राप्त की किन्तु दुर्भाग्य से इन युद्धों के बारे में कोई सुनिश्चित जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। उसके सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं:

(1) **गौड़ नरेश शशांक से संघर्ष:** हर्ष के भाई राज्यवर्द्धन की हत्या गोड़ के शासक शशांक ने कर दी थी। भाई की मृत्यु का समाचार पाते ही हर्ष ने उसे दण्डित करने के लिए प्रस्थान कर दिया। किन्तु राजश्री को विध्यपर्वत में ढूंढने की समस्या के कारण उसने अपनी युद्ध यात्रा स्थगित कर दी और शशांक को दण्डित करने का भार सेना के संचालक भांडी को सौंप दिया। भांडी ने क्या किया, शशांक को दण्ड मिला या नहीं, इसके विषय में किसी भी साक्ष्य में कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती है। गंजम लेख से हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि 619 ई० में माधवराज द्वितीय गंजम प्रदेश में शशांक सामन्त के रूप में शासन कर रहा था। इस प्रकार इस लेख से यह स्पष्ट होता है कि 619 ई० तक शशांक जीवित था अपने राज्य में एक स्वतंत्र शासक के रूप में शासन कर रहा था अर्थात न तो हर्ष ने और न उसके सेनापति भांडी ने ही उससे युद्ध कर उसे अपना स्वामित्व स्वीकार करने के लिए विवश किया।

मंजुश्रीमुलकल्प से इस विषय में हमें थोड़ा अधिक ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें लिखा है कि ह अक्षर से प्रारम्भ होने वाले नाम के राजा पूर्व की ओर प्रस्थान किया और पुन्ड्र जा पहुंचा, दुष्टकर्मा सोम परास्त हुआ। विद्वानों का कहना है कि ह अक्षर से प्रारम्भ होने वाले नाम का राजा हर्ष था। सोम का अर्थ होता है शशि। इसलिए दुष्टकर्मा सोम का तात्पर्य शशांक से है। पुण्ड्र का तात्पर्य बंगाल से है इसलिए डा० राधा गोविन्द बसाक ने यह अर्थ निकाला है कि हर्ष ने शशांक को परास्त कर दिया था किंतु गोड़ राज्य पर वह अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं रख सका वरन् शशांक को उसके साम्राज्य की सीमा में रहने के लिए विवश कर वह वापस लौट आया। खन्डे महोदय ने बिना किसी विश्वस्त और अकाट्य प्रमाण के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया है कि शशांक ने अपनी पुत्री का विवाह हर्ष के साथ कर दिया था इस प्रकार दोनों में मैत्री संबंध स्थापित हो गया था।

जब 637 ई० में हेनसांग पूर्वी भारत का भ्रमण कर रहा था। उसने लिखा कि उसके थोड़े दिन पूर्व यहां पर शशांक नाम का राजा राज्य करता था। जिसका तात्पर्य है कि 637 ई० के थोड़े दिन पूर्व शशांक की मृत्यु हो गयी होगी। किंतु बंगाल में उन दिनों कौन सा स्वतंत्र शासक शासन कर रहा था इसका उल्लेख उसने नहीं किया है। इससे यह अनुमान लगाया है कि 634 ई० के आसपास हर्ष ने शशांक के राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। यह भी संभव है कि हर्ष ने इस विजित राज्य का कुछ भाग अपने मित्र कामरूप नरेश भास्कर वर्मा को दे दिया हो। किंतु इस तथ्य का भी स्मरण नहीं करना चाहिय कि हर्ष की शशांक के ऊपर विजय के जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे मुख्यतः अनुमान के ऊपर निर्धारित हैं और बड़े ही संदिग्ध हैं।

(2) **कामरूप:** यह कहना कठिन है कि हर्ष ने कभी बंगाल के उस भाग पर अधिकार किया था जो भागीरथी के पूर्व की ओर और पद्मा नदी के उत्तर की ओर था। किन्तु यह निश्चित है कि कुछ समय तक भास्कर वर्मा, कामरूप का राजा इस क्षेत्र का राजा था। सम्भव है कि हर्ष ने शशांक के साथ युद्ध में भास्कर वर्मा से जो सहायता प्राप्त की, उसके लिए उसने यह प्रदेश पुरस्कारस्वरूप दिया हो। यह भी संभव है कि हर्ष कुछ समय तक बंगाल का स्वामी रहा हो और भास्कर वर्मा ने यह प्रदेश हर्ष की मृत्यु के बाद प्राप्त किया हो।

(3) **वल्लमी:** हर्ष के समय सौराष्ट्र में मैत्रक वंश शासन कर रहा था और वल्लमी इस राज्य की राजधानी थी। इन दिनों वल्लमी में ध्रुवसेन द्वितीय शासन कर रहा था। वल्लमी राज्य के उत्तर में हर्ष का और उसके दक्षिण में चालुक्य नरेश द्वितीय का साम्राज्य विद्यमान था। इस प्रकार सैनिक दृष्टिकोण से वल्लमी राज्य का बहुत बड़ा महत्व था। इसलिए दोनों शक्तियों की नजर वल्लमी राज्य पर थी और इसे अपने साम्राज्य का अंग बनाना चाह रहे थे। एक बात और ध्यान देने की यह है कि हर्ष दक्षिण भारत पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा था किन्तु अपने

साम्राज्य के दक्षिण भाग में स्थित वल्लमी पर बिना प्रभुत्व स्थापित किए वह अपने दक्षिण के अभियानों को नहीं चला सकता था। इन परिस्थितियों में हर्ष ने वल्लमी पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का ज्ञान हमें मंडोच्य के गुर्जर नरेश दद्द के नौसारी के दानपत्र से प्राप्त होता है, जिसमें लिखा है "श्री हर्षदेव द्वारा पराजित वल्लमी नरेश की रक्षा करने के कारण श्री दद्द को जो यश प्राप्त हुआ उसका वितान उसके ऊपर बराबर झुलता रहता था" इस लेख से हमें चार बातों का ज्ञान प्राप्त होता है पहला तो यह कि हर्ष ने वल्लमी पर आक्रमण किया। दूसरा यह कि वल्लमी नरेश परास्त हो गया। तीसरा यह कि वल्लमी नरेश को गुर्जर नरेश के यहां शरण मिली। तथा यह कि वल्लमी नरेश का संरक्षण प्रदान करने से दद्द को बड़ा यश प्राप्त हुआ।

(4) **पुलकेशिन द्वितीय के साथ युद्ध:** चालुक्य अभिलेखों से पता चलता है कि हर्ष का संघर्ष चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय के साथ हुआ था। पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य वंश का सबसे शक्तिशाली शासक था और सम्पूर्ण दक्षिण में उसकी धाक स्थापित हो गयी थी। जिस प्रकार हर्ष उत्तर भारत का सर्वशक्तिमान सम्राट था उसी प्रकार पुलकेशिन दक्षिण भारत का सर्वशक्तिमान राजा था। ये दोनों ही बड़े महत्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी सम्राट थे और अपने राज्य के विस्तार में संलग्न थे। अतएव उनमें संघर्ष अनिवार्य हो गया। हर्ष तथा पुलकेशिन द्वितीय मे जो युद्ध हुआ उसमें हर्ष की पराजय हुई और उसकी सेना को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी। हर्ष की इस पराजय के हमारे पास तीन प्रमुख साक्ष हैं।

ह्वेनसांग के कथनानुसार इन दिनों राजा शीलादित्य महान पूर्व तथा पश्चिम मे आक्रमण कर रहा था पांच राज्यों के राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी किंतु मो–हो–ल–च महाराष्ट्र ने उसकी अधीनता स्वीकार न की इससे यह अनुमान लगता है कि हर्ष ने पुलकेशिन के साथ युद्ध किया होगा।

ह्वेनसांग की जीवनी से भी हमें पता चलता है कि अपनी सफलताओं से प्रोत्साहित होकर हर्ष ने पुलकेशिन द्वितीय पर आक्रमण किया था किंतु उसे पराजय का मुह देखना पड़ा।

दक्षिण के अनेक अभिलेखों से भी हर्ष की पराजय का ज्ञान प्राप्त होता है। 634 ई० के ऐहोल अभिलेख के अनुसार "इस युद्ध में हाथियों की सेना को इतनी बडी क्षति पहुंची कि हर्ष का सम्पूर्ण 'हर्ष' समाप्त हो गया। एक अन्य अभिलेख में भी हर्ष की पराजय का आभास मिलता है। हैदराबाद के दान–पत्र से भी हमें ज्ञात होता है कि पुलकेशिन ने सैकड़ों शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। फ्लीट महोदय का अनुमान है कि इन पराजित शत्रुओं मे हर्ष भी एक रहा होगा।

हर्ष तथा पुलकेशिन द्वितीय में किस स्थान पर युद्ध हुआ इसके संबंध में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। स्मिथ के अनुसार यह युद्ध नर्मदा नदी के दक्षिण मे कहीं हुआ होगा। सम्भवतः इस नदी को पार करके हर्ष ने पुलकेशिन से युद्ध किया होगा किन्तु पुलकेशिन से परास्त हो जाने के उपरान्त हर्ष नदी को पार कर उत्तर की ओर चला गया और यही नदी उसके साम्राज्य की दक्षिण सीमा बन गयी। किन्तु डा० आर सी मजूमदार ने इस मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि एहोल अभिलेख के अनुसार लाट, मालव तथा गुर्जर नरेश पुलकेशिन द्वितीय की अधीनता में शासन कर रहे थे और इस बात को कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि इन नरेशों ने हर्ष की अधीनता स्वीकार की थी। हर्ष के विवरण से भी यही ज्ञात होता है कि इन दिनों मालव तथा बुन्देलखण्ड में स्वतंत्र शासक विद्यमान थे इसलिए मजूमदार महोदय ने यह अनुमान लगाया है कि हर्ष पुलकेशिन युद्ध नर्मदा नदी से दूर कही उत्तर मे किसी स्थान पर हुआ होगा।

(5) **सिन्ध:** बाणभट्ट के कथनानुसार हर्ष ने सिन्ध पर भी आक्रमण किया था और वहां के राजा को परास्त किया था। प्रभाकरवर्द्धन के शासन काल से ही सिन्ध के साथ शत्रुता चल रही थी अतएव यह सम्भव है कि हर्ष ने सिन्ध पर आक्रमण किया हो। परन्तु ह्वेनसांग के विवरण से पता चलता है कि जब वह भारत आया था सिन्ध में एक स्वतन्त्र राजा प्रबल शासन कर रहा था। इससे सिद्ध होता है कि हर्ष को सिन्ध के विरुद्ध सफलता प्राप्त न हुई

(6) **कांगोद विजय:** यह राज्य महानदी के दक्षिण में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित था। ह्वेनसांग की जीवनी से हमें ज्ञात होता है कि 643 ई० में हर्ष ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था।

(7) **नेपाल तथा कश्मीरः** भगवानलाल इन्द्राजी तथा बुल्हार जैसे विद्वानों का मत है कि हर्ष ने नेपाल को भी विजित किया था। उनके मत का तथ्य इस पर आधारित है कि हर्ष का संवत नेपाल में भी लिखा जाता है। डा० आर. के. मुकर्जी ने भी कश्मीर के बर्फीले पहाड़ों के दुर्गम प्रदेश के हर्ष द्वारा दमन करने का उल्लेख किया, सम्भवत यह प्रदेश कश्मीर ही रहा होगा।

डा० सिलवेन लेवी के विचार भगवान लाल इन्द्राजी तथा बुल्हार के विचारों से भिन्न हैं उनका विचार है कि "उस समय नेपाल तिब्बत के अधीन राज्य था और तिब्बत ने हर्ष की मृत्यु के पश्चात उसके सिंहासन को छीनने वाले के विरुद्ध चीनी दूत वांग ह्यान–त्से के अभियान के समर्थन में नेपाल की सहायता की थी।" उनका यह भी विचार है कि नेपाल में हर्ष संवत के प्रचलन से यह सिद्ध नहीं होता कि नेपाल हर्ष के अधीन राज्य था। नेपाल केवल हर्ष के साम्राज्य का निकटवर्ती पड़ोसी राज्य था। हर्ष संवत प्रयोग करने वाले अभिलेख सम्भवतः नेपाल के उस भाग में है जो हर्ष के साम्राज्य के पास लगता था। सम्भव है कि नेपाल के राजा ने अभिलेखों के स्थानों में हर्ष संवत को उन अभिलेखों में प्रयुक्त किया हो जिनका उन क्षेत्रों के निवासियों में प्रचलन था।

हर्ष का साम्राज्य विस्तारः यद्यपि हर्ष के साम्राज्य विस्तार के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है परन्तु उनकी विजयों का अध्ययन करने के उपरान्त उसके राज्य विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता था। यह तो निश्चित ही है कि हर्ष कन्नौज तथा थानेसर का राजा था। थानेश्वर का राज्य पूर्वी पंजाब में और कन्नौज गंगा दोआब में स्थित था। प्रयाग श्रावस्ती और अहिच्छत्र के प्रान्त भी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। चीनी प्रमाणों से हमें पता चलता है कि 641 ई० में मगध भी उसके राज्य में आ गया था। उड़ीसा भी उसके राज्य के अन्तर्गत ही था। जालन्धर के शासक उदिति तथा पूर्वी मालवा का माधवगुप्त उसके अधीन शासन करते थे। कामरूप का शासक, जो ब्रह्मपुत्र नदी के उस पार शासन करता था, उसका मित्र था, सम्भवतः उसके आधिपत्य को मानता था। एक चीनी यात्री के लेख से यह पता चलता है कि पूर्व का राजा हर्ष की प्रधानता को मानता था और उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का साहस नहीं करता था। कामरूप के शासन ने हर्ष की इच्छा के विरुद्ध एक चीनी यात्री को अपनी राजधानी में रोकने का साहस नहीं किया था। हर्षचरित से पता चलता है कि हर्ष ने कामरूप के शासक भास्करवर्मन को राजसिंहासन पर बैठाया था। इससे स्पष्ट होता है कि कामरूप का शासक हर्ष के आधिपत्य को स्वीकार करता था। कश्मीर के राजा को दन्त स्मारक देने के लिए हर्ष ने विवश किया था। सिन्ध के शासक को भी उसने नतमस्तक कर दिया था। वल्लमी के शासक ने भी हर्ष का अधिपत्य स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार हिमालय से लेकर नर्मदा तक तथा कामरूप से वल्लमी तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर हर्ष का शासन स्थापित था।

हर्ष के चीन के साथ संबंधः चीनी यात्री ह्वेनसांग हर्ष के समय में भारत आया। ह्वेनसांग ने चीनी शासक के विषय में हर्ष को जो कुछ बताया उससे हर्ष बहुत प्रभावित हुआ। 641 ई० में हर्ष ने चीन के दरबार में एक ब्राह्मण दूत भेजा। 643 ई० में एक चीनी दूत मण्डल भारत आया। मात्वान–लिन ने इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है "शीलादित्य ने 'मगध का राजा' उपाधि धारण कर ली और दूत को पत्र देकर सम्राट के पास भेजा और शीलादित्य को (चीनी सम्राट के प्रति) समर्पण करने के लिए निमंत्रण दिया। शीलादित्य को अधिक आश्चर्य हुआ और उसने अपने कर्मचारियों से पूछा कि उससे पहले कभी कोई चीनी दूत भारत आया था। सभी ने एक ही स्वर में उत्तर दिया नहीं। तत्पश्चात राजा बाहर गया, उसने राजकीय आदेशों को झुके हुए घुटनों से स्वीकार किया और उसे सिर पर रख लिया।"

इस वर्णन से एटिंघासेन ने निर्णय निकाला कि हर्ष बड़ी कठिनाई में रहा होगा और उसे चीन के शासक की सहायता की बहुत आवश्यकता रही होगी। किन्तु यह विचार निराधार प्रतीत होता है। यह स्वीकार करना कठिन है कि हर्ष चीन जैसे दूरवर्ती देश से किसी सहायता की आशा कर सकता था।

643 ई० में ली–य–प्याओ और वांग–ह्यान–त्से के अधीन एक और चीनी दूत मण्डल अपने साथ चीनी सम्राट का उत्तर भी लाया और उसके सदस्यों का हार्दिक स्वागत भी किया गया। वांग–ह्यान–त्से को चीन पहुंचने के शीघ्र बाद भारत भेज दिया गया था। यह दूत मण्डल सम्भवतः हर्ष के पत्र के बाद आया हो जो उसने ह्वेनसांग के हाथ भेजा था। 644 ई० में वांग–ह्यान–त्से फिर भारत आया किंतु दुर्भाग्यवश तीसरे दूतमण्डल के भारत पहुंचने से पहले ही हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी।

हर्ष का धर्म

हर्ष के धर्म अथवा धार्मिक विचारों के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वह किस धर्म का अनुयायी था यह बड़ा ही [illegible] प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानों के विचार में वह शैव मत का अनुयायी था। किन्तु कुछ अन्य विद्वान इस बात को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी था और इसी में उसकी वास्तविक आस्था थी। विद्वानों के इन विरोध मतों का विवेचन करके एक सतुलित निष्कर्ष निकालने के पूर्व हर्षवर्द्धन के पूर्वजों के धार्मिक विचारों पर एक विहंगम दृष्टि डाल देना सहायक होगा।

हर्ष के पूर्वजों का धर्म और उसका हर्ष पर प्रभावः बाण के हर्षचरित से हमें ज्ञात होता है कि पुण्यभूति, जो वर्द्धन वंश का संस्थापक था शैव धर्म को मानने वाला था उसका तान्त्रीय कर्मकाण्ड में पूरा विश्वास था। इस वंश का प्रथम ऐतिहासिक शासक नरवर्द्धन सूर्य का उपासक था, उसके उत्तराधिकारियों राज्यवर्द्धन तथा आदित्यवर्द्धन को भी सूर्य भगवान का बहुत बड़ा भक्त कहा गया है। इन का पिता प्रभाकरवर्द्धन जो इस वंश का स्वतंत्र शासक माना जाता है ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था क्योंकि मधुबन लेख में उसे वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में सचेष्ट बतलाया गया है। सोनीपत अभिलेख में उसे आदित्यभक्त अर्थात् सूर्यभक्त कहा गया है।

इस वंश के सर्वप्रथम बौद्ध धर्म की ओर झुकाव का प्रमाण हमें हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन के संबंध में मिलता है क्योंकि बांसखेड़ा तथा मधुबन के अभिलेखों में उसे परम सौगात अर्थात बौद्ध बतलाया गया है किन्तु सोनीपत अभिलेख में उसे आदित्य भक्त अर्थात् सूर्यभक्त कहा गया है। इस प्रकार राज्यवर्द्धन सम्भवतः बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों धर्मों में आस्था रखता था और दोनों ही धर्मों से उसका लगाव था।

अपने पूर्वजों की धार्मिक आस्था तथा लगाव का हर्ष पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका अपने समय के विभिन्न धर्मों की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। उसके पूर्वज शैव धर्म में विश्वास रखते थे और कुछ सूर्य के उपासक थे। उसका बड़ा भाई राज्यवर्द्धन तथा बहन राजश्री बौद्ध धर्म में विश्वास रखते थे। इन पारिवारिक परिस्थितियों में उसका शैव धर्म की ओर आकृष्ट होना और सूर्य की उपासना में विश्वास करना स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म के सिद्धांतों में भी उसकी आस्था उत्पन्न होना अस्वाभाविक न था।

शैव मत के प्रति श्रद्धाः विभिन्न साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्रथम पूर्वज पुण्यपति की भांति हर्ष का भी शिव में विश्वास था और वह शैव धर्मावलम्बी था। बासखेड़ा ताम्रपत्र, नालन्दा सील, तथा सोनीपत सील में उसे परम-माहेश्वर अर्थात शिव का परम भक्त कहा गया है। इसी प्रकार बाण के हर्षचरित से भी हमें ज्ञात होता है कि गौड़ नरेश शशांक के विरुद्ध युद्ध अभियान से पूर्व उसने भगवान शिव की पूजा की थी और ब्राह्मणों का दान दिया था। फर्रूखाबाद से प्राप्त हर्ष की स्वर्ण मुद्रा पर भी सिक्के पर बैठे शिव व पार्वती के चित्र अंकित मिले हैं। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि हर्ष शिव का उपासक था।

सूर्य की उपासना में विश्वासः अनेक साक्ष्यों से हमें इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि अपने पूर्वजों की भांति हर्ष भी सूर्य की उपासना में विश्वास रखता है। ह्वेनसांग के विवरण से यह प्रकट होता है कि हर्ष सूर्य का उपासक बना रहा। उसके सूर्य उपासक होने का दूसरा प्रमाण यह है कि प्रयाग के पंचवर्षीय समारोह के अवसर पर वह महात्मा बुद्ध तथा शिव के साथ-साथ सूर्य की पूजा तथा उपासना किया करता था।

उपर्युक्त प्रमाणों एवं साक्ष्यों के आधार पर हर्ष को ब्राह्मण धर्मावलम्बी तथा शिव तथा सूर्य का उपासक स्वीकार कर लेना सही होगा।

बौद्ध धर्म की ओर झुकावः जहां इस बात के प्रबल प्रमाण मिलते हैं कि हर्ष ब्राह्मण धर्म को मानने वाला था वहां हमें इस बात के भी प्रबल साक्ष्य उपलब्ध हैं जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि धीरे-धीरे हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर होता जा रहा था और कालान्तर में इस धर्म में उसकी पूर्ण आस्था तथा अटल विश्वास हो गया।

हर्ष को बौद्ध धर्म की ओर झुकाने में विभिन्न व्यक्तियों का प्रभाव रहा है। हर्ष का बड़ा भाई राज्यवर्द्धन बौद्ध धर्मावलम्बी [illegible] था। इस बात की प्रबल सम्भावना है कि अपने बड़े भाई के धार्मिक विचारों से हर्ष प्रभावित हुआ हो और बौद्ध धर्म की [illegible] झुकाव हो गया हो। दूसरे इस बात की भी प्रबल संभावना है कि बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के प्रभाव स्वरूप भी हर्ष का [illegible] धर्म की ओर हो गया था। जिस समय हर्ष अपनी बहन राज्यश्री की खोज में विन्ध्य के वन्य प्रदेशों में भ्रमण कर रहा था [illegible] उसकी भेंट बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र से हुई थी जिसके उपदेशों से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ था। हर्ष के दिनतां [illegible] कुछ समय तक उसके राजभावन में भी रहा था। इसलिए इस बात की बहुत बड़ी सम्भावना है कि हर्ष तथा उसकी बहन [illegible] दोनों ही इस बौद्ध महात्मा के उपदेशों से प्रभावित हुए होंगे और उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया होगा।

चीनी यात्री ह्वेनसांग के उपदेशों का भी हर्ष पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की [illegible]

हर्ष ने कन्नौज में धार्मिक समारोह किया था उसमें उसने बुद्ध की प्रतिमा को सबसे आगे प्रतिष्ठित किया था और अपने को इन्द्र के वेश में और अपने मित्र भास्करवर्मा को ब्रह्मा के वेष में उस प्रतिमा के पीछे रखा था। इस प्रकार उसने बौद्ध धर्म को प्रधान तथा ब्राह्मण धर्म को गोण स्थान दिया था। इससे हर्ष की दृष्टि में बौद्ध धर्म की उच्चता और ब्राह्मण धर्म की हीनता आभाषित होती है।

कन्नौज की धार्मिक सभा में ही हर्ष बौद्ध–भिक्षुओं के प्रति विशेष उदारता तथा दया दिखलाई थी और उसने दान दक्षिणा में इतना अधिक धन दे दिया था कि उसका कोष रिक्त हो गया था। इसके विपरीत दूर स्थानों से आए हुए अन्य धर्मावलम्बियों को उसने पूछा तक नहीं। कन्नौज सभा में किए गए अनुचित व्यवहार से ब्राह्मण लोग इतना असंतुष्ट हो गये कि उन्होंने उसकी हत्या के लिए षडयंत्र रचा। इस षडयंत्र का हर्ष ने बड़ी क्रूरता के साथ दमन किया था। कहा जाता है कि अनेक षडयंत्रकारियों को मृत्यु दंड दिया गया और 500 ब्राह्मणों को निर्वासित कर दिया गया। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह ब्राह्मण धर्म का विरोधी हो गया था और बौद्ध धर्म से उसे विशेष लगाव हो गया था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था और अहिंसा धर्म में उसकी आस्था हो गयी थी किंतु वह अन्त तक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी बना रहा और शिव तथा सूर्य का उपासक बना रहा। वास्तविकता तो यह है कि हर्ष में उच्चकोटि की धार्मिक सहनशीलता थी और वह सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखता था और सभी उसकी उदारता, दया, दान दक्षिणा तथा आदर सम्मान के पात्र थे।

हर्ष का शासन प्रबन्ध

हर्ष न केवल एक महान विजेता था वरन् एक कुशल प्रशासक भी था। डा० आर.सी. मजूमदार ने हर्ष की प्रशासकीय प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है "इसमें सन्देह नहीं कि वह भारत के महानतम सम्राटों में से एक था। एक उथल–पुथल के काल में उसे दो विश्रृंखलित राज्यों का शासन करना पड़ा। वह उत्तरी भारत के एक विशाल क्षेत्र के बहुत बड़े अंश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल रहा।" हर्ष का प्रशासकीय स्वरूप सामंतीय था। उसने बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ गुप्त कालीन शासन व्यवस्था का ही अनुकरण किया था। उसके शासन की रूपरेखा इस प्रकार थी–

केन्द्रीय प्रशासनः हर्ष का केन्द्रीय शासन अत्यन्त सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित था। इसके विभिन्न अलग–अलग अंग थे–

सम्राटः सम्राट शासन का सर्वप्रधान था। वह 'परमभट्टारक' 'महाराजाधिराज' 'परमेश्वर' 'परमदेवता सम्राट' 'एकाधिराज' 'चक्रवर्ती' 'सार्वभौम' आदि उपाधियों से अपने आपको विभूषित करता था। सम्राट स्वयं राजकाज का पूर्ण रूप से निरीक्षण करता था। वह अपने मंत्रियों की नियुक्ति करता था तथा घोषणा पत्र निकालता था, न्यायधीश का कार्य करता था, युद्ध में सेनाध्यक्ष का पद ग्रहण करता था और अपनी प्रजा के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कार्य किया करता था। वह बहुत परिश्रमी था। उसके कार्य इतने व्यापक थे कि उन्हें पूरा करने के लिए सम्पूर्ण दिन भी उसके लिए छोटा होता था। वह अपने राज्य में अपनी सेवा तथा सामंतों के साथ बड़ी शान के साथ भ्रमण किया करता था और दुष्टों को दण्ड तथा सदाचारियों को पुरुस्कार देता था। इन यात्राओं से उसे देश और जनता का पूरा ज्ञान हो जाता है अपैर अपनी प्रजा के कष्टों को दूर करने का पूरा प्रयास करता था। अपने दैनिक कार्यों को उसने तीन भागों में विभक्त कर रखा था। इनमें एक भाग शासन तथा दो धर्म के कार्यों के लिए निश्चित थे। सम्राट की इस सतर्कता तथा परिश्रम का उसके राजकर्मचारियों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। महान हर्ष अर्थशास्त्र के ग्रंथों के निर्धारित आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया करता था। ह्वेनसांग ने राजा के परिश्रम तथा उसकी दानशीलता की बड़ी प्रशंसा की है। सम्राट का सम्पूर्ण समय धार्मिक कृत्यों तथा शासन संबंधी कार्यों में व्यतीत होता था।

मंत्री परिषदः सम्राट की सहायता के लिए एक मंत्री परिषद होती थी। ह्वेनसांग के विवरण से पता चलता है कि कन्नौज के मंत्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठने के लिए आमंत्रित किया था। अतएव यह अनुमान लगाया जाता है कि हर्षवर्द्धन द्वारा कन्नौज के राजसिंहासन को स्वीकार कर लेने पर भी यह मंत्री उसे परामर्श देते रहे होंगे। परंतु श्री गौरी शंकर चटर्जी ने इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं "हमें यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि अशोक तथा शुंग वंशीय राजाओं की भांति हर्ष के पास भी कोई मंत्री परिषद थी अथवा नहीं। अधिक सम्भावना इस बात की है कि इस समय तक यह संस्था लुप्त हो चुकी थी किंतु फिर भी राजा सब काम अनियंत्रित रूप से नहीं करते थे। उनके मंत्री सदैव अपने बुद्धिमतापूर्ण परामर्शों द्वारा उसका पथ प्रदर्शक करते थे। हर्ष के काल में कई मंत्री होते थे।

किसी भी प्रशासन की सफलता नौकरशाही की कुशलता पर निर्भर करती है इसलिए हर्ष ने विभागों का योग्य एवं ईमानदार व्यक्तियों में बांट रखा था। गुप्त काल की भांति मंत्री सन्धीविग्राहक, अक्षपटलाधिकृत, तथा सेनापति ऊंचे पद के मंत्रियों में से था। हर्ष का प्रधानमंत्री उसका ममेरा भाई भण्डी था। सम्राट का संधिविग्राहक अवन्ती था, यह युद्ध तथा संधि के कार्यों में राजा को परामर्श करता था। यह राजकीय आदेशों तथा घोषणाओं का लेखन भी करता था। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि युद्ध तथा शासन का अलग प्रबन्ध नहीं था और एक ही पदाधिकारी दोनों कार्यों को कर सकता था। सेना का सर्वोच्च पेनापति महाबालाधिकृत कहलाता था, इस पद पर सिंहनाद था। इसके नीचे अन्य सेनापति होते थे। वृहदसवार घुड़सवार सेना का नायक था। हर्षचरित्र के अनुसार इस पद पर कुन्तल था। हाथियों की सेना का प्रधान कंटुक कहलाता था, इस पद पर स्कन्दगप्त था। एक पदाधिकारी के पास युद्ध का भण्डागार रहता था इस विभाग को रणभण्डाधिकरण कहते थे। दानपत्रों में दूतक नामक अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है, यह दूतक प्राय उच्चकोटि का मंत्री होता था। कभी–कभी इस पर राजकुमार भी नियुक्त किये जाते थे इसे दान दी गयी भूमि को हस्तांतरित करने के लिए भेजा जाता था।

महल के मुख्य सुरक्षा अधिकारी अथवा प्रधान द्वारपाल को महाप्रतीहार कहते थे। वह राजा के पास जाकर दर्शकों के आगमन की घोषणा करता था और उन्हें राजा के पास ले जाता था। महाप्रतीहार के अतिरिक्त कंचुकी भी राजकुटुम्ब का एक कर्मचारी होता था, कंचुकी सभी कार्यों में कुशल होता था। पुरोहित भी एक प्रधान व्यक्ति होता था। राज्य के बड़े–बड़े कार्यों में सम्राट अपने पुरोहित से परामर्श लेता था। राज्य का कर एकत्रित करने वाले को भोगिक तथा भोगपति कहते थे। सरकारी कागज रखने वाले व्यक्ति को अक्षपट्टलिक कहते थे।

उच्च प्रशासकीय सेवा में 'कुमारमात्य' नियुक्त किये गये थे, इन्हीं में से मंत्री, सचिवालय के अधिकारी और जिला अधिकारी चुने जाते थे। राजधानी के अपने राजकीय संदेशवाहक थे जिन्हें हर्षचरित में 'दीर्घध्वज' कहा है। 'सर्वगत' नामक एक कर्मचारी का उल्लेख है जो सम्भवतः गुप्तचर विभाग का सदस्य था। प्रतीत होता है अधिकांश उच्च कर्मचारियों को वेतन नगद नहीं दिया जाता था। ह्वेनसांग लिखता है कि "राज्य के मंत्री तथा साधारण कर्मचारी, सभी के पास अपनी–अपनी भूमि है और उनके निर्वाह का भार इन लोगों पर है जिनमें उनको नियुक्त किया जाता है।" प्रतीत होता है कि राज्य के छोटे कर्मचारियों को उनके कार्य के अनुसार नकद या भूमि के रूप में वेतन दिया जाता था। यह कहा जा सकता है कि हर्ष की प्रशासन प्रणाली देश की सामन्त प्रणाली की अग्रगामी थी।

प्रान्तीय व स्थानीय व्यवस्थाः हर्ष का साम्राज्य, प्रान्तों, डिविजनों तथा जिलों आदि में विभक्त था। हर्ष के प्रान्तों की संख्या का हमारे पास कोई निश्चित विवरण नहीं है। बाण ने हर्षचरित में कई लोकपालों का वर्णन किया है। प्रतीत होता है कि प्रान्तों को भुक्तियों में बांटा गया था। हर्ष के मधुबन तथा बांसखेड़ा पत्रों में अहिछत्र भुक्ति का उल्लेख मिलता है। सम्भव है इसमें वर्तमान बुन्देलखण्ड सम्मिलित था। भुक्ति को कई विषयों में बांटा गया था उन्हें वर्तमान जिले समझा जा सकता है। यह बताया गया है कि अहिछत्र भुक्ति में कुण्डधानी और अंगदीय विषय सम्मिलित थे प्रत्येक विषय में कई पाठक थे। यह स्पष्ट नहीं है कि पाठक तथा ग्राम के बीच की कोई थी सम्भवतः ग्राम का प्रशासन एक मुखिया के हाथ में होता था जिसे 'ग्रामक्षपरलिक' कहा जाता था। उसकी सहायता के लिए कई लेखक थे जिन्हें करणीक कहा जाता था। ग्राम परिषदों का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु यह पूरी सम्भावना है कि ऐसी संस्थाए थी।

न्याय व्यवस्था और दण्ड विधानः हर्ष ने अपने राज्य में न्याय की भी पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी। यद्यपि प्राय लोग शान्तिपूर्वक निवास करते थे और अपराधों की बड़ी न्यूनता थी परंतु सड़के तथा जलमार्ग पूर्ण रूप से सुरक्षित न थे। ह्वेनसांग कई बार डाकुओं से लुट चुका था। हर्ष के काल में दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था। राजद्रोहियों को आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। कुछ अपराधियों को नगर से निकाल दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए जुर्माने का दण्ड दिया जाता था और अपराधियों के नाक, कान, तथा हाथ काट दिये जाते थे। अग्नि, जल तथा विष द्वारा भी अपराधियों की परीक्षा ली जाती थी। दण्ड विधान की कठोरता के कारण समाज में अपराध कम होते थे।

सैन्य संगठनः ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष के पास एक विशाल सेना था। आरम्भ में उसकी सेना में 5000 हाथी 2000 घुड़सवार, 50000 हजार पैदल सैनिक थे परन्तु बाद में हाथियों की संख्या 60000 तथा घुड़सवारों की संख्या 100000 गयी थी। हर्ष की सेना में रथों की व्यवस्था न थी। इस विशाल सेना का निसंदेह अच्छा प्रबन्ध रहा होगा। प्राय सेना का संचालन सम्राट स्वयं करता था। प्रधान सेनापति महाबलाधिकृत कहलाता था। सेना के भिन्न अगों के अलग–अलग सेनापति होते थे

अपनी विशाल सेना के दम पर हर्ष ने बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक उपद्रवों से अपने राज्य को मुक्त कर रखा था।

करः तीन प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है यथा भाग, हिरण्य और बली। भाग भूमिकर था और पदथि के रूप में दिया जाता था। हिरण्य करों के कृषक व व्यापारी नकद दिया करते थे। यह कहना कठिन है कि बलि शब्द का अभिप्राय किन करों से था। प्रतीत होता है कि नदियों में नाव चलाने का कर भी लिया जाता था। व्यापारियों वस्तुओं पर नाप और तोल के अनुसार कर लिये जाते थे। भूमि कर कृषि उत्पाद का छठा भाग था। अनिवार्य श्रम भी लिया जाता था लेकिन इसके लिए पारिश्रमिक दिया जाता था।

ह्वेनसांग हमें बताता है कि कर बहुत कम थे। ह्वेनसांग ने लिख है कि राजभूमि को चार भागों में बांटा गया था। एक भाग राज्यकार्य चलाने के लिए था। दूसरा भाग मन्त्रियों तथा अन्य राजकर्मचारियों को वेतन देने के लिए था। तीसरा भाग सुयोग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करने के लिए था। चौथा भाग धार्मिक सम्प्रदायों को दान देने के लिए था।

लोक हितकारी कार्यः हर्ष सम्राट अशोक की भांति बड़ा ही उदार तथा प्रजा का शुभचिंतक था। अतएव उसने बहुत से लोक–उपकारी तथा धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की थी। उसने वैदिक धर्मावलम्बियों तथा बौद्धों के लिए मन्दिर, चैत्य, विहार तथा स्तूप बनाए थे। उसने सड़कों के निर्माण तथा उनकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की थी। इन सड़कों के किनारे यात्रियों की सुविधा के लिए सरायें बनवाई गई थी। शिक्षा की सुव्यवस्था थी तथा साहित्यकारों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया जाता था। नालन्दा तथा अन्य विद्यापीठों को राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। दान पुण्य तथा धार्मिक कृत्यों में भी बहुत सा धन सरकार की ओर से संव्यय किया जाता था।

हर्ष का मूल्यांकन

हर्ष की गणना भारत के महान सम्राटों में की जाती है। उसका चरित्र बड़ा ही निर्मल तथा पवित्र था और उसका व्यक्तित्व बड़ा ही उच्चकोटि का था। उसमें केवल प्रशासकीय योग्यता ही नहीं थी वरन् मानवीय गुण भी विद्यमान थे। वह एक प्रतापी तथा महत्वाकांक्षी सम्राट था। रणप्रिय होने के साथ–साथ उसमें उच्चकोटि की उदारता तथा दयालुता भी थी। वह एक आदर्श शासक था। ह्वेनसांग बताता है कि "वह बहुत परिश्रमी तथा सत्कार्यों में नींद और भोजन भूल जाता था।" हर्ष ने अपना सारा समय अपनी प्रजा की हितवृद्धि में लगाया। यह कार्य करने के लिए दिन उसके पास बहुत छोटा था। उदारता और दान में हर्ष का कोई सानी न था। यह बताया गया है कि प्रयाग सभा में उसने अपना सर्वत्र दान कर दिया।

डा० आर.के. मुकर्जी लिखते हैं कि "हर्ष में अशोक तथा समुद्रगुप्त के कुछ लक्षण तथा विशेषताएं मिश्रित हैं।" एच.जी. रॉलिन्सन ने माना है कि हर्ष विशिष्ट पुरुष था और भारत के महान शासकों में उसका स्थान अशोक और अकबर के साथ है। सैनिक तथा प्रशासक, अद्वितीय प्रजापालक, साहित्य के संरक्षक और स्वयं एक सुयोग्य नाटककार आदि के रूप में वह इतिहास के पृष्ठों में एक प्रतिभावान और चिताकर्षक व्यक्ति है।"

डा० रमाकान्त त्रिपाठी लिखते हैं कि "छठी शताब्दी ई० का प्रारम्भ राजनैतिक मंच पर एक आलोकिक व्यक्ति के आगमन से होता है। यद्यपि हर्ष में तो अशोक का उच्चादेश था और न चन्द्रगुप्त मौर्य का सैनिक कौशल, फिर भी उन्हीं दोनों महान सम्राटों की भांति इतिहासकारों की दृष्टि को आकृष्ट करने में सफल हुआ।"

भारत के महान सम्राटों में उसकी गणना किये जाने के निम्नलिखित कारण हैं'

(1) **महान विजेता तथा साम्राज्य निर्माताः** हर्ष की दिग्विजय के महान कार्य का वर्णन करते हुए डा० वी.ए. स्मिथ ने लिखा है "एक युद्ध ने अशोक की रक्त पिपासा को शान्त कर दिया, हर्ष अपनी तलवार को म्यान में रखने के लिए तब संतुष्ट हुआ जब उसने 35 वर्ष तक, जिसमें छः वर्षों का निरन्तर और शेष समय में सविराम युद्ध किया।"

हर्ष महान विजेता तथा साम्राज्य निर्माता था। यद्यपि उसने अपने पूर्वजों से थानेश्वर का छोटा सा राज्य प्राप्त हुआ था परन्तु अपनी विजयों द्वारा उसने उसे एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया और सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। यद्यपि अपनी दक्षिण भारत की विजय यात्रा में वह सफल नहीं रहा और चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया था परन्तु उसकी उत्तर विजय उसे भारत के महान

सम्राटों में स्थान प्रदान करती है। गुप्त साम्राज्य के छिन्न–भिन्न हो जाने पर भारत की जो राजनीतिक एकता समाप्त हो गयी थी उसे फिर से स्थापित करने का श्रेय हर्ष को ही प्राप्त है। जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना उसने अपने बाहुबल से की थी उसे अपने जीवन काल में सुरक्षित तथा सुसंगित रखने में भी वह समर्थ रहा। अतएव उसकी गणना भारत के महान विजेताओं तथा साम्राज्य निर्माताओं में की जाती है।

(2) **महान शासकः** हर्ष न केवल एक महान विजेता तथा साम्राज्य निर्माता था वरन् एक महान शासक भी था। एक शासक के रूप में उसकी महानता इस बात में पाई जाती है कि उसका शासन बड़ा ही उदार, दयालु तथा प्रजा हितकारी था। उसने कर बहुत कम तथा हल्के लगाये थे जिससे प्रजा को कर देने में कष्ट न हो और उनकी दशा अच्छी बनी रहे। देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए उसने दण्ड विधान को कठोर बना दिया था। अपराधों की कमी के कारण प्रजा सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करती थी। हर्ष अपनी प्रजा की कठिनाइयों को जानने तथा उनको दूर करने का प्रयत्न करता था। हर्ष अपने विशाल साम्राज्य के प्रशासन की स्वयं देख–रेख करता था और अपने कर्मचारियों पर निर्भर नहीं रहता था। डा० ए.वी. स्मिथ ने उसके इस गुण की प्रशंसा करते हुए लिखा है "अपने विस्तृत साम्राज्य पर नियंत्रण रखने के लिए हर्ष अपने प्रशिक्षित कर्मचारियों की सेवाओं पर निर्भर न रहकर अपने व्यक्तिगत निरीक्षण पर भरोसा करता था।" इस संबंध में डा० रमाकान्त त्रिपाठी ने भी लिखा है "अपने विस्तृत साम्राज्य सम्बन्धी मामलों में निरीक्षण के कठोर कार्य को उसने स्वयं करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार शासक के रूप में हर्ष महान था।

(3) **महान कूटनीतिज्ञः** हर्ष एक विजेता तथा सफल प्रशासक होने के साथ–साथ एक कुशल कूटनीतिज्ञ भी था। इसके तीन प्रमाण उपलब्ध हैं। इसका पहला प्रमाण कामरूप नरेश भास्कर वर्मा के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना है। इस मैत्री का परिणाम यह हुआ कि हर्ष तथा भास्कर वर्मा का गौड़ नरेश शशांक के विरुद्ध एक स्थायी मोर्चा बन गया जो हर्ष का शत्रु था। शशांक की शक्ति को नष्ट करने में भास्कर वर्मा ने बड़ा योगदान दिया।

उसकी कूटनीति का दूसरा प्रमाण, वल्लभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय के साथ वैवाहिक तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था। इस संबंध से उसने अपने भयानक शत्रु चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय की शक्ति को रोकने में निश्चित रूप से बहुत बड़ी सहायता मिली होगी।

उसकी कूटनीतिज्ञता का तीसरा प्रमाण चीन के सम्राट के साथ मधुर एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था। इस संबंध में उसे चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय तथा ईरानी नरेश के सम्भावित संयुक्त मोर्चे को विफल बनाने में बहुत बड़ी सहायता मिली होगी।

(4) **महान धर्मपरायणः** हर्ष का हृदय न केवल बड़ा ही कोमल तथा दयालु था वरन् उसमें धर्मपरायणता भी यथेष्ट मात्रा में की थी। प्रारम्भ में वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था और शिव सूर्य आदि की उपासना किया करता था। बाद में उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। उसमें उच्चकोटि की धार्मिक सहनशीलता थी तथा सभी धर्मवालों के आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। वह सभी सम्प्रदायों के साधु–सन्यासियों का आदर करता था और उन्हें दान–दक्षिणा दिया करता था।

(5) **महान विद्या पुजारीः** हर्ष को विद्या से बहुत अनुराग था हर्ष के विद्या अनुराग की प्रशंसा करते हुए डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है "हर्ष के स्मरणीय होने का एक कारण यह है कि वह विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। परन्तु हर्ष केवल विद्वानों का ही आश्रयदाता मात्र न था वरन् उसने स्वयं भी अपनी लेखनी का प्रयोग उसी कौशल से किया जिस कौशल से उसने अपनी तलवार का प्रयोग किया था।"

इस संबंध में डा० वी.ए. स्मिथ का कहना है "हर्ष न केवल योग्य साहित्यकारों का उदार आश्रयदाता था अपितु स्वयं भी एक उच्चकोटि का लेख विशारद तथा सुविख्यात लेखक था।"

वह स्वयं एक उच्चकोटि का विद्वान तथा लेखक था। उसने नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका के नाम से तीन ग्रंथों की रचना की थी। हर्ष विद्वानों तथा लेखकों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में सबसे बड़ा विद्वान बाणभट्ट था

था जिसने हर्षचरित तथा कादम्बरी नामक ग्रंथों की रचना की थी। शिक्षा प्रसार में भी हर्ष की बड़ी रुचि थी। उसने अनेक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करवाई थी और बड़ी उदारतापूर्वक उनकी सहायता की। हर्ष ने नालन्दा विश्वविद्यालय की सहायता के लिए 220 गांवों की आय दान में दे दी थी। इस प्रकार हर्ष ने अपनी प्रजा के न केवल भौतिक सुख तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न किया वरन् उसने अपनी प्रजा के बौद्धिक विकास के लिए भी सुविधाएं मुहैया करायीं।

(6) **संस्कृति का महान सेवकः** हर्ष ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के पोषण तथा प्रचार का अथक प्रयास किया था। उसके शासन काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में भी खूब प्रचार हुआ। तिब्बत, चीन तथा मध्य एशिया के साथ इस काल में भारत का बड़ा घनिष्ट सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो गया था और इन देशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के दृष्टिकोण से भी हर्ष का शान काल बड़ा ही गौरवपूर्ण था।

(7) **महान कुटुम्ब प्रेमीः** महाराज हर्ष में अपार कुटुम्ब प्रेम था। विशेषकर अपनी माता में उसकी अनन्य श्रद्धा तथा भक्ति थी। न केवल उसकी मातृभक्ति अद्वितीय थी वरन् उसकी पितृभक्ति भी अद्वितीय थी। पिता की मृत्यु पर एक साधारण व्यक्ति की भांति उसके धैर्य का पुल टूट गया था और वे फूट-फूट कर रो रहे थे। अपने भाई तथा अपनी बहन के प्रति भी उसका प्रगाढ़ प्रेम था। अपनी विधवा बहन राजश्री के साथ उसने जो स्नेहपूण्र तथा उदारता का व्यवहार किया वह सर्वथा सराहनीय है।

(8) **महान संकट मोचनः** हर्ष बड़े संकट की स्थिति में थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा था। यह वह समय था जब कन्नौज का पड़ोसी तथा मित्र राज्य शत्रु द्वारा रौंदा जा रहा था और वह थानेश्वर पर भी अपनी गिद्ध दृष्टि लगाए था। थानेश्वर के राजा की अकाल मृत्यु के कारण स्थिति और भी गम्भीर हो गयी थी। यद्यपि हर्ष एक अल्पायु का नवयुवक था परन्तु उसने इस संकट की स्थिति में बड़े ही धैर्य तथा साहस के साथ काम लिया था और न केवल आपत्तियों का सफलतापूर्वक सामना किया वरन् थानेश्वर के छोटे से राज्य को एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया।

यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने हर्ष की गणना भारत के महान सम्राटों में की है और उसे प्राचीन भारत का अन्तिम महान सम्राट कहा है केन्तु कई विद्वानों ने उसकी महानता को इतने बड़े स्तर पर स्वीकार नहीं किया है।

डा० आर.सी. मजूमदार का कहना है "यह कल्पना करना गलत होगा, जैसा कि कई लोग समझते हैं कि हिन्दु काल में हर्ष अन्तिम साम्राज्य निर्माता था और उसकी मृत्यु से ही उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता के लिए पुनः स्थापना के लिए प्रयत्न समाप्त हो गये। उसके साम्राज्य से तुलना करने वाले कई साम्राज्य अगली पांच शताब्दियों में उत्तरी भारत में उदय हुए और उनमें से प्रतिहार साम्राज्य जैसे साम्राज्य अधिक विशाल और स्थायी थे। लेकिन यह कहना कि हर्षवर्द्धन का राज्य एक विशिष्ट काल था भारतीय इतिहास में युग प्रवर्तक था, फिर भी एक महान शासक, एक वीर सेनानी, कला का संरक्षक और श्रेष्ठ आदर्शों तथा प्रतिभावान व्यक्ति वाले एक पुरुष के रूप में उसकी प्रशंसा और सराहना करना अनिवार्य है।"

अध्याय-2

ह्वेनसांग तथा इत्सिंग का भारत विवरण (Recording India: Yuan Chwang and Itsing)

ह्वेनसांग का विवरण

भारतीय इतिहास इतिहास को जानने के लिए विशेषकर सातवीं सदी में भारत की सांस्कृतिक दशा क्या थी चीनी यात्री ह्वेनसांग की भारत यात्रा और उसके द्वारा छोड़ा गया विवरण एक महत्वपूर्ण साधन है। परन्तु इसके साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ह्वेनसांग का उद्देश्य विशेषकर महायान बौद्ध धर्म का अध्ययन करना था और इसके साहित्य का संग्रह करना था। इसलिए वह भारतीय संस्कृति के अनेक पक्षों का वर्णन नहीं करता।

ह्वेनसांग चीन से चलकर मध्य एशिया की यात्रा करते हुए 630 ई० नगरहार (जलालाबाद) पहुचा। चीन से भारत पहुचने में उसे पूरा एक वर्ष लगा। उद्यान में उसने पाया कि यहां महायान का तांत्रिक रूप अधिक लोकप्रिय है। तक्षशिला में उसने हुणों द्वारा नष्ट किए अनेक बौद्ध विहार देखे वहां से वह कश्मीर गया जहां पर उसने दो वर्ष तक बौद्ध धर्म दर्शन का अध्ययन किया

कश्मीर से वह शाकत (स्यालकोट) आया और वहां से चीनमुक्ती नामक नगर पहुंचा। एक वर्ष दो माह वहा रहकर वह जालन्धर पहुचा वहां से वह मथुरा गया जो बौद्ध कला के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। वहां से वह थानेश्वर, श्रघ्न (सुग), कान्यकुब्ज आदि होकर प्रयाग या और फिर प्रयाग पहुंचा। प्रयास से श्रावस्ती होता हुआ ह्वेनसांग कपिलवस्तु औरल लुम्बिनी वन पहंचा और वहा से राम ग्राम आ कुशीनगर, कुशीनगर से लौटकर वह पहले वाराणसी गया और फिर वैशाली, पाटलीपुत्र और महाबौद्धी। नालन्दा महाविहार में वह 22 महीने ठहरा। वहां उसने संस्कृत व्याकरण और योगाचार का अध्ययन किया।

नालन्दा से ह्वेनसांग मुंगेर, चम्पा, राजमहल, पुण्ड्रवर्द्धन, समतट ताम्रलिपि होता हुआ उड़ीसा, महाकौशल, आध्र, तलगु प्रदश होकर कांची गया। कांची वह उत्तर भारत की ओर मुड़ा, 640 ई० की वर्षा ऋतु उसने पुलकेशीन के राज्य में बिताई। वहां से वह भरूच (गुजरात) मालवा तथा वल्लमी गया। वल्लमी में उस समय हर्ष का दामाद ध्रुवभट्ट शासन कर रहा था। यहां से वह आनन्दपुर, भिन्नमाल के गुर्जर राज्य, उज्जैन, जिझोटी और महश्वरपुर गया। वहां से वह पुनः गुर्जर राज्य होते हुए उसने सिंध और मुल्तान की यात्रा की और पुनः नालन्दा गया वहां से उसे कामरूप का भास्करवर्मा का निमंत्रण मिला। कामरूप से उसे हर्ष ने अपने पास बुला लिया। हर्ष के पास वह लगभग दो वर्ष रहा। वह हर्ष द्वारा बुलाई गई दो सभाओं में भी, जो कन्नौज और प्रयाग में हुई थी सम्मिलित हुआ। इसके बाद प्रयाग से जालन्धर और तक्षशिला होते हुए वह नगरहार पहुंचा। सन् 644 में उसने हिन्दुकुश को पार किया और काशगर पारकन्दर और खोतन होते हुए 645 ई० में वसन्त ऋतु में चीन की राजधानी चंग–आन जा पहुंचा।

इस विवरण से पता चलता है कि उसने लगभग सारे भारत की यात्रा की और भारत की संस्कृति दशा के बारे में निम्न विवरण छोड़

धार्मिक अवस्था

हिन्दु धर्मः ह्वेनसांग हिन्दु धर्म के विभिन्न वर्णन करते हुए लिखता है "कुछ मोरपुच्छ धारण करते हैं, कुछ अपने शरीर को भस्ममाल से सज्जित करते हैं, कुछ बिल्कुल नग्न रहते हैं, कुछ अपने शरीर को घास और तख्तियों से ढकते हैं, कुछ अपने बालों को नोचते हैं और मूछ को कटवाते हैं, कुछ सिर के पिछले बालों से जटा बना लेते हैं और सिर पर घुमावदार चोटी रखते हैं। अपनी यात्रा में उसने विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन इस प्रकार दिया है "भूत, निर्ग्रन्थ, कापालिक तथा चुडिक (जटाधारी सन्यासी) सभी विभिन्न रूपों में रहते हैं। साख्य तथा वैशेषिक के अनुयायियों में पारस्परिक विरोध है। भूत अपने को राख से आच्छादित रखते हैं निर्ग्रन्थ नग्न रहते हैं ..... कापालिक सम्प्रदाय के लोग अपने सिर तथा गले में हड्डियों की माला धारण करते हैं तथा पर्वतों की गुफाओं तथा खोहों में निवास करते हैं। चूंडिक गन्दे कपड़े पहनते हैं और बिल्कुल सड़ा हुआ भोजन करते हैं।"

ह्वेनसांग विभिन्न सम्प्रदायों के साथ–साथ प्रायः विभिन्न नगरों में मन्दिरों की तथा कभी–कभी सन्यासियों की सख्या का उल्लेख करता है। विभिन्न नगरों में हिन्दु मन्दिरों की संख्या एक से लेकर सैकड़ों तक थी। चीनी यात्री जालन्धर, अहिच्छाना, मालवा महेश्वरपुर

तथा लंगल के पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख करता है। मालवा में इस सम्प्रदाय के लोग अधिक अधिक थे। शिव का एक विशाल मन्दिर वाराणसी में था। वह शिव के दस हजार अनन्य भक्त थे और सौ फुट अच्छी धातुमूर्ति थी। मुलस्थानपुर (मुल्तान) का सूर्य मंदिर बड़ा प्रसिद्ध था। उसकी सूर्यमूर्ति सोने से निर्मित थी। यहां देवदासियां बारी-बारी से गाती बजाती थी, रात भर दीप जले रहते थे, राजा लोग प्रतिदिन बहुमूल्य भेंट चढ़ाते थे और निर्धनों तथा रोगियों की सहायता का प्रबन्ध करते थे। कान्यकुब्ज में सूर्य के कई मन्दिर थे। शाक्त सम्प्रदाय में नरबलि का प्रचलन था। एक बार अयोध्या से आयोमुख जाते समय ह्वेनसांग को ठगों ने पकड़ लिया था और उसे दुर्गा की बलि देने का निश्चय किया था। तब वह संयोग से ही अपनी जान बचा पाया था। भारत के लोग गंगा के भी भक्त थे। ह्वेनसांग बताता है कि "जनसाधारण के साहित्य में इस नदी को पुण्य जल कहा गया है। गंगाजी में एक बार स्नान करने पर सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। जो लोग इस नदी में डूबकर मर जाते हैं उनका स्वर्ग में पुनर्जन्म होता है। जिस मृत व्यक्ति के फूल इस नदी में प्रवाहित किये जाते हैं वह किसी बुरे स्थान पर नहीं जाता ..... मुक्त हो जाता है।" गंगा के तट पर अनेक तीर्थ स्थान थे। ह्वेनसांग प्रयाग तथा गंगा द्वार का विस्तार से उल्लेख करता है।

बौद्ध धर्म: ह्वेनसांग बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थानों की यात्रा करने तथा बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने यहां आया था, इसलिए उसके वर्णन में विशेष रूप से बौद्ध धर्म की चर्चा मिलती है। वैद्य के अनुसार उस समय उत्तर पश्चिम में कपिशा में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त प्रायः कोई और धर्म नहीं था, उत्तर पूर्व में असम में हिन्दू धर्म अकेला धर्म था तथा शेष भारत में हिन्दु तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी समान संख्या में थे। बौद्ध धर्म उस समय हिनयान और महायान के अतिरिक्त अठारह सम्प्रदायों में बंटा हुआ था। महायान धर्म हिनयान से अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था। नालन्दा में भी महायान प्रबल था। ह्वेनसांग स्वयं महायान के योगाचार सम्प्रदाय का अनुयायी था।

ह्वेनसांग की यात्रा के समय बौद्ध धर्म पतन की ओर था। उसके अनेक केन्द्र उजाड़ हो चुके थे और विहारों की संख्या घटती जा रही थी। उद्यान में प्राचीन काल में 1400 विहार थे जिनमें 18000 भिक्षु रहते थे। सातवीं सदी में यहां भिक्षुओं की संख्या बहुत कम रह गयी थी और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की ठीक तरह से जानकारी भी नहीं थी। गांधार में 1000 विहार खण्डहर पड़े थे और हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। इसी प्रकार तक्षशिला, सिंहपुर और उरसा के विहारों में भिक्षु न थे। कश्मीर में बौद्धों की संख्या कम थी और वहां की अधिकतर जनता हिन्दु धर्म में आस्था रखती थी। सिन्धु में सैकड़ों विहार और दस हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। किन्तु वे सभी आलसी और बेकार थे। टक्क के निवासियों में भी अधिकतर हिन्दु थे। थानेसर में कुल तीन विहार थे जबकि हिन्दुओं के साथ मन्दिर थे। मथुरा में 20 विहार थे। फाह्यान की यात्रा के समय इनमें 3000 भिक्षु रहते थे। अब इनकी संख्या 2000 रह गयी थी। श्रुहन में केवल तीन विहार थे और हिन्दूओं के सौ मन्दिर थे। इसी प्रकार भतिपुर में दस विहार और पचास हिन्दु मन्दिर तथा बहमपुर में पांच विहार और दस हिन्दु मन्दिर थे। अहिच्छागा और सांकस में शैव मत मानने वालों की संख्या अधिक थी। प्रयाग में दो विहार और सौ हिन्दु मन्दिर और कौशाम्बी में दस विहार तथा पचास मन्दिर थे। विशोक में भी बौद्धों की अपेक्षा हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। श्रावस्ती में हिन्दुओं के सौ मन्दिर थे। वाराणसी में तीस विहारों में तीन हजार भिक्षु रहते थे। किन्तु यहां हिन्दुओं के सौ मन्दिर थे और शिव के उपासक दस हजार से अधिक थे।

मगध में नालन्दा महाविहार के कारण बौद्ध धर्म की दशा अच्छी थी। यहां पचास से अधिक विहार से जिनमें दस हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। परन्तु पूर्वी भारत के अन्य प्रदेशों में बौद्ध धर्म की दशा अच्छी नहीं थी। ताम्रलिप्ति में बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। फाह्यान की यात्रा के समय यहां बौद्ध विहारों की संख्या चौबीस थी, अब इनकी संख्या केवल दस रह गयी थी। पुण्ड्रवर्धन में बीस विहार और सौ हिन्दु मन्दिर थे, समतट में तीस विहार और सौ मन्दिर और कर्णसुवर्ण में दस विहार और पचास मन्दिर थे। कामरूप के निवासियों की बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में आस्था नहीं थी। वहां का राजा भास्कर वर्मा स्वयं हिन्दु था। उड़ीसा में हिन्दु धर्म लोकप्रिय था और कोंगोद में बौद्ध धर्म का कोई प्रभाव नहीं था। कलिंग में भी हिन्दुओं के सौ मन्दिर थे और जैन धर्म लोकप्रिय था।

दक्षिण भारत के शेष भागों में भी शैव और जैन धर्म अधिक लोकप्रिय थे। धान्यकारक में प्रायः सभी विहार खण्डहर पड़े थे और हिन्दुओं के मन्दिरों की संख्या एक सौ से अधिक थी। चोल प्रदेश में विहारों के भग्नावशेष रह गये थे जबकि हिन्दुओं और जैनों की संख्या बहुत थी। मलकुट में भी बौद्धों से हिन्दुओं और जैनों की संख्या अधिक थी। पश्चिमी भारत में भी बौद्ध धर्म की यही दशा थी। कच्छ, सूरत और महेश्वरपुर, इन सभी स्थानों पर हिन्दुओं और जैनों की संख्या बौद्धों की संख्या की अपेक्षा अधिक थी। चित्तौड़गढ़ के अधिकतर निवासी हिन्दु थे।

भारतीय शासक बौद्ध विहारों को बहुत सहायता देते थे। गुप्त वंश के छः शासकों ने नालन्दा मे अनेक विहारों का निर्माण करवाया। यहां कई हजार बौद्ध भिक्षु प्रतिदिन भोजन करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार नालन्दा के व्यय के लिए सौ गांव दिये गये थे। इसकी सीमा पर एक भवन था जहां चीनी यात्री ने स्वयं जलपान किया था। उसे प्रतिदिन प्रयाग के लिए चावल फल, तेल, कपूर और मक्खन दिया जाता था। उसकी सेवा के लिए दो सेवक और सवारी करने के लिए एक अश्व भी दिया गया था। इसी प्रकार सभी भिक्षुओं को नित्य आवश्यक सामग्री दी जाती थी।

हर्ष ने यहां एक महाविहार का निर्माण करवाया था और समस्त विहारों के चारों ओर एक चारदीवारी बनवाई थी। मालव के शासक शिलादित्य धर्मादित्य ने एक बड़ा मन्दिर तथा सात बुद्धों की मूर्तियां स्थापित की थी। इसी प्रकार वल्लभी नरेश ध्रुवभट प्रतिवर्ष एक धार्मिक सम्मेलन बुलाता था और उसमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र, औषधि तथा बहुमूल्य मणियां दान देता था।

आंतरिक प्रबंध में बौद्ध संघों को प्रायः पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। कश्मीर के विहार का प्रबन्ध भदन्त यश के हाथ में था नालन्दा में शीलभद्र कुलपति था। सभी भिक्षु इन कुलपतियों का पूर्ण आदर करते थे और उनके आदेशों का पालन करते थे। कुलपति की सहायता के लिए कर्मदान नामक अधिकारी होता था और एक परिषद होती थी। परिषद की अनुमति से ही कोई व्यक्ति संघ में प्रविष्ट हो सकता था। वही संघ में भिक्षुओं का अनुक्रम निश्चित करती थी तथा भोजन, वस्त्र तथा पूजा सामग्री आदि की व्यवस्था करती थी और संघ के खेतों, बागों आदि का प्रबन्ध करती थी।

जैन धर्मः ह्वेनसांग के अनुसार सिंहपुर के एक जैन मन्दिर में अनेक श्वेताम्बर जैन तपस्या करत थे। ये या तो नग्न रहते थे या सफेद कपड़े पहनते थे। वैशाली, पुण्ड्रवर्धन और समतर में दिगम्बर जैनों की संख्या बहुत अधिक थी। मगध में विपुल पर्वत पर अनेक दिगम्बर जैन रहते थे। कलिंग में भी जैनों की संख्या बहुत अधिक थी। चोल, द्रविड़, मलकूट प्रदेश भरूच, मालवा, कच्छ, सूरत आदि में भी जैनों की संख्या अधिक थी।

सामाजिक जीवनः ह्वेनसांग लिखता है कि उस समय भारतीय समाज पूर्ण रूप से जाति प्रथा में जकडा हुआ था। मुख्य रूप से जाति विभेद के चार वर्ग थे। इनके अतिरिक्त अनेक उपजातियां और मिश्रित जातियां थी। जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता था। एक जाति के लोग साधारणतया अपनी जाति में विवाह करते थे। पिता और माता के सम्बन्धियों में विवाह नहीं होता था। सम्भवतः विधवा विवाह भी नहीं होता था।

चारों जातियों मे ब्राह्मण बहुत पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। उनके नाम पर भारत ब्राह्मणों का देश भी कहलाता था। उनमें से कुछ वेद व अन्य शास्त्रों के ज्ञाता थे और शास्त्रार्थ करने में बहुत कुशल थे। उनको अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। जब उन्होंने हर्ष का वध करने का षडयंत्र रचा तब उसने उन्हें केवल देश निर्वासन का दण्ड दिया था। कुछ ब्राह्मण व्यापार भी करते थे। कुछ प्रदेशों में शासक भी थे। चित्तौड़, कामरूप और उज्जयिनी के शासक ब्राह्मण ही थे। दक्षिण कौशल, महाराष्ट्र और वल्लभी के शासक क्षत्रिय थे। चीनी यात्री ने उनकी परोपकार वृत्ति और दया भावना की प्रशंसा की है। कुछ प्रदेशों में शासक वैश्य थे, जैसे पारियात्र और कन्नौज के शासक। इस समय वैश्य साधारणतया व्यापार करते थे और शूद्र कृषि करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार मतिपुर और सिन्ध के शासक शूद्र थे। स्पष्टतः इस काल में व्यवसाय के चुनाव पर विशेष प्रतिबंध नहीं था। परंतु कसाई, मच्छेरे, नट, जल्लाद और भंगी शहर से बाहर रहते थे। नगर में वे सड़क के बाई ओर फिर- फिर चलते थे।

ह्वेनसांग ने भारतीय सन्यासियों की बहुत प्रशंसा लिखी है। वे ज्ञान प्राप्ति के लिए एकान्त में रहते और सयम से जीवन बिताते थे। उन्हें यश और निन्दा की चिंता नहीं रहती थी। राजा लोग उनका आदर करते थे किन्तु उन्हें राजसभा मे आने के लिए विवश नहीं करते थे। वे कला, विज्ञान और सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए दूर–दूर तक यात्रा करते थ और भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करते थे। भारतीयों की आस्था थी कि जो व्यक्ति भोग विलास का जीवन व्यतीत करते हैं भोजन और वस्त्र पर अपव्यय करते हैं उनमें नैतिक श्रेष्ठता नहीं होती। ऐसे व्यक्तियों का समाज मे आदर नहीं होता था।

चीनी यात्री ने लिखा है कि मुल्तान में कन्याओं को सूर्य देवताओं को अर्पित किया जाता था। इसका आशय यह हुआ कि देवदासी प्रथा प्रचलित थी। इस काल में भी कुछ स्त्रियां विदूषी होती थी। ह्वेनसांग लिखता है कि राजश्री बौद्ध धर्म की सम्मतीय शाखा में पारंगत थी। उसने दो ऐसे राज्यों का उल्लेख किया है जहां स्त्रियां शासन करती थी।

ह्वेनसांग के अनुसार जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसके सम्बन्धी अपने कपड़े फाड़कर, बालों को खींचकर, मस्तिष्क और छाती पीटकर रोते और विलाप करते थे, किन्तु कोई विशेष पोशाक नहीं पहनते थे। उसने मृतक की अन्त्येष्टि की तीन प्रकार की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। पहले प्रकार में शव को जला दिया जाता था, दूसरे में शव को नदी में प्रवाहित किया जाता था और तीसरे में शव को जंगल में डाल दिया जाता था जिससे वन्य पशु उसको खाकर पेट भर सकें। यदि गांव व नगर के निकट कोई नदी होती थी तो दाह संस्कार उसके तट पर किया जाता था। जो व्यक्ति शव के साथ जाते थे वे अन्त्येष्टि क्रिया के बाद स्नान करके अपने को पवित्र करते थे। जब तक ग्रह शुद्धि नहीं हो जाती थी कोई व्यक्ति मृतक के परिवार में भोजन नहीं करता था। अन्त्येष्टि के बाद मृत व्यक्ति की अस्थियों का चयन किया जाता था और फूल किसी नदी में प्रवाहित कर दिये जाते थे।

भौतिक और आर्थिक जीवनः ह्वेनसांग लिखता है कि भारतीय नगरों में सामान्यतः चारों ओर प्राचीर होती थी। नगर के अन्दर गलियां कम चौड़ी और टेढ़ी–मेढ़ी होती थी। नीच जातियों के लोग नगर के बाहर रहते थे। नगर की दीवारें ईंटों की बनायी जाती थी और मकानों की दीवारें लकड़ी या बांस के टट्टर से कमरों और कई मंजिले बुर्जों की छतें लकड़ी के तख्तों की होती थी। जिनके ऊपर चूने का प्लास्टर होता था। छत के ऊपर पकाई हुई या कच्ची खपरैल डाली जाती थी। कुछ मकान बहुत ऊंचे होते थे। साधारण मकानों की छतें छप्पर, ईंटों या तख्तों से बनायी जाती थी। दीवारों को चूने से सजाया जाता था। फर्श को गोपर से लीप्कर साफ किया जाता था। साधारण मकान बाहर से सादे तथा अन्दर से सजे हुए होते थे। बड़े और छोटे कमरों की लम्बाई–चौड़ाई भिन्न–भिनन मकानों में भिन्न–भिन्न होती थी। सामान्यतः मकानों के दरवाजे पूर्व की ओर खुलते थे।

भारत की उपजों में चीनी यात्री ने चावल, गेंहू, अदरक, सरसों, खरबूजे ओर लौकी का उल्लेख किया है। महाशालि चावल सबसे अधिक अच्छा समझा जाता था। यह मगध में अधिक पैदा होता था। धनी व्यक्ति और प्रतिष्ठित व्यक्ति ही इसका प्रयोग करते थे। नालन्दा में ह्वेनसांग को यही चावल दिया गया था। टक्क और परियात्र में गेंहू वसंत ऋतु में होता था। सिन्ध में जल्दी उगने वाला गेहूं बोया जाता था।

भारत में पैदा होने वाले फलों में चीनी यात्री ने आम, महुआ, बेर, कटहल, आंवला, तेंदू, उदुम्बर, केले, नारियल आदि का उल्लेख किया है। कश्मीर के निकट पुनाच में आम, उदुम्बर और केले होते थे। चीनयुक्ति में आडू और नासपाती उगाए जाते थे। मथुरा में छोटे और बड़े दो प्रकार के आम होते थे। उद्यान में अंगूर होते थे और कश्मीर में केशर। सिन्ध में लाल, सफेद, काला तथा लाहौरी चार प्रकार का नमक प्राप्त होता था। टक्क की खानों में स्वर्ण, रजत, कांस्य, ताम्र और लोहा निकाला जाता था। कुल्लु में भी स्वर्ण, रजत, ताम्र तथा कांस्य उपलब्ध था। कांची से लगभग 600 मील दक्षिण की ओर मलकूट में समुद्र से मोती निकाले जाते थे। यहां चन्दन ओर कपूर भी उपलब्ध थे। भरूच में समुद्र के पानी से नमक बनाया जाता था। भारतीय सूती, ऊनी और मलमल का कपड़ा पहनते थे। क्षौम वस्त्र अतसी की दाल से बनाया जाता था। ऊनी वस्त्र दो प्रकार के थे – कम्बल जो भेड़ की ऊन से बनाया जाता था और हो–ला–ली, जो किसी वन्य पशु के बाल से बनाया जाता था। मथुरा में उत्तम श्रेणी का धारीदार सूती कपड़ा बनाया जाता था।

ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारतीय सिले हुए कपड़े नहीं पहनते थे। परन्तु उसका यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि भारत में सिले हुए कपड़े पहनने का रिवाज पहुत पहले ही प्रारम्भ हो गया था। भारतीय श्वेत वर्ण के वस्त्रों को बहुत पसंद करते थे। वे अपनी कमर के नीचे भाग में एक धोती बांधते थे और सीधे कंधे को नंगा रखते थे। स्त्रियां साड़ी पहनती थी जिससे उनके दोनों कंधे ढके रहते थे। वे सिर के बालों की चोटी बनाती थी, कुछ पुरुष अपनी मूछों को काटते थे। वे सिर पर मालाएं पहनते थे और शरी पर हार। राजा लोग और अभिजात वर्ग के व्यक्ति मालाएं तथा मणियां जड़े हुए मुकुट पहनते थे। वे शरीर पर अंगूठियां, दस्तबंद और हार आदि भी पहनते थे। अधिकतर व्यक्ति जूते नहीं पहनते थे। वे अपने दातों को लाल या काला रंगते थे, बाल कटवाते थे और कान छिदवाते थे।

ह्वेनसांग के अनुसार भारत में दूध, घी, मिश्री, गुड़, रोटी, भुने हुए अनाज और सरसों के तेल का भोजन में प्रयोग प्रायः, सभी व्यक्ति करते थे। कुछ व्यक्ति भोजन में यदकदा मछली, भेड़ और हिरण का मांस भी काम में लाते थे। क्षत्रिय ईख से बनी और वैश्य तेज आसवित शराब पीते थे। बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण अंगूर या गन्ने का शर्बत पीते थे। नीच जातियों के कोई निश्चित पेय नहीं थे। बर्तन मिट्टी के और कुछ पीतल के होते थे। खाना थाली में परोसकर खाद्य पदार्थों को मिलाकर अंगुलियों

से खाया जाता था। भोजन करने से पूर्व स्नान करने की प्रथा थी। झूठा भोजन किसी व्यक्ति को नहीं परोसा जाता था मिट्टी के झूठे बर्तन फेक दिये जाते थे। सोना, चांदी, तांबा और लोहे के बर्तनों को मांजकर काम में लाया जाता था

शिक्षा और शिक्षा केन्द्रः ह्वेनसांग के वर्णन से बौद्ध शिक्षा पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है कि बच्चों की शिक्षा 'सिद्धम्' नामक प्राइमर से आरम्भ होती थी। विहारों में प्रत्येक भिक्षु को पढ़ना–लिखना सिखाया जाता था और पातिमोक्ख पढ़ाया जाता था। सभी भिक्षु संस्कृत व्याकरण और त्रिपटक का साधारण ज्ञान प्राप्त करते थे। उसके अनुसार प्रत्येक बौद्ध शिक्षा संस्थान में पांच विद्याओं अर्थात अध्यात्म विद्या, हेतु विद्या (तर्कशास्त्र), शब्दविद्या (व्याकरण), चिकित्सा विद्या (आयुर्वेद) और शिल्प स्थान विद्या अर्थात शिल्प और कलाओं की विद्या दी जाती थी। नालन्दा जैसे महाविहारों में इन विद्याओं के अतिरिक्त महायान सम्प्रदाय के धर्म ग्रंथों और हिनयान सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त वेद वेदी, सांख्य दर्शन, इन्द्रजाल आदि विषयों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। सम्भवतः यहां ज्योतिष की शिक्षा भी दी जाती थी क्योंकि ह्वेनसांग ने लिखा है कि वहां के एक विद्वान ने उसकी जन्म–पत्री तैयार की थी। वहा एक वैद्यशाला भी था

नालन्दा महाविहार में प्रवेश कठिनता से मिलता था। इसके विद्यार्थी पूरा दिन स्वाध्याय और विवेचन में बिताते थे और समस्त भारत के आदर्श समझे जाते थे। विदेशी विद्वान भी अपनी शंकाओं का निवारण करने के लिए यहां आते थे। हर्ष की कन्नौज धर्म परिषद में नालन्दा के एक हजार ऐसे विद्वान सम्मिलित हुए थे जो सूत्रों और शास्त्रों के बीस संग्रहों का व्याख्या कर सकते थे। इसके अतिरिक्त इनमें पांच सौ ऐसे विद्वान थे जो तीस संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे और दस ऐसे थे जो पचास संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे। ह्वेनसांग ने अपनी गणना इन्हीं दस विद्वानों में की है। शीलभद्र अकेले ऐसा विद्वान थे जिसने सभी धर्म ग्रंथों का अध्ययन किया था और जो इन सभी ग्रंथों के सिद्धांतों का विवेचन कर सकता था।

नालन्दा पुस्तकालय में भी सभी ग्रंथों का प्रमाणिक पाठ मिल सकता था। इसीलिए ह्वेनसांग यहां से 520 ग्रंथों की प्रतियां तैयार कराकर ले गया था जिसमें महायान समुदाय के 124 धर्म ग्रंथ की प्रतियां भी थीं।

वल्लमी विहार में विशेष रूप से हिनयान सम्प्रदाय के धर्म ग्रंथों के अध्ययन व अध्यापन की व्यवस्था थी। यहां 6000 भिक्षु रहते थे। यहां के तीन प्रसिद्ध विद्वानों – जयसेन, गुणमति और स्थिरमति का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। कश्मीर का जयेन्द्र विहार बौद्ध शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहां के बीस विद्वानों ने ह्वेनसांग को दो वर्ष तक बौद्ध सिद्धांतों का अध्ययन करने में सहायता दी। मतिपुर के विहार में मित्रसेन नाम के विद्वान से दो सौ भिक्षु शिक्षा प्राप्त करते थे। ह्वेनसांग ने उसकी सहायता से भी बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया। कन्नौज का भद्रविहार वैभाषिक सम्प्रदाय का केन्द्र था। इस विहार का अध्यक्ष वीर्यसेन त्रिपिटक का ज्ञाता था।

शिक्षा के विषय में बौद्ध विहारों का दृष्टिकोण प्रायः उदार था। उद्यान के विहार में विनयपिटक के धर्मगुप्त, महीशासक काश्यपीय सर्वास्तिवादी और महासाघिक इन पांचों संस्करणों को पढ़ाया जाता था। जालन्धर के एक विहार में हिनयान और महायान दोनों सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती थी। कुछ विहार योग की शिक्षा पर विशेष बल देते थे। नालन्दा में सभी विषयों के अध्ययन अध्यापन का प्रबन्ध था।

ह्वेनसांग के अनुसार ब्राह्मण साधारणतया चारों वेदों का अध्ययन करते थे। उसके अनुसार ये चारों ग्रंथ आयुर्वेद यजुर्वेद अथर्ववेद और सामवेद थे। सम्भवतः अभी तक ऋग्वेद लिखित रूप में उपलब्ध नहीं था। आचार्य शिष्यों को उसकी शिक्षा मौखिक देते होंगे। तीस वर्ष की अवस्था होने पर विद्यार्थी गुरु को दक्षिणा देकर घर लौटकर अपना व्यवसाय करते थे।

भारतीय चरित्रः ह्वेनसांग के अनुसार भारतीय लोग शीघ्रता से कार्य करने वाले और चंचल स्वभाव के होते हैं किन्तु धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों का अनुशरण करते करते हैं। वे पाप नहीं करते क्योंकि उनका विश्वास है कि यदि वे ऐसा करेंगे तो अगले जन्म में उन्हें इसका फल भोगना पड़ेगा। वे किसी के साथ छल नहीं करते, अपने वचन को पूरा करते हैं, सदा सत्य रहते हैं और उनके समाज में अपराधियों की संख्या बहुत कम है।

ह्वेनसांग ने श्रुहन, मोतिपुर, अहिच्छागा, कान्यकुब्ज, प्रयाग, कौशाम्बी, वाराणसी, वैशाली, मगध, पुण्ड्रवर्धन और कामरूप आदि के निवासियों को सच्चरित्र, साहसी और कला तथा साहित्य का प्रेमी बताया है। वे अतिथियों की सेवा करने वाले थे और विद्वानों का आदर करते थे। किंतु गांधार, कश्मीर, टक्क, सिंहपुर, जालंधर और नेपाल के निवासियों की उसने निन्दा की है

ईत्सिंग का भारतीय विवरण

ईत्सिंग एक चीनी यात्री था जिसने 672 और 688 ई० के बीच भारत में भ्रमण किया। उस समय के भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अवस्था को उसने सजीव चित्र खींचा है। इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध के जीवन, उसके नाम से संबंधित स्थानों तथा उसके प्रचार के विधि के विषय में भी बहुत सी जानकारी उससे उपलब्ध होती है। वह हमें बताता है कि बुद्ध ने साधारण लोगों को अत्यन्त सरल भाषा में उपदेश दिया। बुद्ध का विश्वास था कि 'शील' की साधना से संसार के लोगों के अधिकांश दोष दूर किये जा सकते हैं।

ईत्सिंग बताता हे कि भारत तथा वृहत्तर भारत के लोगों को चार 'निकायों' का ज्ञान था, हालांकि उपासकों की संख्या स्थान–स्थान पर भिन्न थी जहां बौद्ध धर्म प्रचलित था वहां भी अन्य धर्म उपस्थित थे।

भारत में परोहित लोग खाना खाने से पूर्व हाथ पैर धो लिया करते थे। ये अलग–अलग छोटी–छोटी बेत की कुर्सियों पर बैठते थे। पवित्र तथा झूठे भोजन से भेद रखना भारत का रिवाज था। यदि एक कौर भी खा लिया जाए तो भोजन झूठा हो जाता था और उन बर्तनों का प्रयोग नहीं किया जाता था जिनमें यह भोजन परोसा जाता था। यह प्रथा धनी और निर्धनों में प्रचलित थी। खाना खाने के बाद प्रत्येक भारतीय को मुंह साफ करना पड़ता था। चीनी यात्री बताता है कि एक बार उत्तर के मंगोलिया के लोगों ने एक दूत मण्डल भारत भेजा तो उसके सदस्यों का उपहास और अपमान किया गया क्योंकि वे अपना शरीर तथा मुंह साफ नहीं करते थे।

जब भी संघ द्वारा किसी खेत में घास लगायी जाती थी तो उत्पादन का कुछ भाग सेवकों या खेती करने वालों को देना पड़ता था। प्रत्येक उपज को छः भागों में बांटा जाता था और उसमें से एक भाग संघ को प्राप्त होता था। विहार का सारा कार्य एक परिषद की अनुमति से किया जाता था और उसके परामश के बिना कुछ नहीं किया जा सकता था। यदि कोई पुरोहित परिषद की इच्छा पर ध्यान दिये बिना ही कोई निर्णय करता था या किसी से बुरा व्यवहार करता था तो उसे विहार से निकाल दिया जाता था। ईत्सिंग बताता है नालन्दा विहार के नियम बहुत कड़े थे। आवासियों की संख्या 3000 हजार से अधिक थी। इसके अधिकार में दो सौ से अधिक ग्राम थे जो कई पीढ़ियों से राजाओं ने उनहें प्रदान किये थे।

ईत्सिंग बताता है कि सारे भारत में लोग दो कपड़े पहनते थे। वे चौड़ी लिनन के थे और आठ फुट लम्बे थे। उनकी कटाई या सिलाई नहीं की जाती थी। उन्हें केवल कमर के चारों ओर बांध लिया जाता था जिससे शरीर का निचला भाग ढक जाए। उत्तर पश्चिम के लोग कपड़े प्रयोग नहीं करते थे वे ऊन और चमड़े के वस्त्र पहनते थे। वे कमीजों और पायजामे पहनते थे। ईत्सिंग एक अन्य प्रकार के वस्त्र का भी उल्लेख करता हे जो बाएं कंधे के ऊपर पहना जाता था। घाघरा शरी के निचले हिस्से के चारों ओर बांध लिया जाता था इसके लिए मुलायम सफेद कपड़ा प्रयोग किया जाता था।

ईत्सिंग ने लिखा है कि भारत में पुरोहित और साधारण लोग सैर के लिए जाया करते थे। सैर का समय सुबह और शाम था। सैर से बीमारी दूर होती है और खाना पचाने में सहायता मिलती है।

ईत्सिंग बताता है कि भारत को 'आर्यदेश' कहा जाता था। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ और देश का अर्थ है क्षेत्र। भारत को आर्य देश कहा जाता है क्योंकि श्रेष्ठ चरित्र के व्यक्ति यहां निरन्त जन्म लेते रहते थे। भारत को मध्यदेश भी कहा जाता था क्योंकि यह सैकड़ों देशों के मध्य में था। लोग इसके नाम से परिचित थे। उत्तरी जातियां ही आर्यदेश को हिन्दु कहती थी क्योंकि यह प्रचलित नाम नहीं था। यह केवल स्थानीय नाम था और कोई विशेष महत्व नहीं था। भारतीयों को यह नाम प्रायः अज्ञात था और भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम 'आर्यदेश' या 'श्रेष्ठभूमि' था।

ईत्सिंग ने भारत के आचार्यों द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षित करने के ढंग का भी विस्तार से वर्णन किया है। विद्यार्थी आचार्य के पास जाकर उसकी सेवा करते थे। आचार्य उन्हें इस प्रकार पाठ पढ़ाता था जिससे प्रत्येक विवरण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जा सके। आचार्य अपने शिष्य के आचरण पर दृष्टि रखता था और उनके दोष उसे बताता था। जब वह शिष्य की गलती पकड़ता था तो वह उसे ठीक करने के लिए और प्राशचित करने के लिए बाध्य करता था। विद्यार्थी अपने आचार्य के शरीर की मालिश करता था, उसके कपड़े तह करता था और कभी–कभी कमरों तथा आंगन को साफ करता था। वह गुरु को शुद्ध जल लाकर देता था। विद्यार्थी अपने गुरु के लिए सब कुद करता था। इसके विपरीत यदि शिष्य अस्वस्थ हो

जागे तो आचार्य का कर्तव्य था कि उसकी परिचर्या करे और उसे आवश्यक औषधियां दे और उसके पुत्रवत् [illegible]

ईत्सिंग बताता है कि भारत के चिकित्सा विज्ञान के अनुसार वैद्य रोगी की आवाज और मुख का निरीक्षण करता [illegible] चिकित्सा विज्ञान को आठ भागों के अनुसार औषधि लिख देता था। वे भाग सब प्रकार के दर्दों, शरीर के रोगों, सिर के रोगों, जीवन लम्बा करने के उपायों और टांगों तथा शरीर को पुष्ट करने के उपायों से सबंधित थे। आठ भाग अलग अलग पुस्तकों में थे लेकिन उन्हें अभी–अभी एक पुस्तक में संक्षिप्त कर दिया गया था। सभी वैद्य उसी पुस्तक के अनुसार [illegible] करते थे और सफलता प्राप्त करते थे। लोग वैद्यों का सम्मान करते थे क्योंकि वे उनको रोगमुक्त करते थे। चीनी यात्री बताता है कि पश्चिमी भारत में लाटों के देश में जो बीमार हो जाते थे आधे महीने तक और कभी–कभी पूरा महीना खाना नहीं खाते थे। जब तक बीमारी रहे वे खाना नहीं खाते थे। मध्य भारत में उपवास की सबसे लम्बी अवधि एक सप्ताह थी किन्तु दक्षिणी समुद्र के द्वीपों में यह अवधि दो या तीन दिन ही थी।

ईत्सिंग बताता है कि भारतवासी प्याज नहीं खाते थे। कूड़ा–कर्कट उठाने वाले चलते समय लकड़ियां पीटते जाते थे यदि गलती से कोई उन्हें छू दे तो स्नान करना पड़ता था।

चीनी यात्री बताता है कि अश्वघोष ने कुछ काव्यात्मक गीतों की ओर 'सूत्रलकार शास्त्र' की रचना की है। उसने बुद्ध चरित काव्य' की रचना भी की। यह कृति इतनी बड़ी थी कि इसे दस पुस्तकों में विभाजित करना पड़ा। इस पूर्ण करने में छ मास लगे। सूत्र पाणिनि की कृति में पाए गए। आठ वर्ष की आयु में ही बच्चे को पढ़ाना शुरू कर देते थे और आठ महीने के अन्दर उन्हें मौखिक रूप से दूहरा सकते थे। वे उन्हें अच्छी तरह से कण्ठस्थ थे।

सूत्रों का टीका का नाम 'काशिकावृति' था। पन्द्रह वर्ष की आयु में बालक उसे पढ़ना शुरू कर देते थे और बाद में उसे पूरी तरह समझ लेते थे। इस पुस्तक का लेखक गयादित्य ख्याति प्रापत विद्वान था। इत्सिंग बताता है कि तक समाप्त करने के पश्चात विद्यार्थी पद्य तथा गद्य रचना, तर्क अध्यायत्मविद्या आदि का अध्ययन करते थे।

ईत्सिंग ने "भृतहरिशास्त्र" का उल्लेख किया है। उसमें 25,000 श्लोक थे। इस पुस्तक में मानव जीवन के सिद्धान्त व्याकरण के नियमों और परिवारों के उत्थान तथा पतन की परिस्थितियों से सम्बन्धित नियमों का वर्णन किया गया है। यात्री बताता है कि भृतहरि सारे भारत में बहुत प्रसिद्ध था। उसकी पुस्तक सभी जगह ज्ञात थी। भृतहरि धर्मपाल का समकालीन था। कुछ अन्य पुस्तकें भी उसकी कृतियां बतायी जाती थी।

ईत्सिंग की भारत यात्रा के समय की भारतीय संस्कृति तथा समाज को जानने के लिए उसक द्वारा दी गयी जानकारियां [illegible] लाभप्रद हैं।

अध्याय-3

कन्नौज के यशोवर्मा
Yashovarman of Kannauj

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कन्नौज के सम्राट के रूप में यशोवर्मा के उदय को कुछ विद्वानों ने ऐसी आकस्मिक घटना के रूप में लिया है जिसमें राजनीतिक जगत में इस नक्षत्र का जितनी शीघ्रता के साथ उदय हुआ उतनी ही शीघ्रता के साथ उसका अंत हो गया। लेकिन इसक काल का इतिहास जानने के लिए कई साधन उपलब्ध हैं।

इतिहास जानने के स्त्रोत

सम्राट हर्ष की मृत्यु के पश्चात कन्नौज के महान शासकों में यशोवर्मा के कार्य तथा कीर्तियों का उल्लेख भारतीय तथा विदेशी साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है और जिसका एक अभिलेख भी प्राप्त हो चुका है। अतः उसके सम्बन्ध में जानकारी के साधनों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(1) **गौड़वहोः** यह एक प्राकृत काव्य है जिसकी रचना यशोवर्मा के दरबारी कवि वाक्पपतिराज ने की है। इस कवि ने इस ग्रंथ में अपने आश्रयदाता यशोवर्मा की दिग्विजय का उल्लेख करते हुए उसका प्रशस्ति गान किया है। बूलर का मत है कि गौड़वाहों अपने प्राप्त रूप में एक वृहत् ग्रंथ की भूमिका मात्र है। जबकि जैकोबी के अनुसार यह ग्रंथ अपने आप में पूर्ण है। इस काव्य के बारे में कीथ महोदय ने कहा है कि बृहत् योजना मुक्त इस ग्रंथ में 'न्यूनतम ऐतिहासिक साम्रगी का समावेश है।' परंतु इस आलोचना के बावजूद भी इस काव्य में यशोवर्मा की विजयों के संबंध में हमें महत्वूपर्ण जानकारी मिलती है।

(2) **नालन्दा अभिलेखः** सम्राट यशोवर्मा के प्रशासन काल में एक अभिलेख नालन्दा से प्राप्त हुआ है जो संस्कृत भाषा में है। यह एक बौद्ध अभिलेख है जिसमें यशोवर्मा के मंत्री के पुत्र मालद द्वारा भिक्षु संघ एवं सम्राट बालादित्य द्वारा निर्मित नालन्दा के बौद्ध मंदिरों को दिये गये दान का उल्लेख है। इसमें यशोवर्मदेव को लोकपाल की उपाधि प्रदान करते हुए उसका यशगान किया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि तिथिविहीन इस अभिलेख में यशोवर्मा का प्रशस्तिगान होते हुए भी उसके पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों का कोई उल्लेख नहीं है। और इसीलिए इसकी पहचान विवादपूर्ण बन गयी है। इस लेख के सम्पादक हीरानन्द शास्त्री लेख के यशोवर्मा की एकरूपता मंदसौर अभिलेख के यशोवर्मन से स्थापित करते हैं और यशोवर्मन का शुद्ध नाम यशोवर्मान् स्वीकार करते हैं। उनकी इस धारणा का मुख्य आधार यह है कि यह अभिलेख उस समय लिखा गया जब गुप्त सम्राट बालादित्य शासन कर रहा था और यशोवर्मदेव के हाथों में प्रभुता की बागडोर थी। उनकी दृष्टि में यह बालादित्य वही है जिसे हेनसांग हुण सम्राट मिहिरकुल का विजेता तथा नालन्दा का महान मन्दिर निर्माता बतलाता है। अतः वे यशोवर्मन एवं यशोवर्मदेव की एकरूपता को तर्कसंगत मानते हैं। परन्तु डा० आर.सी. मजूमदार उनकी इस धारणा को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अभिलेख केवल बालादित्य द्वारा उक्त मन्दिर के निर्माण भाग का, न कि लेख लिखे जाने के समय उसके जीवित रहने का उल्लेख करता है। साथ ही मंदसौर अभिलेख और इस अभिलेख की लिपि में बड़ा अन्तर है जिसे शास्त्रीजी भी स्वीकार करते हैं। वास्तव में नालन्दा अभिलेख की लिपि बहुत बाद की प्रतीत होती है और परवर्ती गुप्त नरेश आदित्यसेन के 672 ई० के शाहपुर अभिलेख की लिपि से बहुत मिलती जुलती है। अतः नालन्दा अभिलेख का यशोवर्मदेव मंदसौर अभिलेख का यशोवर्मन नहीं, बल्कि कन्नौज का यशोवर्मा है।

(3) **कल्हण की राजतरंगिणीः** इस ग्रंथ में कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने कश्मीर के महान सम्राट ललितादित्य मुक्तापीड़ एवं कन्नौज के शक्तिशाली शासक यशोवर्मा के बीच हुए संघर्ष का विवरण दिया है।

(4) **देवपाल का घोसखा अभिलेखः** यह लेख सम्राट देवपाल के समय का है। इसमें वीरदेव नामक एक बौद्ध विद्वान का मगध से यशोवर्मपुर बिहार में जाकर दीर्घकाल तक सम्राट देवपाल के संरक्षण में वहां ठहरने का उल्लेख है। इस नगर की स्थापना यशोवर्मा ने ही की थी।

(5) **चीनी स्त्रोतः** चीन का तांग राजवंश इतिहास में मध्यप्रदेश के राजा यशोवर्मा द्वारा चीनी सम्राट के पास दूत भेजने का उल्लेख है। साथ ही आठवीं से दसवीं शताब्दी के बीच लिखे गये पांच ग्रंथों मे यशोवर्मा एवं कश्मीर नरेश ललितादित्य की प्रतिद्वंद्विता का उल्लेख मिलता है।

(6) **सिक्केः** पंजाब कश्मीर तथा दूरस्थ माणिक्याला स्तूप से इण्डो सीथियन शैली के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर यशोवर्मा का नाम अंकित है। विद्वानों का अनुमान है कि ये सिक्के कन्नौज नरेश यशोवर्मा के हैं

वंशावलीः त्रिपाठी महोदय यशोवर्मा की वंशावली का उल्लेख इस प्रश्न के साथ आरम्भ करते हैं कि क्या यह साहसिक रूप से शक्ति इकट्ठी कर राज्याधिकार प्राप्त करने वाला ऐसा व्यक्ति था जिसका उल्का की भांति आकस्मिक उदय और अस्त हो गया या कन्नौज के सिंहासन पर उसका पैतृक अधिकार था। साक्ष्यों के अभाव में इन दोनों मे से किसी एक के भी सीधा सादा उत्तर देना सरल नहीं है। परन्तु जहां तक प्रथम प्रश्न का संबंध है, यह बात निर्विवाद है कि यशोवर्मा कन्नौज के राजनीतिक अन्तरिक्ष में अकस्मात उदित होने वाला नक्षत्र नहीं था। चचनामा से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि यशोवर्मा के शासन के प्रारम्भ होने से दस बारह वर्षों पूर्व कन्नौज का शक्तिशाली शासक राय हरचन्दर का शासन था जिसने सिन्ध और मुल्तान के अरब विजेता मुहम्मद बिन कासीम को उसकी अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर युद्ध के लिए ललकारा था। वस्तुतः राय हरचन्दर तथा यशोवर्मा की तिथियों में दस–बारह वर्षों का अन्तर इस बात का द्योतक है कि यशोवर्मा राय हरचन्दर का निकटतम उत्तराधिकारी था और कन्नौज का साम्राज्य उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। दूसरी ओर गौड़वाहो काव्य में जिसमें यशोवर्मा का प्रशस्ति गान भी हुआ है, किसी प्रकार की अस्पष्ट झलक नहीं मिलती कि उसने कन्नौज का शासन अपने बाहुबल से जीता हो। वस्तुतः यदि उसने कन्नौज के शक्तिमान शासक राय हरचन्दर को अपदस्थ कर वहां का राजसिंहासन छीना होता तो निश्चित ही वह उसकी बड़ी उपलब्धि होती और राजकीय प्रशस्ति लेखक कदापि उसका उल्लेख करना कभी नहीं भूलता। अतः यशोवर्मा का स्वाभाविक उत्तराधिकार निर्विवाद है। राय हरचन्दर के पिता जहतल राय (रणमल) कन्नौज का शासक रह चुका था।

कन्नौज पर यशोवर्मा का पैतृक अधिकार था या नहीं इसके लिए पुनः ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करना आवश्यक है। गौड़वहों के रचियता ने उसकी वंशावली पर मौन रहते हुए भी चन्द्रवंश के अलंकार के रूप में उसकी प्रशस्ति की है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि वह क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था। कनिंघम आदि विद्वानो ने उसे मौरवरी कुलोत्पन्न माना है और उसका वर्मन् नामान्त भी सम्भवतः इसी का बोधक है। यहां पर यह भी विचारणीय है कि हर्षचरित के लेखक बाण ने भी पुष्यभूति–मौरवरिवंशों की एकरूपता क्षत्रियों के सूर्य और चन्द्रवंशियों से स्थापित की है। यद्यपि बाण के वर्णन क्रम में अन्तर है क्योंकि उसके अनुसार मौरवरि राजवंश का संबंध क्षत्रियों के सूर्यवंश से जोडा जा सकता है, परन्तु वह अधिक महत्वपूर्ण इसलिए नहीं है कि अनेक राजवंशों के विषय में भी कवियों ने इस प्रकार की भूलें की हैं। हर्ष से पहले अनेक पीढ़ियों तक कन्नौज का राज्य मौरवरियों के हाथ में रहा, और ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौरवरी राजकुल का अंत होने पर उसके महाराज और अपनी बहन राजश्री के साथ प्रारम्भ में सहशासक के रूप में हर्ष ने कन्नौज का राज्याधिकार सम्भाला परन्तु शीघ्र ही द्वैध शासन का अन्त कर वह कन्नौज का सम्राट बन बैठा। 647 ई० में हर्ष की मृत्यु के साथ उसके वंश का भी अन्त हो गया। यह हम पहले भी जान चुके हैं। जब हर्ष के साम्राज्यवादी शासन काल में मगध के मौरवरियो की दूसरी शाखा का भी अंत हो गया, तो मगध के मौरवरी राजपुत्र शूरसेन को भागकर नेपाल में शरण लेनी पड़ी। भारत का प्रतिष्ठित राजकुल होने के कारण इस राजकुमार को नेपाल में पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ और वहां के तत्कालीन शासक अंशुवर्मा ने उसके साथ अपनी पुत्री भोगदेवी का विवाह कर दिया। इस विवाह से उत्पन्न भोगवर्मा ने नेपाल की सहायता से कन्नौज का अपना पैतृक राज्य पुनः प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की, और नेपाल के पशुपति अभिलेख में उसे 'यशस्वी मौरवरी वंश के शेषमणि' कहा गया है। वस्तुतः भोगवर्मा की उपयुक्त उपाधि तथा तत्कालीन उत्तरी भारत के सर्वाधिक शक्तिमान मगध के परवर्ती गुप्त सम्राट आदित्य सेन की पुत्री के साथ उसका विवाह इस बात का द्योतक है कि भोगवर्मा मगध के गुप्त एवं नेपाल के लिच्छवी राजकुलों की भांति शक्ति सम्पन्न शासक था और यह गौरव उसे उत्तरी भारत के तत्कालीन मुख्य नगर कन्नौज के शासक के रूप में ही प्राप्त हो सकता था साथ ही भोगवर्मा की पुत्री वत्सदेवी का विवाह नेपाल के लिच्छवी नरेश शिवदेव द्वितीय के साथ हुआ था और शिवदेव का शासन काल लगभग 680 से 710 ई० है। अतः श्वसुर व दामाद की समकालीनता को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक के शासन के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ में कुछ वर्ष का समय बीतना

रही होगी। इस प्रकार भोगवर्मा के शासन का अन्त कुछ वर्षों बाद ही अर्थात 685 से 690 ई० के आसपास हुआ होगा। यही समय कन्नौज के शासक जहतवराय या रणमल के सिंहासनारोहण का भी है। अतः उसे भोगवर्मा का उत्तराधिकारी तथा उसे भी मौरवरी वंशीय शासक के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

रणमल के पुत्र एवं उत्तराधिकारी रायहरचन्दर ने लगभग 710 से 725 ई० तक कन्नौज में शासन किया और जैसा आगे कहा गया है कि 725 ई० के आसपास यशोवर्मा भी कन्नौज की गद्दी पर बैठा, और जहां चचनामा के अनुसार राय हरचन्दर एक शक्तिशाली शासक था, उसी प्रकार गौड़वहो का नायक यशोवर्मा भी एक दिग्विजयी सम्राट था। अतः एक के बाद दूसरे का उत्तराधिकार उसकी समान शक्ति सम्पन्नता तथा यशोवर्मा का स्वाभाविक उत्तराधिकार उन दोनों कन्नौज नरेशों के एक ही कुल के होने में किसी भी प्रकार के संदेह की आशंका नहीं रहने देते। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौरवरी भोगवर्मा यशोवर्मा तक कन्नौज के शासकों की अटूट परम्परा स्वयं यशोवर्मा को भी मौरवरी कुल में उत्पन्न तथा कन्नौज के राज्य का पैतृक होने का स्पष्ट संकेत करती है।

जैन ग्रंथ भी यशोवर्मा के मौरवरी होने का साक्ष्य उपस्थित करते हैं। प्रसिद्ध जैन ग्रंथ 'वप्पभट्टिसूरिचरित' के अनुसार कान्यकुब्ज का यशस्वी शासक यशोवर्मा चन्द्रगुप्त के राजवंश का अलंकार था जिसने मौर्यों के गौरवशाली कुल को और भी गौरवान्वित किया। तेरहवीं तथा चौहदहवीं शताब्दी के एक और जैन ग्रंथ "प्रभावकचरित" में यशोवर्मा का मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का वंशज तथा उस कुल का अलंकार बताया गया है। कनिंघम मौर्यों तथा मौरवरियों का एक ही कुल मानते हैं, परन्तु विद्वानों ने इस पर आपत्ति की है कि मौरवरीयों का नामान्त 'वर्मन्' मौर्य सम्राटों के नामों से नहीं मिलता और यह असमानता उनके एक ही कुल का होने में बाधक है। परन्तु क्षत्रिय राजाओं में वर्मन नामान्त धारण करने की परम्परा शताब्दी के कई सौ वर्षो बाद की है। जबकि मौर्यों का शासन चौथी शताब्दी से प्रारम्भ होकर दूसरी शताब्दी ई० पू० तक समाप्त हो चुका था। अतः एक वंश के राजाओं में वर्मन नामान्त का अभाव तथा दूसरे में उसकी प्रथा, जिनमें शताब्दियों का अन्तर है, आवश्यक रूप से उनके दो भिन्न कुलों का परिचायक नहीं है। इसके विपरीत गया से प्राप्त चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के पाली पद 'मोकलीणाम्' (सम्यत् मौरवरीणाम्) युक्त मुहर एक ही काल में मगध में मौर्यों और मौरवरियों की उपस्थित की द्योतक है। साथ ही 'ख' अक्षर के लोप से 'मौरवरीय' का 'मौरीय' शब्द बन जाना भी इन दोनों ही राजवंशों की एकरूपता का परिचायक हो सकता है। इसके अतिरिक्त जैन साक्ष्य पर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जैन विद्धानों को प्राचीन परम्पराओं का अच्छा ज्ञान रहता था बौद्ध परम्परा से परिचित चीनी यात्री ह्वेनसांग की मगध के अन्तिम वंशधर स्वीकार करता है। अतः दो स्वतंत्र परम्पराओं से मौर्यों और मौरवरियों का एक ही कुल का होना पुष्ट होता है, और इस आधार पर भी यशोवर्मा को मौरवरी मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं प्रतीत होती।

यशोवर्मा की तिथिः यशोवर्मा की विवादास्पद वंशावली की भांति उसकी तिथि या शासन काल के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। वाक्पतिराज द्वारा लिखित प्राकृत काव्य गौड़वाहों के सम्पादक शंकर पाण्डुरंग पण्डित का इस संबंध में यह मत है कि यशोवर्मा ने ई० सन् की सातवी शताब्दी के अंत तथा आठवी के प्रारम्भिक भाग में शासन किया। उन्होंने कल्हण की राजतरंगिणी कश्मीर के राजाओं के दिए हुए शासन काल की गणना के आधार पर सर्वप्रथम ललितादित्य का शासन काल 693 से 730 ई० निर्धारित किया है और उसके साथ समकालीनता के कारण यशोवर्मा का समय भी इसी के आसपास मान लिया है। यशोवर्मा ने 731 ई० में एक दूत मण्डल चीन के तत्कालीन तांग सम्राट के दरबार में भेजा था। अतः इसी तिथि को आधार मानकर डा० वी.ए. स्मिथ ने यह मत दिया है कि यशोवर्मा 728 ई० के आसपास गद्दी पर बैठा होगा। उनके अनुसार यशोवर्मा का शासन काल लगभग 728 से 745 ई० था।

यशोवर्मा कश्मीर के महान सम्राट ललितादित्य मुक्तपीड का समकालीन शासक था और उसके द्वारा पराजित भी हुआ था। अतः ललितादित्य के शासन काल को ध्यान में रखते हुए यशोवम्रा की तिथि निश्चित करना ही उपयुक्त होगा। राजतंरिगिनी के अनुसार ललितादित्य ने 36 वर्ष 7 महीने 11 दिन शासन किया और बिभिन्न दृष्टियों से इस पर विचार कर विद्वानों ने उसका शासन काल 724 से 760 ई० तक निर्धारित किया है। अतः यशोवर्मा का शासन काल इन्हीं तिथियों के आसपास रखना युक्तिसंगत होगा।

यशोवर्मा 733 ई० में कश्मीर नरेश ललितादित्य द्वारा पराजित हुआ था, अतः यह सुनिश्चित है कि इस तिथि से पूर्व वह गद्दी पर बैठा होगा और साथ ही इस तिथि के पूर्व गौड़वहों में उल्लिखित उसकी दिग्विजय यात्रा भी समाप्त हो गयी होगी। यशोवर्मा

की दिग्विजय यात्रा की समाप्ति की सीमा चीनी साक्ष्य के आधार पर दो वर्ष और पीछे हटाई जा सकती है। इसके अनुसार इन्च–फान–मो नामधारी मध्यदेश के राजा ने अपने मंत्री सेंगयोगा को एक दूत मण्डल का नायक बनाकर [illegible] राजदरबार में भेजा था। मध्यदेश के इस राजा की एकरूपता कन्नौज नरेश यशोवर्मा से स्थापित की गयी। अतः इस [illegible] करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि कन्नौज नरेश यशोवर्मा ने चीन सम्राट के साथ मैत्री पूर्ण सबंध [illegible] इन से पूर्व अपनी दिग्विजय यात्रा समाप्त कर ली होगी, क्योंकि एशिया के तत्कालीन सर्वाधिक शक्तिमान सम्राट के साथ मैत्री की लालसा भारतीय दिग्विजय के उपरान्त ही अंकुरित हो सकती थी और कश्मीर के शक्तिमान सम्राट से भी प्रदर्शित की जा सकती थी। उसकी भारतीय दिग्विजय के लिए भी कुछ वर्षों का समय अपेक्षित है और साथ ही उसको तैयारी में कुछ समय अवश्य लगा होगा। अतः यदि हम इन दोनों कार्यों के लिए कम से कम पांच–छः वर्षों का समय भी निर्धारित करते तो किसी दशा में उसके राज्याभिषेक की तिथि 725 ई० बाद नहीं ठहराई जा सकती।

उसके शासन की अंतिम तिथि के विषय में डा० वी.ए. स्मिथ का मत है कि वह 740-41 ई० या 745 ई० में ललितादित्य द्वारा मारा गया। परंतु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता। ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा पराजित अवश्य हुआ परन्तु उसका मारा जाना निराधार प्रतीत होता है। इसके विपरीत इस संबंध में जैन ग्रंथकारों ने जो तिथियां अंकित की हैं वे सत्य के अधिक निकट जान पड़ती हैं। अनेक जेन ग्रंथकारों के अनुसार वह विक्रमी संवत 800 (743 ई०) में शासन कर रहा था। राजशेखर ने उस तिथि को और आगे बढ़ाया है। उसके ग्रंथ प्रबन्धकोष के अनुसा वप्प नाम एक क्षत्रिय विक्रमी संवत 807 (750 ई०) में जैन धर्म में दीक्षित होकर वप्पादि नाम से विख्यात हुआ। भट्टि होने के उपरान्त उसी ने कान्यकुब्जेश्वर यशोवर्मा की पत्नी सुयशा से उत्पन्न उसके पुत्र राजकुमार आमराज को जैन धर्म में दीक्षा दी थी। कालान्तर में असाध्य रोग से पीडित होने पर कान्यकुब्जेश्वर ने अपने पुत्र आमराज का पट्टाभिषेक कराया और शासन कार्य उसे सौंपकर स्वर्गवासी हो गये। गद्दी पर बैठने के कुछ समय पश्चात् आमराज ने अपने गुरू वप्पभटि को सम्मानित करने के लिए उसे सिद्ध सेनाचार्य द्वारा विक्रमी सम्वत 811 (745 ई०) में सुपरिद पर स्थापित कराया। इन दोनों तिथियों से यह स्पष्ट है कि 750 ई० में तो यशोवर्मा शासन कर रहा था, परन्तु उसकी मृत्यु 752 ई० के आसपास ठहराई जा सकती है और उसका शासन काल लगभग 725-52 ई० तक रखा जा सकता है। त्रिपाठी का निष्कर्ष ठीक प्रतीत होता है कि ये तिथियां कश्मीर नरेश ललितादित्य की तिथियों से मेल खाती हैं।

यशोवर्मा की विजयें: गौड़वहों के अनुसार यशोवर्मा ने पौराणिक विश्व विजेता सम्राटों की परिपाटी का अनुकरण करते हुए अपनी विजय यात्रा आरम्भ की और वर्षा ऋतु के अन्त में उसकी विजय, वाहिनी दिग्विजय के लिए निकल पड़ी। अनुकूल शगुन होने लगे और लोग अपने–अपने घरों से निकलकर विजय यात्रा दल का दर्शन कर आंखों को तृप्त करने लगे। कौतेय और चारणों का समूह राजा के प्रशतिगान में जुट गया जिसके सामने इन्द्र की स्तुति भी तुच्छ लगने लगी। सेना के अभियान के समय कवि ने शरद ऋतु का बड़ा सुन्दर और सुहावना वर्णन किया है। कन्नौज के दक्षिण पूर्व दिशा में विजय यात्रा पर निरन्तर गतिमान यशोधर्मा की सेना सोन की घाटी में पहुंची। शक्ति के पुजारी कन्नौज नरेश ने नरबली द्वारा विन्ध्य की पहाड़ियों में विंध्यावासिनी देवी की आराधना की। देवी का यह मन्दिर उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में विंध्याचल नामक स्थान पर स्थित है। सम्भवतः यशोवर्मा की विजय मार्ग आधुनिक कानपुर, फतेहपुर और इलाहाबाद के जिलों से होता हुआ मिर्जापुर तक आया था। विन्ध्याखी क्षेत्र में यशोवर्मा के सैनिक कार्रवाई का उल्लेख करते हुए कवि ने बतलाया है कि यशोधर्मा की शक्ति से भयभीत मगधनाथ भाग निकला और भागती हुई उसकी सेना ने अपने पीछे धूल उड़ाकर दिन के प्रकाश को रात्रि के अंधकार में बदल दिया। तत्पश्चात कवि ने वर्षा की ऋतु का बड़ा सजीव व स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है। इस बीच मगधनाथ के सामन्तों को अपनी कायरता पर ग्लानि हुई और वे वर्षा ऋतु की समाप्ति पर शत्रु से युद्ध करने के लिए अपने स्वामी के नेतृत्व में लौट आए। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध छिड़ गया और मगध के सामन्तों के [illegible] रक्त से लाल हो गयी। मगध नरेश पराजित हुआ और युद्ध का मैदान छोड़कर भाग निकला। यशोवर्मा ने उसका पीछा किया और पकड़कर मार डाला। इस ग्रंथ में एक जगह इस घटना का गौड़ाधिपति के वध के नाम से उल्लेख हुआ है।

यशोवर्मा द्वारा पराजित मगधनाथ की पहचान के संबंध में ग्रंथ का साक्ष्य स्पष्ट होते हुए भी कुछ विद्वानों ने इसे विवादास्पद बना डाला है। ग्रंथ से ज्ञात होता है कि जब विद्वानों की सभा ने कवि वाक्पतिराज से यशोवर्मा द्वारा मगधनाथ के [illegible] का सारा विवरण सुनना चाहा तो उसने उपस्थित विद्वानों को प्राच्य देश के राजा को मारकर ख्याति लाभ करने वाले [illegible]

के पौरुष एवं शौर्य का गुणगान सुनाया। इस प्रसंग में कवि स्वयं स्वीकार करता है कि इस प्रकार गौड़वहों (गोड़ वध अर्थात गौड नाथ का वध) काव्य की रचना हुई। अतः यहां पर मगधनाथ, प्राच्य नरेश एवं गौड़नाथ ये तीनों ही पद पर्यायवाची प्रतीत होते हैं और इनमें एक ही व्यक्ति का बोध होता है। इसी प्रकार ग्रंथ में जहां कथानक के प्रसंग में मगधनाथ के वध का उल्लेख है, वहीं अन्यत्र एक श्लोक में यशोवर्मा द्वारा गौड़ाधिपति के मारे जाने का उल्लेख भी मिलता है अतः यह भी उसकी एकरूपता का ही बोधक है। यहां यह बात स्मरणीय है कि कवि वाक्यपतिराज स्वयं गौड़ देश का निवासी एवं घटना का प्रत्यक्षदर्शी था, अतः उससे मगधनाथ एवं गौड़नाथ की एकरूपता में किसी भी प्रकार की भूल की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी यह बात विचारणीय है कि कवि मगधनाथ की परास्त और मृत्यु का तो उल्लेख करता है परन्तु गौड़ देश का कहीं अलग से वर्णन नहीं करता जबकि अपने ग्रंथ का नाम गौड़वहों अर्थात गौड़ देश के राजा का वध रखा है। स्पष्टतः कवि की दृष्टिमें मगधनाथ पर विजय प्राप्त कर दिग्विजयी सम्राट इलायची के वनों में सुगंधित समुद्री तटीय प्रदेश में पहुंच जाता है। जहां से वह बंग देश का आक्रांत करता है। मगध के बाद बंग पर आक्रमण भी यह सूचित करता है कि उस समय गौड़ देश का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था और वह मगध का एक भाग मात्र था जिसके आधार पर मगधनाथ ही गौड़वाल की भी उपाधि से विभूषित था। कन्नौज की राजसभा में मगधवर्मा की बन्दी रानियों का विजयी यशोवर्मा पर चंवर डुलाना भी मगध एवं गौड़ की अधीनता का द्योतक है। क्योंकि ग्रंथ के शीर्षक के अनुसार वध तो गौड़ नाथ का हुआ तो मगध की रानियां बन्दी कैसे हो सकती हैं। गौड़वहों के विद्वान सम्पादक को इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि मगधनाथ और गौड़ाधिपति दोनों एक ही व्यक्ति हैं। बी.पी. सिन्हा एवं त्रिपाठी भी इस मत के पोषक हैं। परंतु पीयर्स एवं आयंगर इन दोनों को भिन्न व्यक्ति मानते हैं।

डा० आर.सी. मजूमदार का इस संबंध में सुझाव है कि यदि मगध और गौड़ दोनों एक ही राजा के अधीन थे तो मगध को गौड़ के राजा के अधीन होना चाहिये न कि गौड़ मगध के, अन्यथा गौड़वहों नाम की कोई सार्थकता नहीं है। ग्रंथ के शीर्षक भाग पर विचार करने से यह मत तर्कसंगत अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्य इस मत की पुष्टि में बाधक है। शशांक की मृत्यु के उपरान्त गौड़ का राजनीतिक महत्व समाप्त हो चुका था और प्रायः सौ वर्षों से ऊपर तक यह प्रदेश क्रमशः हर्ष कामरूप के भास्करवर्मन तथा मगध के परवर्ती गुप्तों के अधीन ही रहा। अतः जहां गौड़वहों के आंतरिक साक्ष्य के अनुसार, मगधनाथ, प्राच्य नरेश एवं गौड़ाधिपति तीनों ही एक ही व्यक्ति का बोध कराते हैं, वहीं इस काल में मगध के परवर्ती गुप्तों की प्रधानता के कारण हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि ये सभी पद यशोवर्मा के समकालीन मगध के परवर्ती गुप्त नरेश जीवितगुप्त द्वितीय (लगभग 715-730 ई०) के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

गौड़वहों के विवरण और परवर्ती गुप्त नरेश जीवितगुप्त के देववरनार्क अभिलेख के साक्ष्य के साथ देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोवर्मा द्वारा पराजित एवं मारा गया मगधनाथ परवर्ती गुप्त नरेश जीवितगुप्त द्वितीय था। इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि जीवितगुप्त द्वितीय भी अपनी सेना के साथ शत्रु के विरुद्ध सैनिक अभियान में निकला था और गोमती तट पर स्थित गोमती कोट्टक में ठहरा हुआ था जो विंध्याचल स्थित विंध्यावासिनी देवी मन्दिर से अधिक दूरी पर नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्मा की विजय यात्रा की तैयारी के समाचार से अवगत होने पर जीवितगुपत द्वितीय उसका मार्ग रोकने एवं उसके साथ युद्ध करने के लिए अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर स्थित गोमती कोट्टक दुर्ग में आ पहुंचा था और जब यशोवर्मा विंध्यवासिनी देवी की पूजा कर आगे बढ़ा तो दोनों सेनाओं में मुठभेड हो गयी। यदि गौड़वहों का विवरण ठीक है तो यशोवर्मा की शक्ति का अनुमान कर जीवितगुप्त लड़ाई का मैदान छोड़कर पीछे हट गया। परन्तु जब विजयी यशोवर्मा आगे बढ़ा तो बाध्य होकर अपने सामन्तों को इकट्ठा कर उसके एक फिर युद्ध का सामना किया। सम्भवतः यह युद्ध मगध की राजधानी पाटलीपुत्र के समीप या उससे भी और पीछे हटकर गौड़ की सीमा पर कहीं हुआ होगा। जब मगध नरेश और उसके सामन्तों की और अधिक पीछे हटने का स्थान नहीं रह गया होगा। इस अनुमान का आधार इस युद्ध के बाद यशोवर्मा की सेना का शीघ्र ही इलायची के वनों वाले तटीय प्रदेश में पहुंचना है। त्रिपाठी का अनुमान है कि मगध में यशोवर्मा द्वारा स्थापित नगर या तो मगधनाथ पर विजय की स्मृति के रूप में है या युद्ध भूमि का सूचक है।

मगध पर विजय करने के पश्चात कन्नौज नरेश यशोवर्मा इलायची की सुगंध से सुवासित वनों से ढके समुद्र तटीय प्रदेश में पहुंचा, जहां वह कुछ समय तक विचरण करता रहा। इसके पश्चात उसने अपनी हाथी सेना के बल पर बंगाधिपति अथवा पूर्वी बंगाल के राजा को पराजित किया। यद्यपि इस पराजित बंगनरेश की पहचान कठिन प्रतीत होती है। बसाक महोदय का अनुमान है कि वह बंग का खड्गवंशी सम्राट राजभट्ट होना चाहिये। बंग विजय के उपरान्त उसकी विजयी सेना ने दक्षिण

की ओर कूच किया और दक्षिणा पथ के किसी अज्ञात नामक राजा को पराजित करती हुई मलय पर्व का पार किय तत्पश्च वह उस समुद्र तट पर पहुंचा जहां बाली रावण को अपनी बगल में दबाए समुद्र विचारण करता थ त्रिपाठ महादय कहना है कि यह बतलाना कठिन है कि कवि का यहां देश के किस भाग से तात्पर्य है।

इसके उपरान्त उसने युद्ध में पारसिकों को पराजित किया। बुलर पारसिक की एकरूपता पारसियनो से स्थापित करत परन्तु इसमें ध्वनी की समानता के अतिरिक्त और कोई समानता नजर नहीं आती। पारसी भारत पश्चिम म भारत इस निवासी थे। परन्तु वाक्पतिराज उनकी गणना भारत की जातियों में करता है। अत उनहें दक्षिण भारत म ही ढूढना चाह इस समस्या का समाधान एक चालुक्य अभिलेख से हुआ प्रतीत होता है। जिसमें बादामी के चालुक्य विनादित्य की विजयों में कोमेरों या कावेरों और चोलों के साथ पारसीका का भी उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात पश्चिमोधार के द्रुगम प के राजाओं से कर ग्रहण करते हुए यशोवर्मा ने नर्मदा नदी को पार किया और राजस्थान के मरुप्रदेश (मारवाड) स होत हुआ श्रीकण्ठ देश (थानेश्वर) पहुंचा। वहां से वह हरिश्चन्द्र की नगरी अयोध्या गया, जहां उसने मन्दार पर्वत नेवाशनं जानिय को अधिकृत किया। स्मिथ के अनुसार यह अयोध्या राम की प्राचीन राजधानी नहीं अपित उससे बहुत दूर स्थित एव अनुश्रुतिय में वर्णित राजा हरिश्चन्द्र की आकाश नगरी है। यक्षों का यह देश देवदार के पेड़ों से निकले रस स सुगधित होत है। इस प्रकार हिमालय के किसी पर्वतीय प्रदेश की विजय पूरी कर दिग्विजयी यशोवर्मा अपनी राजधानी वापस लौट पर उसने विजयोत्सव मनाया। तत्पश्चात उसने उन समस्त बंदी राजाओं को, जो विजय अभियान मे उसके साथ रह थे कर दिया और वे अपने–अपने देश चले गये।

गौड़वहों में वर्णित यशोवर्मा की इस विजय यात्रा को कुछ विद्वान ऐतिहासिक नहीं मानते, वहीं दूसर इसकी ऐतिहासिकता पर संदेह करना अनावश्यक समझते हैं। इस संबंध में वी.ए. स्मिथ का विचार है कि इस सामसामयिक साक्ष्य को मूलभूत सम्मान पर संदेह करने का मुझे कोई कारण नजर नहीं आता। अगर कन्नौज जैसे शक्तिमान केन्द्र से शासित करन वाल पडल शक्तिशाली नरेश ने पूर्व बंगाल तक, दक्षिण से नर्मदा तक तथा उत्तर में पर्वतों की तलहटी तक के भूभाग क अपनी से आक्रान्त किया हो तो इसमें अविश्वास करने की क्या बात है। त्रिपाठी स्मिथ के मत से सहमत नहीं ह। उनका कथन है कि प्राचीन भारत में अकारण विरोधपूण संघर्षों की परम्परा रही है। प्रत्येक महत्वाकांक्षी नरेश सफल युद्धो का सचा तथा उनकी समाप्ति पर अपनी शक्ति एवं विस्तृत प्रभुसत्ता के चिन्ह स्वरूप अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान करना अपना धर्म कर समझता था।

इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि गौड़वहों मूलतः इतिहास का ग्रंथ नहीं है अपितु यह एक काव्य ग्रथ ह परन्तु इसक शीर्षक की सार्थकता मगध और गौड़ पर विजय को प्रमाणित करती हे और उसके द्वारा अपने नाम पर यशोवर्मपुर नगर स्थापना इस प्रदेश पर उसके अधिकार की द्योतक है। वस्तुतः यशोवर्मा द्वारा मगध एवं गौड की विजय एक ऐसी महत्व घटना थी जिसने बंग अभियान के लिए उसे प्रेरित किया। अतः मगध और गौड़ के अतिरक्त बंग अभियान की ऐतिहासिकत भी सहज ग्रहण प्रतीत होती है। सम्भव है इसी पूर्वी अभियान के मार्ग में स्थित आसपास के अन्य छाट राज्य भी उसक द्वा आक्रान्त हुए हों और उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली हो।

जहां तक यशोवर्मा के दक्षिण अभियान का संबंध है वह अवश्य काल्पनिक जान पड़ता है। क्योंकि इस प्रसग म इसके द्व चालुक्यों तथा कांची के पल्लवों आदि दक्षिण की मुख्य शक्तियों का कोई उल्लेख नहीं है। जान पडता ह कि कवि ने अप आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए इस प्रकार के काल्पनिक अभियान संबंधी प्रसंगों की रचना की थी। यही स्थिति मारवाड़ अभियान की भी जान पड़ती है क्योंकि दक्षिण से नर्मदा पार करते हुए मरूदेश जाने में मार्ग म कई छोटे छोटे के राज्यों से गुजरना पड़ता किन्तु काव्य में इन राज्यों का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि उसनक श्रीकण्ठ जा हिन्द प्रदेश के अभियान वास्तविक रहे हों क्योंकि वह प्रदेश कन्नौज की सीमा पर स्थित थे।

ललितादित्य मुक्तापीड़ के साथ युद्धः ललितादित्य यशोवर्मा के समकालीन कश्मीर का शासक था। वह बड़ा महत्वा शासक था उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग युद्धभूमि में ही बिताया था। सिंहासन पर बैठन क कुछ ही वर्षो क पश्चा उसने कन्नौज पर आक्रमण किया। कल्हण की राजतंरगिणी के अनुसार इस युद्ध में यशोवर्मा की हार हुई और उसने आत्मसमर्पण की अधीनता स्वीकार कर बुद्धिमता का परिचय दिया। कल्हण आगे लिखता है कि जब दोनों राजाओ क बीच मधुर सम्बन्ध

संधि पत्र तैयार हो गया तो यशोवर्मा द्वारा प्रस्तुत संधि पत्र की प्रति में राजनयिक शिष्टता का ध्यान रखते हुए उसका नाम प्रथम और ललितादित्य का नाम द्वितीय स्थान पर अंकित देखकर कश्मीरी संधिविग्रहक मित्र शर्मा ने इसका विरोध किया क्योंकि उसकी दृष्टि में द्वितीय स्थान पर ललितादित्य का नाम होना तिरस्कार का सूचक था। संधि पत्र की उचित रूपरेखा स्वीकार कराने के संधिविग्रहक के इस आग्रह से कश्मीर नरेश बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे 'पंचमहाशब्द' की उपाधि से विभूषित किया। इस गतिरोध से संधि वार्ता समाप्त हो गयी और दोनों सेनाओं के बीच पुनः युद्ध आरम्भ हो गया।

युद्ध दुबारा छिड़ना यशोवर्मा के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। राजतरंगिणी के अनुसार ललितादित्य ने यशोवर्मा का समूल विनाश कर दिया। और यमुना तट से कालीकट तक कान्यकुब्ज प्रदेश इस प्रकार उसके अधिकार में आ गया मानो वह उसके राजमहल का प्रांगण हो। इसी ग्रंथ में अन्यत्र यह भी उल्लेख हुआ है कि गौरवान्वित कश्मीर नरेश ने गांवों सहित कान्यकुब्ज की भूमि उस मार्तण्ड मन्दिर को दान कर दी जिसका निर्माण उसने अपने नाम पर स्थापित ललितपुर नामक नगर में कराया था। राजतंरगिणी में उपर्युक्त विवरण के आधार पर स्मिथ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस युद्ध में कन्नौज नरेश मारा गया और उसका राज्य कश्मीर के अधीन हो गया। परंतु स्वयं राजतरंगिणी में ही उपलब्ध एक अन्य साक्ष्य इस मत को स्वीकार करने में बाधक है क्योंकि ललितादित्य की विजय के तुरंत बाद कल्हण का कथन है कि 'वाक्यपतिराज एवं श्रीभवभूति आदि कवियों से सेवित, कवि यशोवर्मा सवयं उसके गुणों का प्रशस्तिकार बन गया।' अतः यदि युद्ध में यशोवर्मा मारा गया होता तो मृत्यु के बाद उसके द्वारा प्रशस्तिगान का प्रश्न कहां उठता है। इस संबंध में त्रिपाठी का मत हे कि उपर्युक्त साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम यही कहेंगे यद्यपि यशोवर्मा युद्ध में पराजित हुआ, परन्तु जैसा कि ग्रंथ में दी हुई संघर्ष की लम्बी अवधि से स्पष्ट है कि कन्नौज की सेनाओं के प्रबल प्रतिरोध के कारण ललितादित्य दण्ड की पराकाष्ठा तक न जा सका और अपने प्रतिपक्षी द्वारा अधीनता स्वीकार कर लिये जाने पर उसे राज्य का अधिकारी बना रहने दिया।

इसी प्रसंग में कल्हण का एक दूसरा कथन भी विचारणीय है। इसके अनुसार 'जिस प्रकार गंगा हिमालय से होती हुई आगे की ओर बढ़ती है उसी प्रकार ललितादित्य की वाहिनी यशोवर्मा को पीछे छोड़ती हुई निर्बाध गति से पूर्वी समुद्र की ओर बढ़ चली।' राजतंरगिणी का यह विवरण पराजय के पश्चात यशोवर्मा की मृत्यु का नहीं अपितु जीवित रहने का ही संकेत करता है। अतः राजतरंगिणी में वर्णित 'समूल उदपाट्यत' पद सम्भवतः यशोवर्मा के समूल विनाश का नहीं वरन् केवल उसकी सैन्य शक्ति के विनाश का सूचक प्रतीत होता है। यशोवर्मा ललितादित्य द्वारा युद्ध में मारा नहीं गया, वरन् युद्ध के बाद भी जीवित था। इसका प्रमाण चीनी यात्री ओ–कांग का यात्रा विवरण भी प्रस्तुत करता है। जिसके अनुसार मुक्तापीड़ (ललितादित्य) और मध्यदेश के राजा (यशोवर्मा) के बीच मैत्री का संबंध स्थापित था और उन दोनों ने मिलकर तिब्बतियों के बाहर निकलने के पांचों रास्तों को बंद कर रखा था। चीन के तांग सम्राट के दरबार में 736 ई० के बाद किसी समय ललितादित्य द्वारा भेजे गये राजदूत के कथन में भी कश्मीर नरेश एवं कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध का स्पष्ट उल्लेख है। यद्यपि इसी आधार पर स्टोन महोदय का मत है कि ललितादित्य एवं यशोवर्मा के बीच 736 ई० के बाद किसी समय युद्ध हुआ और इसके पूर्व दोनों में मैत्रीपूर्ण संबंध था। परन्तु इन दोनों के बीच 733 ई० में युद्ध हुआ था 736 ई० में नहीं। अतः चीनी साक्ष्य इस युद्ध के बाद भी यशोवर्मा के जीवित रहने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 'वाप्पभट्टिचरित' के अनुसार यशोवर्मा की स्वाभाविक मृत्यु 750 ई० और 754 ई० के बीच किसी समय हुई।

कन्नौज पर ललितादित्य के अधिकार की पुष्टि उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में प्राप्त ललितादित्य के सिक्कों के एक ढेर से भी होती है। इस संबंध में त्रिपाठी का मत है कि सिक्कों का यह ढेर ललितादित्य के उस कोष का अंश हो सकता है जिसे वह अपनी सेना के मार्ग व्यय के लिए अपने साथ लेकर चला था। सम्भवतः उसकी सेना ने कुछ समय तक बांदा में विश्राम किया हो, सिक्कों का यह ढेर उसी उपस्थिति का सूचक हो। राजतरंगिणी में भी कन्नौज राज्य के केवल उस भाग पर ही ललितादित्य के अधिकार का उल्लेख है जो यमुना और काली नदियों के बीच स्थित था, परंतु कन्नौज का साम्राज्य इससे अधिक विस्तृत था और पूर्व में मगध और गौड़ भी उसमें सम्मिलित थे, सम्भव है युद्धकाल में कुछ समय के लिए उसके राज्य का वह भाग जो यमुना और काली नदियों के बीच स्थित था ललितादित्य के अधिकार में आ गया हो और उसी की आमदनी उसने ललितपुर के मार्तण्ड मन्दिर को दान कर दी हो। लेकिन इस बात की अधिक संभावना प्रतीत होती है कि अधीनता स्वीकार कर लेने और उसके गुणों का प्रशस्तिकार बन जाने के पश्चात उसके राज्य का वह भाग भी उसे लौटा दिया हो जिस पर उसने युद्ध काल में अधिकार किया था। इस प्रकार विजित एवं विजेता के इस प्रारम्भिक संघर्षपूर्ण संबंध ने मैत्री

का रूप धारण कर लिया, जिसका उल्लेख हमें चीनी ग्रंथों में मिलता है और जिसके अनुसार इन दोनों ने मिलकर [illegible] पर तिब्बतियों के मार्ग को रोक रखा था। त्रिपाठी भी इसी मत से सहमत है कि दोनों सम्राट प्रारम्भिक शत्रुता [illegible] पश्चात परस्पर मित्र बन गये।

युद्ध की तिथि: स्टोन ने राजतरंगिणी का विद्ववतापूर्वक विश्लेषण करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि 736 ई० में [illegible] चीनी सम्राट ह्वेन–सुंग के दरबार में भेजे गये ललितादित्य के दूत मण्डल ने यशोवर्मा को अपने सम्राट का मित्र होने का दावा किया है। अतः ललितादित्य एवं यशोवर्मा के युद्ध का समय चीनी दरबार में गये इस दूत मण्डल के बाद होना चाहिए। वी० ए० स्मिथ के अनुसार यह युद्ध 745 ई० में हुआ जिसमें यशोवर्मा मारा गया। अन्यत्र उन्होंने यह तिथि 740-1 ई० [illegible] परन्तु न तो इन विद्वानों द्वारा इस युद्ध की निर्धारित तिथि सही जान पड़ती है और नही यशोवर्मा मारा गया। यही [illegible] प्रतीत होती है। वस्तुतः युद्ध की तिथि के निर्धारण में राजतरंगिणी का चीनी साक्ष्य कोई मदद नही करता। इसके विपरीत [illegible] संबंध में वाक्पतिराज कृत गौड़वहों ग्रंथ का आंतरिक साक्ष्य अधिक युक्तिसंगत एवं निर्णयात्मक जान पड़ता है। इसमें [illegible] अपशकुनों का उल्लेख है जो उस समय घटित हुए जब राजपद के क्षणिक विचलन के कारण यशोवर्मा की आखें [illegible] आकुंचित हो उठा था। जैकोबी के अनुसार यह घटना ललितादित्य के आक्रमण का द्योतक है जिसमें कान्यकुब्ज नरेश पराजित [illegible] हुआ था और कुछ समय के लिए कन्नौज की राजलक्ष्मी विचलित हो उठी थी। इस संबंध में यह स्वीकार करते हुए कि [illegible] से यशोवर्मा को अपनी जान या राज्य से हाथ नहीं धोना पड़ा। त्रिपाठी जैकोबी के मत से सहमत है। भंडारकर के अनुसार भी निश्चित ही यशोवर्मा के राजपद की क्षति क्षणिक थी, क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि कश्मीर नरेश ने उसका राजपद छीन लिया हो, बल्कि यशोवर्मा द्वारा अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसके साथ संधि स्थापित कर वह लौट गया प्रतीत होता है। अन्य अपशकुनों में एक केतु द्वारा सूर्य का बोध है। जिसमें सूर्य का गोला उस भगननुपुर के रूप में परिवर्तित हो गया था जो मानो तीनों लोकों की लक्ष्मी द्वारा क्रोधावश में फेंक देने के कारण पैर से अलग हो गया हो। स्पष्टतः यह श्लोक उस वलयाकार या अर्द्ध–सूर्य ग्रहण की ओर संकेत करता है जो जैकोबी की नाक्षित्रिक गणना के अनुसार 24 अगस्त 733 ई० में कन्नौज में दिखाई पड़ा था। यहां पर राजपद का क्षणिक विचलन या क्रोधावेश में लक्ष्मी द्वारा अपना नूपुर [illegible] पैर से निकालकर फेंकना राजलक्ष्मी की अप्रसन्नता का परिचायक है और लक्ष्मी की अप्रसन्नता राजाओं के दुर्दिन का द्योतक होती है। अतः राजपद के क्षणिक विचलन के कारण यशोवर्मा की आंखों के कोने का आकुंचन तथा कन्नौज में [illegible] वाला यह अर्द्धसूर्य ग्रहण कन्नौज नरेश यशोवर्मा के उस दुर्दिन का सूचक है जब वह कश्मर नरेश ललितादित्य से [illegible] हुआ था। अतः इन साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि [illegible] ललितादित्य का युद्ध 733 ई० में हुआ था जिसमें कन्नौज नरेश पराजित हुआ था।

अध्याय-4

गुर्जर प्रतिहार वंश
Gurjar-Pratihara Dynasty

प्रतिहारों की उत्पत्तिः प्रतीहारों की उत्पत्ति भी विद्वानों के बीच में एक विवादास्पद विषय है। विद्वानों ने इस संबंध में दो विरोधी मत प्रतिपादित किये हैं। टाड, स्मिथ, क्रुक्, भण्डारकर आदि विद्वानों ने इन्हें विदेशी बतलाया है किंतु सी.वी. वैद्य, गौरीशंकर ओझा, दशरथ शर्मा तथा अन्य कुछ विद्वानों ने इन्हें प्राचीन आर्यों की संतान बताया है। इसलिए इन सिद्धांतों पर अलग–अलग विचार करना आवश्यक है।

विदेशी उत्पत्ति का सिद्धांतः पृथ्वीराज रासो के इस वर्णन के आधार पर कि प्रतीहार, परमार, सोलंकी तथा चाहमान वंशों की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी। कर्नल टाड ने इन्हें विदेशी सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने शको तथा इन वंशों की परम्परा में समता दिखाकर उन्हें शको का वंश बतलाया है। टाड के बाद विद्वानों ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है। टाड की पुस्तक के विद्वान सम्पादक का क्रुक का मत है कि पृथ्वीराज रासो में वर्णित पुरावृत अग्नि द्वारा शुद्धि का द्योतक है जिसके द्वारा विदेशिये' की अशुद्धता को दूर करके उन्हें हिन्दु वर्ण व्यवस्था में शामिल कर लिया गया। क्रुक का मत है कि यह प्रायः निश्चित है कि अनेक राजवंशों की उत्पत्ति भारत के शक या कुषाण आक्रमण काल से आरम्भ होती है। क्रुक ने इनमें प्रतीहारों को भी सम्मिलित किया है।

टाड व क्रुक के बाद के विद्वानों ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है कि प्रतीहार वंश के नाम के साथ गुर्जर शब्द के प्रयोग के कारण इन विद्वानों ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये लोग गुर्जरों के वंशज हैं। गुर्जर जाति मूलतः मध्य एशिया में निवास करती थी जिस समय गुप्त साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो रहा था और हुणो के आक्रमण हो रहे थे। उन्हीं दिनों गुर्जरों ने उत्तर–पश्चिम के पर्वतीय मार्गों द्वारा भारत में प्रवेश किया था और धीरे–धीरे पंजाब, मारवाड़ तथा भडोच में अपने छोटे–छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे। सर जेम्स कैम्पबेल ने इसका संबंध खिजर जाति से जोड़ा है, जो छठी शताबदी ई० में एशिया तथा यूरोप की सीमा पर निवास करती थी। हार्नले ने गुर्जरों का संबंध तुर्क जाति से स्थापित किया है। कनिंघम के विचार में गुर्जरों का संबंध यू–ची जाति से था। स्मिथ महोदय की धारणा है कि गुर्जर प्रतीहार हुणो की संतान है। डा० भण्डारकर ने भी इन्हें खिजर जाति का वंशज बताया है। अरब लेखके अबुजेद तथा अलमसूदी भी इस धारणा का अनुमोदन करते हैं कि प्रतिहार लोग गुर्जर जाति के थे।

विदेशी उत्पत्ति सिद्धांत की आलोचनाः इस सिद्धांत की आलोचना करने वाले विद्वानों का कहना है कि बहुत बड़ी संख्या में दक्षिण–पश्चिमी राजस्थान के गुर्जरों के बसने के कारण भी यह भू–भाग गुर्जर देश कहलाया। यदि गुर्जर वास्तव में विदेशी होते तो केवल दो ही परिस्थितियों में इस विशाल भू–भाग का नाम उनके नाम पर गुर्जर देश हो सकता था। प्रथम या तो उस प्रदेश पर उनका शासन रहा हो, द्वितीय वे बहुत बड़ी संख्या में वहां प्रवेश कर गये हों। परन्तु ऐतिहासिकत साक्ष्यों में इनमें से किसी बात की पुष्टि नहीं होती। वे न तो वहां अधिक समय तक शासन करते पाए गए हैं और न ही किसी बड़े विदेशी जन समुदाय के वहां पर आकर बसने का ही उल्लेख मिलता है। अगर गुर्जर वास्तव में विदेशी विजेता थे तो उन्हें गुर्जरत्रा के मरु प्रदेश में बसने की क्या आवश्यकता थी जहां जीवन की दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का सदैव अभाव रहा है और आज भी है। विजेता के रूप में प्रवेश करने वाली विदेशी जाति किसी उपजाऊ भूमि की खोज कर वहां पर बसकर सुखपूर्वक जीवन यापन करने का प्रयास करती है।

अतः इन्हीं बातों के आधार पर उपर्युक्त मत का अब खण्डन कर दिया गया है।

भारतीय उत्पत्ति का सिद्धांतः बहुत से इतिहासकार प्रतीहारों को विदेशी नहीं मानते। उनके विचार में यह जाति सर्वथा भारतीय है और अत्यन्त शान्तिप्रिय तथा कृषि प्रधान एवं व्यापारी जाति है। इन विद्वानों के विचार में प्रतीहारों के साथ गुर्जर शब्द के जुड़े रहने का कारण यह था कि उनकी राजनीतिक शक्ति का उदय सर्वप्रथम राजस्थान के दक्षिण पूर्व में गुर्जर प्रदेश से हुआ था अतः इस प्रदेश के नाम पर ये लोग गुजर अथवा गुर्जर कहलाए। सी.वी. वैद्य, गौरीशंकर ओझा तथा आर.आर.

हाल्दर ने इस भारतीय उत्पत्ति का अनुमोदन किया है। भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार प्रतिहार लोग सूर्यवंशी क्षत्रिय थे और अपने को लक्ष्मण की संतान मानते थे। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने "विद्धशालभंजिका" नामक ग्रंथ में प्रतिहार वंशी राजा महेन्द्रपाल को 'रघुकुलतिलक' और बाल भारत नामक ग्रंथ में रघुवंशमणि और उसके पुत्र महिपाल को रघुवंश मुक्तामणि कहा है। इसी प्रकार अन्य ग्रंथों में भी प्रतीहारों को रघुवंशी तथा सूर्यवंशी कहा गया है। प्रतीहारों के भारतीय होने का अभिलेखीय प्रमाण भी है। कई अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि प्रतीहार लोग हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण के वंशज थे। हरिश्चन्द्र के दो स्त्रियां थी एक ब्राह्मण वंश की तथा दूसरी क्षत्रिय वंश की। ब्राह्मण स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे भी प्रतीहार कहलाए। ऐसा जोधपुर अभिलेख में वर्णित है। जोधपुर में अब भी ब्राह्मण परिवार पाए जाते हैं। प्रतीहार भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में भी प्रतीहारों को सूर्यवंशी कहा गया है। इस प्रकार साहित्यिक तथा अभिलेखीय दोनों प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतीहार की उत्पत्ति भारतीय है और व रघुवंशी अथवा सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं

कन्नौज का प्रतिहार वंश

नागभट्ट वंशः प्रतीहार सम्राट भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कन्नौज के प्रतिहार वंश का प्रारम्भिक संस्थापक नागभट्ट प्रथम था जिससे इस वंशावली का आरम्भ होता है। मारवाड़ के प्रतीहार वंश से इस वंश का कोई संबंध था इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, परंतु इस बात की सम्भावना अधिक है कि इस वंश का उस वंश से कोई संबंध न रहा हो। इस वंश के संस्थापक नागभट्ट का कहीं–कहीं नागवलोक नाम भी प्राप्त होता है। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार यह एक शक्तिमान शासक था जिसने अपनी सैनिक सफलताओं के फलस्वरूप गुर्जरत्रा प्रदेश का अधिकांश भाग जालौर में अपनी राजधानी स्थापित की।

अरबों से युद्धः दशरथ शर्मा के अनुसार यह आरम्भ में सम्भवतः भिल्लमाल (भीनमाल) के चावड़ा का सामन्त था जिसने ७२५ ई० में चावडा राज्य की समाप्ति के पश्चात राजपद धारण किया और भारत के भीतरी भागों की ओर अरबों के बढ़ाव को रोकने का सफल प्रयास किया। इस कार्य में उसने राजस्थान के अन्य राजाओं का सहयोग तो प्राप्त किया ही साथ ही राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग के साथ संघ बनाकर अरबों पर आक्रमण किया और उन हिन्दु राजाओं को स्वतंत्र किया जिन्हें पराजित कर अरबों ने अपने अधीन कर रखा था। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार, अरबों से आक्रान्त लोगों की प्रार्थना पर नारायण की भांति सद्गुणों का विनाश करने वाले शक्तिमान मलेच्छ राजा की विशाल सेना का दमन किया। इस लेख में उल्लिखित म्लेच्छाधिपति से तात्पर्य सिन्ध व मुल्तान के अरब शासक से है।

नागभट्ट द्वारा अरबों की पराजय की पुष्टि अरब इतिहासकार अलविलादूरी के विवरण से भी होती है। उसने भारत के कई भागों पर अरब आक्रमण का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उन्होंने उज्जैन पर आक्रमण किया तथा बेहरीमण्ड पर धावा बोलकर उसके आसपास के प्रदेशों को जला डाला। यह आक्रमण खलीफा हासिम के शासन काल में सिन्ध के गवर्नर द्वारा किया गया था। इस प्रकार आठवीं शताब्दी के तीसरे दशक में भारतीय प्रांतों पर अरबों के आक्रमण बढ़ गए थे। इसके शीघ्र बाद जुनैद के उत्तराधिकारी बसीम के शासन काल में अरबों को भारत के अनेक भागों से पीछे हटना पड़ा और उन्हें अनेक स्थान छोड़ने पड़े। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि आठवी शताब्दी के चौथे दशक में अरबों को अनेक भारतीय प्रांतों से पलायन करना पड़ा था और उनके इस पलायन का मुख्य कारण भारतीय राजाओं का उग्र प्रतिशोधात्मक आक्रमण था, जिसका नेतृत्व नागभट्ट प्रथम ने किया था। अतः अरब आक्रमण से पश्चिमी भारत की रक्षा का श्रेय इसी नागभट्ट को प्राप्त है जो उसके जीवन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

राज्य विस्तारः अपने राज्य विस्तार के प्रयत्न में उसने लाट देश (भडोच प्रदेश) को भी अधिकृत कर लिया। मेत्रक वंश के चाहमान सामन्त भर्तबद्ध द्वितीय के हांसोट ताम्रपत्र से होती है। इस अभिलेख की तिथि 756 ई० है और इसमें भर्तबद्ध द्वारा अक्रेरेश्वर (आधुनिक अंकलेश्वर) विजय में एक गांव दान देने का उललेख है। इसके पूर्व भडौच पर इन्हीं का अधिकार था जो बादामी के चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करते थे। परंत राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग से पराजित होने के बाद चालुक्य सम्राट कीर्तिवर्मन द्वितीय का इस प्रदेश से अधिकार समाप्त हो गया, तब नागभट्ट ने इस पर अधिकार कर वहां अपने सामंत को शासक नियुक्त किया।

लाट अथवा दक्षिणी गुजरात की ओर अपनी शक्ति का बढ़ाव करते हुए नागभट्ट ने सम्भवतः पश्चिमी मालवा पर भी अधिकार किया। इससे पूर्व यह प्रदेश वल्लभी के मैत्रकों के पास था। मालवा ओर लाट पर अधिकार हो जाने के पश्चात बढ़ते हुए राज्य की प्रशासनिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसने अपनी राजधानी जालौर से हटाकर उज्जैन में स्थापित की जो राज्य के केन्द्र में स्थित राजनीतिक रूप से महत्व का नगर था।

राष्ट्रकूटों से संघर्ष: जिस समय नागभट्ट प्रथम मारवाड़ से लाट तक विस्तृत भूभाग पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था, उसी समय स्वतंत्र राष्ट्रकूट राज्य के संस्थपक दन्तिदुर्ग ने भी विन्ध्य पर्वतमाला के दक्षिण में बरार और बादामी के चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी प्रांतों पर अधिकार स्थापित करते हुए लाट देश की ओर बढ़ने के प्रयास में लगा हुआ था। दशरथ शर्मा के अनुसार भारतीय प्रान्तों से अरबों के निष्कासन में नागभट्ट के साथ दन्तिदुर्ग ने भी सहयोग किया था। उनका विचार है कि अरबों पर विजय प्रापत कर लेने के उपरान्त पश्चिमी भारत के हिन्दु राजाओं ने, जिनमें दन्तिदुर्ग भी शामिल था उज्जयिनी के पुण्य स्थल पर हिरण्य गर्भ महादान महायज्ञ का अनुष्ठान किया था।

परंतु डा० शर्मा का यह निष्कर्ष तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अरबों के साथ हुए संघर्ष में नागभट्ट एवं दन्तिदुर्ग का सहयोग मात्र एक कल्पनाजन्य है इसके लिए कोई ठोस आधार नहीं है। युद्ध एवं यज्ञ में इन दोनों नरेशों का सहयोग उनकी महत्वाकांक्षा से मेल नहीं खाता। वस्तुत युवक राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग घोर महत्वाकांक्षी शासक था जिसने बादामी के चालुक्यों की दुर्बलता से लाभ उठाकर स्वतंत्र राष्ट्रकूट राजवंश की स्थापना की थी और सामनगढ़ लेख के अनुसार कांची, कलिंग, कौशल, मालव, लाट, टंक एवं सिन्ध के राजाओं को युद्ध में पराजित किया था। दूसरे प्रतीहार नरेश नागभट्ट ने भी मारवाड़ से मालवा होते हुए लाट अर्थात दक्षिण गुजरात तक अपनी अधिकार सीमा बढ़ा ली थी। अतः दोनों राजाओं की सीमाओं के मिलने पर इन दोनों के बीच संघर्ष अनिवार्य हो गया था क्योंकि लाट और मालवा के महत्वपूर्ण भू–खण्डों पर नागभट्ट का अधिकार था। फलतः बरार एवं आसपास के प्रदेशों में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के पश्चात राष्ट्रकूट नरेश ने मालवा एवं लाट पर आक्रमण दिया। इस प्रयास में उसे सफलता मिली और विजेता के रूप में दन्तिदुर्ग ने प्रतीहारों की नई राजधानी उज्जयिनी में प्रवेश किया। जहां उसने हिरण्यगर्भ महादान का अनुष्ठान करवाया और पराजित प्रतीहार नरेश नागभट्ट आदि की यज्ञशाला में प्रतीहार (द्वारपाल) का पद प्रदान किया। दशावतार लेख के अनुसार विजयी दन्तिदुर्ग ने गुर्जरेन्द्र के सुन्दर महल में निवास किया।

754 ई० के सामनगढ़ अभिलेख में दन्तिदुर्ग द्वारा लाट और मालव की विजय का उल्लेख अवश्य है, परन्तु जेसा कि हंसोट दानपत्र से स्पष्ट है, नागभट्ट का चाहमान सामन्त 756 ई० में लाट में शासन कर रहा था। अतः इस तिथि तक लाट पर राष्ट्रकूटों के अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। परनतु राष्ट्रकूट सामन्त कर्क द्वितीय के 757 ई० के अतरौली–कारौली अभिलेख के अनुसार उक्त तिथि 756-57 ई० में ही निर्धारित की जा सकती है। प्रतीहार एवं राष्ट्रकूटों के राजवंशों के दीर्घकालीन राजवंशों का यह प्रारम्भ था इसने आगे चलकर विकट रूप धारण कर लिया। इस संघर्ष के प्रथम चरण में ही प्रतीहारों को लाट का प्रदेश खो देना पड़ा और वहां पर राष्ट्रकूट सत्ता की स्थापना हो गयी।

नागभट्ट के उत्तराधिकारी: नागभट्ट प्रथम की मृत्यु के पश्चात उसके किसी अज्ञात नाम भाई का पुत्र कुकुस्थ अथवा कक्कुट उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके बारे में जानकारी का अभाव है। उसके पश्चात उसका छोटा भाई देवशक्ति जिसे देवराज भी कहते हैं, राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसके विषय में भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में बतलाया गया है कि उसने राजाओं के समूह और उसके पक्षधरों की गति को अवरुद्ध कर दिया था। उससे यह जान पड़ता है कि उसके शासन काल में प्रतीहार सत्ता पर बाह्य आक्रमणों का संकट बढ़ गया था किंतु वह अपने राजवंश की मर्यादा बनाए रखने में सफल रहा। कुकुस्थ एवं देवराज दोनों भाइयों ने मिलकर 760 ई० से 778 ई० तक शासन किया।

वत्सराज (लगभग 778 से 800 ई०)

देवराज की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र वत्सराज सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही वीर, साहसी तथा महत्वाकांक्षी शासक था। उसने न केवल अपने पूर्वकों के शासन को सुरक्षित बनाए रखने में वरन् विस्तार का भी प्रयत्न किया। अपने शासन काल में उसे अनेक युद्ध लड़ने पड़े जिनके संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं–

भंडि अथवा भट्टी जाति पर विजयः ग्वालियर अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि वत्सराज ने भंडि जाति [illegible] हस्ति सेना के कारण दुर्जेय समझी जाती थी उसके राज्य को दीन लिया। कुछ विद्वानों ने इस भंडि जाति को [illegible] भंडि का वंशज बताया है। किंतु अन्य विद्वानों ने भंडि जाति का समीकरण भट्टिवंश से किया है। जोधपुर अभिलेख से [illegible] ज्ञात होताा है कि प्रतिहार बाऊक की माता पद्मिनी भट्टी जाति की थी। इस प्रकार वत्सराज ने भण्डि [illegible] को परास्त कर गुर्जरात्र अथवा मध्य राजुपताना पर अपना अधिकार कर लिया।

कन्नौज पर आक्रमणः कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि वत्सराज ने कन्नौज पर भी आक्रमण कर दिया [illegible] नरेश इन्द्रायुद्ध को पराजित कर अपने प्रभाव में ले लिया था।

गौड़ नरेश से युद्धः कन्नौज विजय ने उसे उत्तरी भारत का सम्राट पद अवश्य प्रदान किया परतु शक्तिशाली [illegible] ताकत को खत्म किये बना इस विजय का कोई महत्व नहीं रह जाता था। गौड़ नरेश धर्मपाल भी उत्तरी भारत का सम्रा बनने का इच्छुक था। इन दोनों शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी राजाओं के बीच संघर्ष का मूल कारण कन्नौज [illegible] के आक्रामक वत्सराज ही प्रतीत होता है। उसने कन्नौज विजय के पश्चात् धर्मपाल से निपट लेना आवश्यक समझ [illegible] सम्राट गोविन्द तृतीय के वनिदिन्दोरी तथा राधनपुर ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि गौड़ राज्य की राज्यलक्ष्मी [illegible] अधिकार कर लेने के कारण वत्सराज मदान्ध हो रहा था और इस विजय से उसका यश व्याप्त हो रहा था। [illegible] राष्ट्रकूट शासक कर्क सुवर्णवर्ष के बड़ौदा ताम्रपत्र के अनुसार गौड़ एवं बंग दोनों राज छत्र छीन लेने के कारण गुजरेश वत्सरा फूला न समा रहा था। प्रतिहारों के शत्रु राष्ट्रकूटों के इन लेखों में वत्सराज की गौड़ नरेश पर विजय का उल्लेख अशुद्ध नहीं वरन् तथ्याचरित है जिसे किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

गौड़ों पर वत्सराज की विजय की पुष्टि पृथ्वीराज विजय महाकाव्य से भी होती है। इसके अनुसार वत्सराज के बाहमान सामन्त दुर्लभराज प्रथम ने गंगासागर में अपनी तलवार को स्नान करवाया था और गौड़ रक्षा का आस्वादन किया था। दुर्लभराज के गौड़ प्रदेश में प्रवेश अपने सम्राट वत्सराज के साथ ही सम्भव हो सकता था। मजूमदार आदि विद्वानों ने इस प्रशस्ति को कवि इसके साक्ष्य को स्वीकार नहीं करते। परन्तु राष्ट्रकूट साक्ष्यों के साथ इसे मिलकाकर देखने के बाद इस कथन की सत्यता में संदेह नहीं रह जाता है। इस युद्ध में वत्सराज की सहायता जोधपुर के उसके प्रतीहार सामन्तों ने की थी। यह सम्भ है कि विजयी प्रतीहार सम्राट ने समस्त गौड़ देश को न रौंदा हो पर उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर उसके [illegible] राज्य की सीमा में प्रवेश और धर्मपाल पर उसकी विजय से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रकूटों से संघर्षः कन्नौज एवं गौड़ की विजय से उत्साहित होकर वत्सराज फूला नहीं समा रहा था [illegible] विजय से उत्तरी भारत का शक्ति संतुलन बिगड़ गया, जिससे अपने राज्य की सीमा से लगे होने के कारण राष्ट्रकूट [illegible] भी नहीं रह सकते थे। वस्तुतः दन्तिदुर्ग के समय में भी प्रतीहारों की शक्ति पर अंकुश लगाने का सफल प्रयास हुआ [illegible] अब जब वत्सराज पालों को पराजित कर उत्तरी भारत का एक शक्तिशाली सम्राट बन गया था तो तत्कालीन राष्ट्रकू सम्रा ध्रुव के लिए यह नया राजनीतिक परिवर्तन असहनीय हो उठा। साथ ही संघर्ष का एक कारण और भी था [illegible] गोविन्द द्वितीय के साथ हुए उसके उत्तराधिकार के युद्ध में अवन्ति नरेश वत्सराज ने उसके बड़े भाई के साथ सहयोग किया था। अतः दक्षिण में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के पश्चात अपने शत्रु प्रतिहार सम्राट से बदला लेने की भावना [illegible] में जोर पकड़ने लगी। इन परिस्थितियों में वत्सराज एवं ध्रुव के बीच संघर्ष आवश्यक हो गया और शीघ्र ही राष्ट्रकू [illegible] ने उत्तर भारत की ओर कूच कर दिया। गोविन्द तृतीय ने बनिदिन्दोरी तथा राधनपुर दान पत्रों से ज्ञात होता [illegible] ध्रुव ने वत्सराज को युद्ध में पूर्ण रूप से पराजित किया और उसे राजस्थान के मरुस्थल के भूखण्ड में शरण लेने के [illegible] विवश किया। साथ ही उसने प्रतीहार नरेश के वे दोनों राजछत्र भी छीन लिए जिन्हें वत्सराज ने धर्मपाल को [illegible] किया था। जान पड़ता है कि जिस समय विजयी प्रतिहार सम्राट इन दो राजछत्रों के लिए हुए गौड़ देश से [illegible] में आ रहा था उसी समय ध्रुव ने उसे मार्ग में घेर लिया। इस आकस्मिक स्थिति का सामना करने के लिए [illegible] नहीं था और ध्रुव से पराजित होकर उसे मैदान छोड़कर अपने पैतृक राज्य गुर्जरत्रा की ओर भागना पड़ा [illegible] विजय सूचक राजछत्र तो उसके हाथ से छिन ही गये, साथ ही उसकी प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात पहुंचा। [illegible] राष्ट्रकूटों के संघर्ष का यह दूसरा चरण था जिसमें प्रतीहारों की पराजय की पुनरावृत्ति हुई थी। इस पराजय के [illegible] के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। सम्भवतः 800 ई० के आसपास उसकी मृत्यु हो गयी।

नागभट्ट द्वितीय (लगभग 800-833 ई०)

नागभट्ट वत्सराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसकी माता का नाम सुन्दर देवी था। उसकी सर्वप्रथम ज्ञात तिथि 815 ई० है जो उसके बुचकुला अभिलेख पर अंकित है। परंतु यह तिथि उस समय की है जब वह कन्नौज का सम्राट बनकर 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'महाभट्टारक' की सम्राट सूचक उपाधियां धारण कर चुका था अतः उसके राज्यारोहण की तिथि इससे बहुत पहले होनी चाहिये। चूंकि राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय के साथ उसका संघर्ष 802 ई० के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। अतः इसे ध्यान में रखते हुए उसके राज्यरोहण की तिथि 800 ई० के आसपास रखी जा सकती है।

प्रारम्भिक कठिनाइयां: राष्ट्रकूटों से संघर्ष उसे अपने पिता से विरासत में मिला था। यद्यपि यह संघर्ष पैतृक हो चला था और राष्ट्रकूट सम्राट ध्रुव ने इसके पिता वत्सराज को युद्ध में करारी हार देकर प्रतीहारों के गौरव को प्रायः नष्ट कर दिया था और कुछ समय के लिए उत्तरी भारत का सम्राट पद उसके हाथ से छिन गया था। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि प्रतीहारों ने इस पराजय से साहस नहीं छोड़ा और अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त करने में वे पुनः जुट गये। वत्सराज की मृत्यु के पश्चात शासन की बागडोर जब युवक नरेश नागभट्ट द्वितीय के हाथों में आ गयी तो प्रतीहारों में एक चेतना तथा उत्साह का संचार हुआ। इस बीच उत्तरी भारत की स्थिति में भी पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था और उत्तरी भारत के राजनीतिक रंगमंच से वत्सराज के हटते ही उत्तरी भारत की राजधानी कन्नौज पर पाल सम्राट धर्मपाल ने अपना अधिकार स्थापित कर वत्सराज द्वारा नियुक्त कन्नौज के शासक इन्द्रायुद्ध को हटाकर उसके स्थान पर अपनी अधीनता में चन्द्रायुद्ध नामक व्यक्ति को कन्नौज का शासक नियुक्त कर दिया था साथ ही उत्तरी भारत विजय के उपरान्त कन्नौज में एक राजदरबार का आयोजन कर उसमें उत्तरी भारत के अनेक राजाओं को आमंत्रित कर उसने अपने सम्राट पद की तथा अपने अधीन कन्नौज के शासक के रूप में चन्द्रायुद्ध की नियुक्ति की विधिवत घोषणा कर दी। अतः प्रारम्भ में ही नागभट्ट के सम्मुख पालों की आक्रामक नीति की यह जटिल समस्या थी। इस समस्या के समाधान में ही प्रतीहारों के गौरव की पुनः स्थापना संभव थी। दूसरी तरफ दक्षिण में राष्ट्रकूट सम्राट ध्रुव की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र गोविनद तृतीय सिंहासन पर बैठा था। वह अपने पिता से अधिक महत्वाकांक्षी सम्राट था अतः नागभट्ट को एक साथ दो--दो महत्वाकांक्षी सम्राटों से संघर्ष करना पड़ा। अतः पाल नरेश धर्मपाल से लड़ने तथा सम्राट पद पुनः प्राप्त करने के प्रयास में नागभट्ट द्वितीय ने अपनी शक्ति को संगठित करना आरम्भ किया। इस कार्य में उसे सर्वाधिक बाधा राष्ट्रकूटों से अपेक्षित थी क्योंकि अपने राज्य की सीमा पर प्रतीहार राज्य का संगठन उन्हें आरम्भ से ही असह्य था।

राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष: राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष तो नागभट्ट के राज्यारोहण के काल से ही प्रारम्भ हो गया लगता है और यह संघर्ष लम्बे अरसे तक निरंतर चलता रहा। प्रारम्भ में संघर्ष की अनिर्णायक स्थिति के कारण दोनों पक्ष अपनी अपनी विजय का गुणगान करते हैं। नागभट्ट द्वितीय के काठियावाड़ के सामन्त बारूकधवल ने कर्णाट की सेना पर विजय प्राप्त की थी जिसका उल्लेख उसके पौत्र बलवर्मा के एकलेख से प्राप्त होता है। गद्दी पर बैठने के बाद शीघ्र ही गोविन्द तृतीय दक्षिण भारत के अपने दीर्घकालीन अभियान में जुट गया था। अतः उसकी अनुपस्थिति में प्रतीहारों के विरुद्ध आक्रमणों के संचालन के लिए उसने भाई इन्द्र को लाट तथा दक्षिण गुजरात का शासक बना दिया था। कर्णसुवर्णवर्ष के बड़ौदा दान पत्र से ज्ञात होता है कि उसके पिता इन्द्र ने अकेले ही गर्जरेश को युद्ध में पराजित कर दिया था। गोविन्द तृतीय के शासन काल में सीमावर्ती राष्ट्रकूट संघर्ष 802 ई० के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। यह तिथि इस बात की सूचक है कि नागभट्ट एवं गोविन्द तृतीय के शासन काल में सीमावर्ती प्रतीहार राष्ट्रकूट संघर्ष 802 ई० के पूर्व से ही प्रारम्भ हो गया था। 805 ई० के नोसारी दान पत्र 807 ई० के सिक्के दान पत्र से भी इस संघर्ष की पुष्टि होती है। इस काल में भी संघर्ष का फल साधारणतया प्रतीहारों के प्रतिकूल ही जान पड़ता है।

कन्नौज विजय: इस समय कन्नौज पर चक्रायुद्ध का अधिकार था जो पाल नरेश धर्मपाल के अधीन शासन कर रहा था। ग्वलियर प्रशस्ति के अनुसार उसने दूसरों पर आश्रित रहने के कारण नीच भाव वाले चन्द्रायुद्ध को पराजित किया। इस प्रकार नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। ऐसा जान पड़ता है कि इसी समय नागभट्ट ने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर कन्नौज नगर में स्थापित की। कालंजर मण्डल में उस समय का दिया हुआ बलाकाग्रहार का दान उत्तरी भारत पर उसके अधिकार का द्योतक है। उत्तरी भारत की राजधानी कन्नौज नगर पर अधिकार हो जाने से प्रतिहारों की शक्ति और प्रतिष्ठा में बहुत बड़ी वृद्धि हुई।

धर्मपाल की पराजयः उत्तरी भारत में नागभट्ट का मुख्य प्रतिद्वंद्वी धर्मपाल था जो प्रतीहार नरेश की इस बढ़ती हुई शक्ति से उदासीन नहीं रह सकता था। वस्तुतः राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव द्वारा प्रतीहार नरेश वत्सराज की पराजय से लाभ उठाकर धर्मपाल ने कन्नौज पर अधिकार स्थापित कर लिया था और चक्रयुद्ध को वहां का शासक नियुक्त कर अपने अधीन कर लिया था। चक्रायुद्ध की पराजय तथा नागभट्ट के कन्नौज पर अधिकार के कारण उसे विवश होकर मैदान में उतरना पड़ा। नागभट्ट ने उसे भी तैयारी का अवसर दिये बिना पाल राज्य पर आक्रमण कर दिया। ग्वालियर प्रशस्ति लेख के अनुसार जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य घने अधकार को चीरता हुआ उदित होकर दिशाओं को प्रकाशमान कर देता है, उसी प्रकार विशाल रथ एव अश्व सेना के कारण सघन बादल पुंज की भांति प्रतीत होने वाले अपने शत्रु बंग नरेश को पराजित कर सभी को सुखी बनाने वाले नागभट्ट का आविर्भाव हुआ।

नागभट्ट एवं धर्मपाल के बीच यह युद्ध सम्भवतः मुंगेर में हुआ। जोधपुर क प्रतीहार शासक बाउक क 837 ई० के जोधपुर अभिलेख के अनुसार उसके पिता कवक ने गौड़ों के साथ मुद्गिरी के युद्ध में विजय प्राप्त कर यश अर्जित किया था। यह प्रतीहार शासक नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था। नागभट्ट द्वितीय का दूसरा सामन्त गहलोत शंकरगण था जिसने धर्मपाल के साथ हुए युद्ध में अपने स्वामी का साथ दिया था। गहलोत बालादित्य के चाटसू अभिलेख का इस सम्बन्ध में कहना है कि गहलोत शंकरगण ने गौड़ नरेश को युद्ध में पराजित किया और समस्त देश को जीतकर उसे अपने स्वामी के अधीन बनाया। दक्षिण काठियावाड़ के चालुक्य सामन्त बाहुक धवल ने भी धर्मपाल को पराजित करने का दावा किया है। धर्मपाल पर नागभट्ट की विजय ने उसे उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिमान सम्राट बना दिया और उसके द्वारा कन्नौज पर प्रतीहार विजय की पुष्टि हो गयी। इस प्रकार उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने की होड़ में अंत में प्रतीहारों को सफलता मिली और पालों को पूर्वी भारत पर ही अधिकार करके संतोष करना पड़ा। यद्यपि प्रतीहारों के इस प्रयत्न में राष्ट्रकूटों ने विघ्न डालने की निरन्तर चेष्टा की परंतु वे भी उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति से रोक नहीं सके।

मुसलमानों से युद्धः इस बात के भी अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि नागभट्ट द्वितीय ने पश्चिम भारत के मुसलमानों को पीछे धकेलने में सफलता प्राप्त की थी। ग्वालियर अभिलेख के तुरुष्कों अर्थात तुर्कों की नागभट्ट द्वारा पराजय का उल्लेख मिलता है। पृथ्वीराज विजय नामक ग्रंथ के अनुसार चाहमान गोविन्द राज (गुवक प्रथम) ने सुल्तान वेग वरिस को परास्त कर दिया था। गोविन्दराज नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था और सुल्तान वेग वरिस (बसर) सिन्धु में खलीफा का गवर्नर था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने प्रतीहार राज्य पर आक्रमण कर दिया था, किन्तु गोविन्दराज ने उसे मार भगाया।

खुमानरासो नामक ग्रंथ से भी हमें ज्ञात होता है कि खुमान गुहिल ने मुसलमानों को परास्त किया। खुमान गुहिल भी नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि इसने भी मुसलमानों को सामने आकर अपने स्वामी नागभट्ट द्वितीय की सहायता की थी।

चौहान वंश पर प्रभुत्वः ऐसा प्रतीत होता है कि नागभट्ट द्वितीय ने चाहमान वंश पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसका प्रमाण यह है कि विग्रहराज चौहान के हर्ष अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि उसके एक पूर्वज गूवक प्रथम ने नागावलोक सभा में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। चूंकि नागावलोक का समीकरण नागभट्ट द्वितीय के साथ किया गया है अतएव गूवक प्रथम नागभट्ट द्वितीय का सामन्त रहा होगा। पृथ्वीराज विजय से हमें ज्ञात होता है कि चाहमान गूवक प्रथम ने अपनी बहन कलावती का विवाह कन्नौज नरेश के साथ कर दिया था। यह कन्नौज नरश नागभट्ट द्वितीय ही प्रतीत होता है।

अन्य विजयेंः मिहिर भोज के ग्वालियर प्रशस्ति अभिलेख में हमें उसकी अन्य विजयों का भी पता लगता है। इस अभिलेख के अनुसार उसने आनर्त (उत्तरी काठियावाड़) मालवा (मध्य भारत) किरात (कोई हिमालय का प्रदेश) तुरुष्क (पश्चिमोत्तर भारत का मुस्लिम राज्य) वत्स, कौशाम्बी, मत्स्य आदि पर बलपूर्वक अपना अधिकार कर लिया।

ग्वालियर प्रशस्ति में यह भी लिखा है "जिस प्रकार पतंगे अग्नि में आकर गिरते हैं उसी प्रकार आंध्र, सिन्धु, विदर्भ और कलिंग के राजा नागभट्ट द्वितीय की शरण में आए।" इस शरण में आने का डा० अल्तेकर, डा० पुरी तथा डा० त्रिपाठी ने भिन्न भिन्न अर्थ लगाया है।

डा० अल्तेकर के मतानुसार शरण में आने का यह तात्पर्य है कि उपर्युक्त सभी राज्यों के नरेशों ने, जिनमें सिन्ध का मुसलमान राजा भी सम्मिलित था, चक्रयुद्ध तथा धर्मपाल के विरुद्ध नागभट्ट के साथ सहयोग किया था।

डा० पुरी के अनुसार शरण में आने का अर्थ है कि उपर्युक्त राज्यों के नरेशों ने राष्ट्रकूटों तथा पालों के विरुद्ध नागभट्ट की सहायता की थी।

जबकि त्रिपाठी के अनुसार शरण में आने का यह अर्थ है कि उपर्युक्त राज्यों के नरेशों ने अपने–अपने शत्रुओं अर्थात राष्ट्रकूटों तथा पालों तथा मुसलमानों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए नागभट्ट द्वितीय क ओर आकृष्ट हुए थे।

चाहे जो कुछ भी रहा हो उपयुक्त व्याख्या से यही आभास होता है कि उपयुक्त तीनों राज्यों के नरेशों के साथ नागभट्ट द्वितीय का मैत्री संबंध स्थापित हो गया था और वे उसके प्रभाव में आ गये थे।

मृत्युः जैन आचार्य चन्द्रप्रभ सुरी के प्रभावक–चरित् के अनुसर नागभट्ट द्वितीय ने स० 890 ई० भाद्रपद शुक्ल पक्ष की पंचमी (अगस्त 23, 833 ई०) पवित्र गंगाजल में समाधि लेकर अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। नागभट्ट द्वितीय ने अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना की थी, परन्तु जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित होते हुए उसने उसके पैतृक धर्म का परित्याग नहीं किया और भगवती देवी का उपासक बना रहा था।

रामभद्र (लगभग 823 से 835 ई०)

रामभद्र नागभट्ट द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसे राम या रामदेव के नाम से भी जाना जाता है। उसकी माता का नाम महारानी इष्टदेवी था। वह सूर्य का उपासक था। उसका शासन काल अति अल्पकालीन था।

ऐसा जान पड़ता है कि उसके शासन काल में प्रतीहार पर कोई घोर संकट उपस्थित हो गया था क्योंकि ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार इसने कुशल अश्वरोही सेना युक्त अपने सामंतों की सहायता से उधत एवं सेनापतियों को बलपूर्वक बंधवा लिया। आर.सी. मजूमदार इन शत्रुओं की एकरूपता पालों से स्थापित करते हैं। सम्राट भोज के वराह ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि नागभट्ट द्वितीय के समय में दिये हुए कालंजर मण्डल के अन्दर स्थित बालाकाग्रहहार के दानपत्र का नवीनीकरण रामभद्र के शासन काल में नहीं हो पाया था अतः भोज ने 836 ई० में पुनः इसका नवीनीकरण किया। इस अग्रहार दान के नवीनीकरण न हो सकने का कारण वहां से सम्बन्धित कर्मचारी का दोष बताया है। परन्तु नवीनीकरण का अभाव उक्त क्षेत्र में राजनीतिक अशान्ति का द्योतक भी है। यह राजनीतिक अशांति प्रतीहार साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर पालों के आक्रमण के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। क्योंकि बादल स्तम्भ लेख के अनुसार पाल सम्राट देवपाल विंध्यापर्वत माला तक के प्रान्तों को आक्रांत करने का दावा करता है।

इसके शासन काल की अशांति का द्योतक दूसरा प्रमाण गुर्जरत्रा भूमि के अन्तर्गत दौलतपुरा दानपत्र के नवीनकरण का अभाव है। यह दान प्रारम्भ में वत्सराज ने दिया था, जिसका नवीनीकरण रामभद्र द्वितीय ने तो किया, परंतु यह कार्य रामभद्र के शासन काल में नहीं हो पाया था। सम्राट भोज ने इसका भी नवीनीकरण 843 ई० में किया था। गुर्जरत्रा प्रदेश की अशान्ति का कारण जोधपुर के प्रतीहारों का उपद्रव या विद्रोह हो सकता है। इस प्रकार कालंजर मण्डल एवं गर्जरात्र भूमि की राजनीतिक अशांतियां रामभद्र की दुर्बलता का परिचायक प्रतीत होती है।

मिहिरभोज या भोज (835 से 885 ई०)

भोंज रामभद्र का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था उसकी माता का नाम अप्पादेवी था। यद्यपि उसका अधिक प्रचलित नाम भोज था परन्तु उसकी ग्वालियर प्रशस्ति में एवं राष्ट्रकूटों के वेगुमरा ताम्रपत्र में इसका नाम मिहिर भी प्राप्त होता है। दौलपुर ताम्रपत्र में मिहिर के प्रभांस नाम भी मिलता है। ग्वालियर के चतुर्भुज लेख एवं सिक्कों पर इसकी उपाधि आदिवराह भी मिलती है परंतु साथ ही इस बात की भी सम्भावना है कि जिस प्रकार विष्णु ने अपने वराह अवतार में पृथ्वी का उद्धार किया था, उसी प्रकार यह उपाधि उसके द्वारा प्रतीहार साम्राज्य के पुनरुद्धार की सूचक हो। वैसे वह अपने पिता की भांति भगवती का उपासक था।

साम्राज्य का पुनर्गठनः गद्दी पर बैठने के साथ ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु उसने बड़े धैर्य एवं गम्भीरता के साथ इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की और सम्भावित विघटन से साम्राज्य की रक्षा की। इसके पिता के दुर्बल शासन काल में नवस्थापित प्रतीहार साम्राज्य में घोर राजनीतिक अशान्ति उत्पन्न हो गयी थी। पूर्व दिशा से प्रतीहारों के पैतृक शत्रु पालो का दबाव बढ़ता जा रहा था। वे धर्मपाल के शासन के अंतिम दिनों में नागभट्ट द्वितीय द्वारा उत्तरी भारत के अधिकार

से वंचित कर दिये गये थे। परतु इस नयी स्थिति से वे समझौता नही कर सके थे। अत. जब देवपाल गद्दी पर [illegible] उसने बिहार, बंगाल, उत्कल आदि में अपनी स्थिति सुदृढ कर लेने के पश्चात् प्रतीहारो स अपना पुराना हिसाब चुक [illegible] करने का प्रयास आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप प्रतीहार राज्य की पूर्वी सीमा की राजनीतिक गतिविधि तीव्र हो उठी [illegible] अशान्ति का केन्द्र बन गया।

साम्राज्य का पूर्व क्षेत्र ही अशान्ति का केन्द्र नहीं रहा, वरन् प्रतीहारों के पैतृक प्रदेश गुर्जरत्रा में भी राजनीतिक अशान्ति छाई हुई थी। साम्राज्य का यह पश्चिमी प्रदेश जोधपुर के प्रतीहारों के अधीन था। जान पड़ता है कि रामभद्र की दुर्बलता का लाभ उठाकर इन्होंने भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विद्रोह कर दिया था। भोज ने गद्दी पर बैठते ही इन सबकी ओर ध्यान दिया उसने तत्काल इन प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित किया तथा अग्रहार के दान का नवीनीकरण भी किया।

पालों के साथ युद्धः प्रतीहार साम्राज्य की आन्तरिक अशान्ति तथा दुर्व्यवस्था को दूर कर तथा सामन्तो को स्वामिभक्त [illegible] आश्वसत होकर भोजन ने अपने वंश के पैतृक शत्रु पालो की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उसका समकालीन पाल सम्राट देवपाल था जो धर्मपाल की ही भांति महत्वाकांक्षी एवं शक्तिमान था और उसी के समान पाल साम्राज्य के विस्तार के लिए कृत संकल्प था। बादल स्तम्भ लेख के अनुसार अपने प्रथम मंत्री दर्पपाणी की कुशल नीति के द्वारा उसने विंध्य हिमाचल एवं दीना जलनिधि तक समस्त देश को करद बनाया। मुंगेर ताम्र पत्र के अनुसार देवपाल का राज्य काफी विस्तृत था अत भोज को गद्दी पर बैठने के पश्चात दोनों सम्राटों में संघर्ष होना अनिवार्य था। इस संघर्ष के प्रारम्भिक चरण में सम्भवत सफलता भोज को ही प्राप्त हुई। कहला दानपत्र के अनुसार भोज के गोरखपुत्र क्षेत्र के कलचुरी सामत गुणाम्बोधि देव ने इस संघर्ष में अपने स्वामी का साथ दिया और गौडों को श्रीविहिन करने में सफलता प्राप्त की। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भोज ने अपने साम्राज्य की पूर्वी सीमा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर पालो के पश्चिमी बढ़ाव को रोक लिया।

कुछ समय के लिए पाल प्रतीहार संघर्ष स्थगित अवश्य हो गया, परन्तु इससे उनके पुश्तैनी संघर्ष का अन्त नहीं हुआ। बादल स्तम्भ लेख से हमें यह भी ज्ञात होता है कि देवपाल के मुख्यमंत्री दर्पपाणी के पौत्र केदार मिश्र के परामर्श से देवपाल ने गर्जरनाथ के दर्प को खण्डित किया। चूंकि इस सफलता का श्रेय दर्पपाणी के पौत्र को दिया गया है अत यह घटना देवपाल के शासनक के अतिम वर्षो में होनी चाहिये। चूंकि इस लेख में गुर्जरनाथ के दर्प मात्र को खण्डित करने का उल्लेख है भग इसे सीमावर्ती युद्ध के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिससे भोज को राज्य सबधी क्षति नहीं उठानी पडी

देवपाल की मृत्यु के बाद शूरपाल, विग्रहपाल प्रथम तथा नारायणपाल जैसे शौर्यहीन शासक गौड़ राज्य के उत्तराधिकारी हुए उनके दुर्बल शासन काल में भोज को अपना पुरान हिसाब चुकता करने का अवसर मिला। उसी समय पाल मगध राष्ट्रकूट आक्रमण से भी पीड़ित थे और गौड़ राज्य में आंतरिक अशांति भी छाई हुई थी। भोज के लिए यह बडा अच्छा अवसर था अतः बहुत सम्भव है कि उसने पूर्व की ओर अपनी सीमा बढ़ाने का प्रयास किया है। बिहार प्रान्त से नारायणपाल का कोई लेख उसके शासन के 17वें तथा 54वें वर्ष (871-908 ई०) के बीच का नहीं मिला है जो सम्भवतः इस प्रदेश में [illegible] में पाल सत्ता की समाप्ति का द्योतक है। इस काल में 871 ई० से 885 ई० तक भोज के साथ उसकी समकालीनता [illegible] अतः सम्भव है कि इस काल में इस क्षेत्र में पाल प्रतीहार संघर्ष हुआ हो और पालो को पराजित होकर पीछे [illegible] हो। इस संघर्ष का अन्त भोज के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल प्रथम के शासन काल के आरम्भ में हो चुका था जिसके फलस्वरूप समस्त मगध एवं उत्तरी बंगाल प्रतीहार साम्राज्य में मिलाए जा चुके थे अतः इसमें कोई आतिशयोक्ति नहीं होगी कि विजय के फलस्वरूप पाल साम्राज्य की पश्चिमी सीमा के कुछ भाग भोज के समय में ही प्रतीहारों के अधीन हो गये हों और विलय या शेष कार्य उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने पूरा किया हो।

दक्षिणी पश्चिमी सीमा अभियानः प्रतीहार सम्राट महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख में सम्राट भोज के दक्षिण पश्चिम अभियान का संकेत मिलता है। इस लेख के अनुसार दक्षिणी राजस्थान का एक चाहमान वश जो उत्तर क्षेत्र में [illegible] रहा था, महाराज भोजदेव के रंजन का स्त्रोत था। इस लेख में भोजदेव प्रतीहार सम्राट भोज है, इस सभी विद्वान सहमत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के दक्षिण पश्चिम अभियान में प्रतीहार नरेश को इस स्थानीय राजपरिवार से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। यह परिवार सम्भवतः शाकम्भरी के चाहमान परिवार से संबंधित था जो न केवल भोज के सामन्त के रूप में वहां शासन कर रहा था, बल्कि परिवार की मुख्य शाखा की राजकुमारी कलावती का विवाह भी भोज से [illegible]

या बहुत सम्भव है कि उस क्षेत्र में शासन सुदृढ़ करने के लिए भोज ने प्रतापगढ़ में इस परिवार की स्थापना की और सम्भवतः इस वंश के संस्थापक गोविन्दराज ने इस अभियान में अपने सम्राट को पूरी सहायता प्रदान कर उसका अनुग्रह प्राप्त किया उसकी सहायता से भोज ने दक्षिणी राजस्थान से नर्मदा नदी के किनारे तक दक्षिणी मालवा के प्रतीहार शासन को सुदृढ़ एवं सुसंगठित किया जिसके फलस्वरूप यह भू–भाग कम से कम महेन्द्रपाल के शासन काल तक साम्राज्य का अंग बना रहा।

मालवा में अपना शासन स्थापित करने के पश्चात भोज ने सौराष्ट्र या काठियावाड़ की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। स्कन्ध पुराण के प्रभाव–खण्ड के एक अध्यान में वस्त्रापथ महामात्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए गिरनार (वस्त्रापथ) के पवित्र स्थान का उल्लेख किया गया है। उसी प्रसंग में कन्नौज के सम्राट भोज को सौराष्ट्र का शासक बतलाया है और उसके द्वार वहां पर एक वनपाल की नियुक्ति एवं सौराष्ट्र में एक सेना भेजने का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः यह भुखण्ड नागभट्ट द्वितीय के समय से ही प्रतीहार साम्राज्य के अधीन चला आ रहा था। भोज ने केवल उस प्रदेश पर शासन को सुदृढ़ एवं संगठित किया।

राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष: साम्राज्य के दक्षिण पश्चिमी भाग को सुसंगठित करने का मुख्य कारण उस प्रदेश में प्रतीहार सत्ता को सुदृढ़ बनाना था जिससे दक्षिण की ओर से राष्ट्रकूटों के आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा हो सके। अरब लेखकों के अनुसार प्रतीहारों को राष्ट्रकूट आक्रमण से अपने राज्य के दक्षिण भाग की रक्षा के निमित उस क्षेत्र में एक शक्तिशाली सेना रखनी पड़ती थी। संयोगवश भोज का समकालीन राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम या उसका उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय शक्तिमान व महत्वाकांक्षी शासक नहीं रहे जिससे भोज को अपने साम्राज्य के इस भाग के संगठन में उसकी ओर से किसी प्रकार का आक्रामक हस्तक्षेप का सामना नहीं करना पडा। परन्तु जब भोज ने संगठन का कार्य पूरा कर लिया तो उसने अपने वंश के पुराने शत्रु राष्ट्रकूटों की ओर ध्यान दिया जिसके फलस्वरूप नर्मदा के दक्षिण में स्थित राष्ट्रकूट साम्राज्य के साथ उसका संघर्ष अनिवार्य हो गया। गुजरात के राष्ट्रकूट शासक ने जो मान्यखेट के चक्रवर्ती राष्ट्रकूटों से संबंधित था गुर्जरों की विशाल सेना को सफलतापूर्वक युद्ध में पराजित कर भगा दिया था। ऐसा बेगुमरा दानपत्र अभिलेख से पता चलता है।

डा० त्रिपाठी बेगुमरा दानपत्र के इस विवरण को अनावश्यक रूप से महत्व देते हैं। उनका अनुमान है कि भोज की यह पराजय सम्राट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा हर्ष की पराजय की याद दिलाती है। लेकिन इसी लेख के अनुसार भोज सभी दिशाओं में विजय कर चुका था और सब प्रकार से साधन सम्पन्न था इसलिए यह लेख सिवाय प्रशस्ति के कुछ प्रतीत नहीं होता।

इससे पूर्व राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम तथा गुजरात के राष्ट्रकूट शासक आपस में लड़ते चले आ रहे थे। फलतः वे भोज द्वारा अपनी दक्षिणी सीमा पर संगठन में हस्तक्षेप करने में असमर्थ रहे। परन्तु प्रतीत होता है कि भोज के इस संगठन कार्य से भयभीत होकर उन्होंने आपसी युद्ध समाप्त कर शत्रु की ओर ध्यान दिया। आश्चर्य की बात नहीं कि सम्राट अमोघवर्ष ने भी प्रतीहारों का आतंक रोकने के लिए ध्रुव द्वितीय की सहायता की हो। बात जो भी हो परन्तु सीमावर्ती कलह को न तो भोज का आक्रमण कहा जा सकता है और न ही इस संघर्ष के परिणाम को राष्ट्रकूटों द्वारा प्रतीहार सम्राट की घोर पराजय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

भावनगर के खण्डित अभिलेख के अनुसार भोज ने अपने शासन के अंतिम वर्षों में किसी समय तीन लोकों को जीतने की अभिलाषा से राष्ट्रकूटों को आक्रांत कर दिया और इस अभियान में तत्कालीन राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण द्वितीय को पीछे हटने पर विवश किया। दुर्भाग्यवश लेख खण्डित होने के कारण इस संघर्ष का पूरा विवरण प्राप्त नहीं होता है। दूसरी राष्ट्रकूट सम्राट इन्द्र तृतीय के 915 ई० के बेगुमरा लेख के अनुसार गर्जन करने वाले गुर्जरों के साथ उसके पिता कृष्ण द्वितीय ने शौर्य और वीरता का परिचय दिया था। इन दोनों परस्पर विरोधी विवरणों से यही प्रतीत होता है कि सम्राट भोज ने अपने जीवन के आखिरी दिनों में राष्ट्रकूटों के साथ एक बार पुनः युद्ध किया था लेकिन यह युद्ध परिणाम रहित रहा। इस प्रकार प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों का यह संघर्ष उनकी सीमाओं तक ही सीमित रहा।

उत्तरी अभियान: भोज ने उत्तर पश्चिम की ओर अपनी साम्राज्य सीमा बढ़ाई और पंजाब का पूर्वी भाग अर्थात् आधुनिक हरियाणा उसके उत्तराधिकार में आ गया। हरियाणा के कैथल जिले में पेहवा नामक स्थान से 882 ई० का एक लेख प्राप्त हुआ है जो उसके शासन के अन्तिम काल का है। इस लेख में पृथुदक (पेहवा) की सभा द्वारा एक धार्मिक अनुदान दिये जाने का उल्लेख है। इस मेले में घोड़ा का क्रय मुख्यतः राज्य द्वारा होता है। इस बात से पता चलता है कि प्रतीहार सम्राट अपनी हस्ति–सेना क साथ–साथ अश्व सेना पर भी ध्यान देते थे। इस तथ्य की पुष्टि अरब सौदागर सुलेमान भी करता है वह कहता

है कि प्रतीहारों की अश्व–सेना किसी अन्य भारतीय सेना की अश्वसेना नहीं थी। उपर्युक्त अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस भाग पर प्रतिहारों का अधिकार था।

महेन्द्रपाल प्रथम (लगभग 885 से 910 ई०)

महेन्द्रपाल महारानी चन्द्रभट्टारिका देवी से उत्पनन सम्राट भोज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों में इसके अनेक नाम प्राप्त होते हैं। अभिलेखों में महेन्द्रपाल के अतिरिक्त महेन्द्रायुद्ध और महीपाल देव एवं महाकवि राजशेखर के नाटकों में निर्भयराज एवं निर्भय–नरेन्द्र नाम मिलते हैं। सम्राट भोज के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसके उत्तराधिकार के समय प्रतीहार साम्राज्य अपने उत्कर्ष की सीमा पर पहुंच चुका था। साम्राज्य की सीमा सुरक्षित और उसका गौरव आकाश चूमता था। वस्तुतः किसी भी महत्वाकांक्षी शासक के लिए ये परिस्थितियां सर्वथा अनुकूल थी और महेन्द्रपाल ने सिंहासन पर प्राप्त इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और अपनी सफलताओं से उसने साम्राज्य के गौरव में चार चांद लगा दिये।

पालो की पराजयः देवपाल की मृत्यु के बाद से ही पाल साम्राजय दुर्बल होता जा रहा था। गद्दी पर बैठने के बाद महेन्द्रपाल ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए अपने इन पैतृक शत्रुओं के साथ संघर्ष जारी रखा। उसके सौभाग्य से इसका समकालीन नरेश नारायण पाल निर्बल था और उसकी सैनिक कुशलता नगण्य थी। महत्वाकांक्षी महेन्द्रपाल ने उसकी इस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया जिसके फलस्वरूप प्रतीहार साम्राज्य की सीमा क्रमशः पूर्व की ओर बढ़नी प्रारम्भ हो गयी। उसके शासन काल के दूसरे वर्ष का ब्रिटिश म्यूजिम अभिलेख बिहार नामक स्थान से पाया जो इस बात का द्योतक है कि इस समय तक मगध का यह भाग प्रतीहार साम्राज्य में सम्मिलित था। बिहार शरीफ से उसके दो और लेख प्राप्त हुए हैं जो उसके शासन के चौथे वर्ष के हैं। उसके शासन काल के पंचम वर्ष का एक लेख बंगाल के राजशाही जिला के पहाडपुर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त गया जिले में रामगया अभिलेख इसके शासन के आठवें वर्ष का तथा इसी जिले में स्थित गुनेरिया नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख उसके शासन के नौवे वर्ष का है। इन अभिलेखों के प्राप्ति स्थान इस बात के सूचक हैं कि प्रायः समस्त मगध एवं उत्तरी बंगाल महेन्द्र पाल के शासन के पांचवे वर्ष के भीतर ही उसके अधिकार में आ गये थे। सम्भवतः इस दिशा में राज्य विस्तार का कार्य भोज के समय में ही प्रारम्भ हो गया था और उसकी चरम परिणति महेन्द्रपाल के शासन काल में हुई। नवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मगध एवं उत्तरी बंगाल में पाल अभिलेखों का अभाव निश्चित रूप से इस तथ्य का परिचायक है कि इन प्रान्तों में पालों का अधिकार इस काल में समाप्त हो चुका था। इस प्रकार प्रायः एक शताब्दी पूर्व प्रतीहार एवं पालो के बीच उत्तरी भारत के अधिपत्य के लिए जिस प्रकार संघर्ष का प्रारम्भ हुआ था इसका अन्त पालों की पराजय में हुआ और उत्तरी भारत के साम्राज्य की कामना करने वालों पालो का राज्य बंगाल के कुछ भाग में सिमट कर रह गया और इस प्रकार उत्तरी भारत में प्रतीहारों की धाम जम गयी।

मगध पर अधिकार कर लेने के बाद महेन्द्रपाल ने उत्तरी बिहार की ओर ध्यान दिया। उसके 898-99 ई० के देथा ताम्रलेख जो कन्नौज से प्रकाशित हुआ था, नेपाल की तराई में श्रावस्ती मण्डल के बलयिका विषय के अन्तर्गत पिपर्णयक ग्राम का दान देने का उल्लेख है, यह दान पत्र निसंदेह रूप से उत्तरी बिहार पर महेन्द्रपाल के अधिकार का द्योतक है।

महेन्द्रपाल को अपने पूर्वी अभियान में अपने सामन्तों से पूर्ण सहयोग एवं सहायता प्राप्त हुई। चाटसु अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि भोज के गहलोत सामन्त हर्षराज के पुत्र गुहिल ने अपनी अश्व सेना की सहायता से गौड नरेश को पराजित और पूर्व के नरेशों से कर ग्रहण किया था। उसकी यह सफलता अपने सम्राट के साथ पूर्वी युद्धों में सहयोग करने पर प्राप्त हुई होगी। महेन्द्रपाल ने इस प्रकार बिहार के प्रायः अधिकांश भाग पर तथा उत्तरी बंगाल पर अधिकार स्थापित कर प्रतीहार साम्राज्य की पूर्वी सीमा में पर्याप्त वृद्धि की, साम्राज्य के गौरव को ऊंचा उठाया और अपने पुश्तैनी शत्रु को गहरा पराजय देकर उसे श्रीहीन कर दिया।

सौराष्ट्रः महेन्द्रपाल के शासन काल के दो अभिलेख उणा नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं जो इस बात का द्योतक है कि सम्पूर्ण सौराष्ट्र प्रतीहार साम्राज्य के अधीन था। इन दो अभिलेखों में से पहला अभिलेख वहां का चालुक्य शासक बलवर्मा का है जिसकी तिथि 793 ई० है। बलवर्मा ने निषाद एवं हुण शासक जज्ज्य को युद्ध में पराजित किया और चौरासी गाव वाले महसिपुर क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाया। दूसरा अभिलेख बलवर्मा के पुत्र अवनी वर्मा द्वितीय के शासन काल का है और इसकी तिथि 899 ई० है। इस लेख के अनुसार उसने अपने सम्राट के आदेशानुसार सौराष्ट्र के उपद्रवों को शांत किया। युद्ध में उसने धरणीवराह नामक शासक को पराजित कर भगा दिया, परन्तु उसे शरणागत होने पर उसे मुक्त कर दिया।

वस्तुतः सौराष्ट्र का प्रदेश सदैव अशांति का केन्द्र रहा है। भोज को भी स्वयं सौराष्ट्र जाकर शासन को संगठित करना पड़ा था। वही स्थिति महेन्द्रपाल के शासन में भी रही, परन्तु चूंकि महेन्द्रपाल पालो के साथ पूर्वी भारत के युद्ध में लगा हुआ था। अतः वह स्वयं तो सौराष्ट्र न जा सका, परन्तु वहां की अशांति दूर करने में अपने चालुक्य सामंत को पूरी सहायता प्राप्त की। बलवर्मा एवं उसके पुत्र अवनिवर्मा ने इस विद्रोह के दमन में पूर्णतया सफलता प्राप्त की जिसके फलस्वरूप उन्हें न केवल नया जीता हुआ भूभाग ही पारितोषिक के रूप में प्राप्त हुआ वरन् महासामन्त की ऊंची उपाधि भी मिली। इस प्रकार सौराष्ट्र पर प्रतीहार सत्ता पूर्ववत बनी रही और वहां के चालुक्य शासक निष्ठा एवं स्वामी भक्ति के साथ महेन्द्रपाल के साथ जुटे रहे।

पंजाबः भोज के समय प्रतीहार साम्राज्य की सीमा कश्मीर सीमा से जा मिली थी और पूर्वी और उत्तरी पंजाब प्रतीहार राज्य के अधीन आ गये थे परंतु जान पड़ता है समकालीन कश्मीर नरेश शंकरवर्मा जो बड़ा ही महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली था। जिस समय महेन्द्रपाल पूर्व में पालो के साथ युद्ध करने में लगा हुआ था और अपनी पूर्वी सीमा में वृद्धि करने में लगा हुआ था उसी समय शंकरवर्मा भी कश्मीर की सीमा को पंजाब की ओर बढ़ाने में लगा था क्योंकि प्रतीहार नरेश के पास पंजाब की ओर ध्यान देने का समय नहीं था। अतः इससे लाभ उठाकर शंकरवर्मा ने कांगड़ा घाटी पर अधिकार कर लिया और गुर्जर शासक अलखन को टक्क तक प्रदेश छोड़ने पर विवश कर दिया। इस प्रदेश को भोज ने ठक्कियों को परास्त कर अधिकृत किया था और उसे गुर्जर शासक अलखन के सुपुर्द कर दिया था। महेन्द्रपाल अलखन की सहायता न कर सका और टक्क का प्रदेश उसके हाथ से निकल गया जिसे शंकरवर्मा ने पुनः ठक्किया परिवार के अधीन कर दिया। क्योंकि ठक्कियों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु शंकर वर्मा भी इस विजय का प्रभाव पूर्वी पंजाब पर न पड़ा महेन्द्रपाल का पेहवा अभिलेख इस बात का प्रमाण है किय भाग प्रतीहार साम्राज्य का हिस्सा बना रहा।

मध्य भारतः सियाडोनी अभिलेख से ज्ञात होता है कि ग्वालियर क्षेत्र में प्रतिहार सत्ता पूर्ववत सशक्त बनी रही। इस क्षेत्र में प्रतीहार सम्राट शासन कर रहे थे। 907 ई० में सियाडोनी पर उण्डभट्ट राज्य कर रहा था जिसे 'महाप्रतीहार महासामन्ताधि ाति' की ऊंची उपाधि प्राप्त थी। 912 ई० में वहां का शासक महाज धुर्मट था जो सम्भवतः उटभण्ड का पुत्र था जिसका नाम गुणराज था। तेरही से प्राप्त उण्डभट्ट के एक लेख के अनुसार गुणराज के साथ उसका युद्ध हुआ था जिसमें चण्डियन नाम का गुणराज का सेनापति मधुवेणी नदी के तट पर मारा गया था। मालवा पर भी महेन्द्रपाल का अधिकार ज्यों का त्यों बना हुआ था। इस क्षेत्र में उसका अधिनस्थ शासक परमार वाक्यपति था।

मृत्युः क्योंकि महेन्द्रपाल की अन्तिम ज्ञात तिथि 907 ई० प्राप्त हुई है अतएव यह अनुमान लगाया जा गया है कि इसके तीन वर्ष बाद 910 ई० में उसकी मृत्यु हो गई होगी।

महीपाल प्रथम (लगभग 910-930 ई०)

महीपाल प्रथम महेन्द्रपाल का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। हड्डाला अभिलेख के अनुसार उसकी सर्वप्रथम ज्ञात तिथि 914 ई० है और उसके पिता की अन्तिम ज्ञात तिथि 907 ई० है अतः अनुमान यह है कि 910 ई० के आसपास वह कन्नौज की गद्दी पर बैठा होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि गद्दी पर बैठने से पूर्व उत्तराधिकार युद्ध छिड़ गया था और इससे पूर्व इसके सौतेले भाई भोज ने कम से कम दो वर्श पूर्व तक गद्दी पर अधिकार कर लिया था अंत में इस संघर्ष में विजयी होकर ही वह 912 ई०के आसपास सम्राट पद प्राप्त कर सका था।

राष्ट्रकूटों से युद्धः प्रतीहारों तथा राष्ट्रकूटों की शत्रुता परम्परागत हो गयी थी क्योंकि यह दोनों ही उस काल की प्रधान शक्तियां थी और दोनों ही अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए सचेष्ट थीं। सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात ही उसे राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय के साथ लोहा लेना पड़ा था। काम्बे ताम्रपत्र से हमें ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। उसने उज्जैन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और यमुना नदी को पार करके कन्नौज को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया था। इस आक्रमण में इन्द्र तृतीय को अपने सामन्त चालुक्य नरेश नरसिंह से बड़ी सहायता मिली। महीपाल इन दोनों की सेनाओं का सामना न कर सका और पलायन कर गया। सौभाग्यवश इन्द्र तृतीय कन्नौज को रौंदने के उपरान्त अपने राज्य को वापस चला गया। महीपाल ने कन्नौज नरेश हर्षदेव की सहायता से पुनः कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया और अपनी खोई प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार किया।

राजशेखर द्वारा वर्णित विजयः महीपाल प्रथम के काल के विद्वान राजशेखर ने उसे रघुकुल मुकुटमणि और [illegible] महाराजाधिराज कहा है और अपने ग्रंथ प्रचण्ड पाण्डव में उसे निम्नलिखित प्रदेशों की विजय का श्रेय प्रदान [illegible] है

(क) **रमठ तथा कुलूत पर विजयः** कुलूत पंजाब के कांगड़ा प्रदेश में रहने वाली एक प्राचीन जाति थी। रमठ [illegible] की ही एक अन्य जाति थी।

(ख) **मुरलो ओर मेखलो पर विजयः** यह दोनों जातियां नर्मदा प्रदेश में निवास करती थी। मुरल नर्मदा [illegible] निवास करने वाली और मेखल अमरकण्टक प्रदेश में निवास करने वाली जाती थी।

(ग) **केरल तथा कुन्तल पर विजयः** यह दोनों ही दक्षिण भारत की जातियां थी। केरल दक्षिण की [illegible] मैसूर में निवास करने वाली जाति थी।

(घ) **कलिंग पर विजयः** यह प्रदेश उड़ीसा में स्थित है।

(ड.) **कर्नाटक पर विजयः** क्षमीश्वर ने अपने चन्ड कौशिकम् नामक नाटक में महिपाल नामक नरश का कर्नाटको पर वि [illegible] प्राप्त करने का श्रेय प्रदान किया है। इस ग्रंथ में लिखा है महिपाल ने कर्नाटक को उसी प्रकार परास्त किया [illegible] प्रकार चन्द्रगुप्त ने नन्दों को किया था। हार्नले तथा स्टेनकोनो ने महिपाल का समीकरण प्रतिहार नरश महिपाल [illegible] के साथ किया है। जबकि डा० आर.सी. मजूमदार तथा कुछ अन्य विद्वानों ने कर्नाटकों का समीकरण [illegible] साथ किया है चूंकि इन्द्र तृतीय की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो गयी थी अतएव यह समझा [illegible] होता है कि महीपाल ने राष्ट्रकूटों पर विजय प्राप्त कर अपनी पराजय का बदला लिया हो।

पालो के साथ संबंधः पूर्व काल में चले आए पाल–प्रतिहार संबंध को देखते हुए कुछ इतिहासकारों ने यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला है कि पालो के साथ महीपाल का संबंध भी शत्रुतापूर्ण रहा होगा। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को देखते हुए यह बात बड़ी विलक्षण प्रतीत होती है कि जिस शक्तिशाली प्रतीहार सम्राट महेन्द्रपाल प्रथम ने अपने समकालीन पाल नरेश नारायण पाल की सैनिक दुर्बलता एवं मानसिक उदासीनता से लाभ उठाकर उससे मगध एव उत्तरी बगाल छीन [illegible] प्रकार प्रतीहार सम्राट के शासन के अन्तिम काल की अवस्था में उससे भी वृद्ध नारायण पाल ने अपने शासन के [illegible] के आसपास पुनः मगध पर अधिकार कर लिया, जिसकी पुष्टि उसके 908 ई० के बिहार मूर्तिलेख से होती है। [illegible] एवं शक्तिहीन नारायणपाल एकाएक अपने दीर्घकालीन शासन के अन्त में शक्ति के चरम शिखर पर थे। [illegible] नारायणपाल के दुर्बल उत्तराधिकारी राज्यपाल का अधिकार भी मगध पर पूर्ववत बना रहा जो उसके शासन [illegible] वर्ष के बड़गांव अभिलेख से सिद्ध होता है। यह महीपाल द्वितीय के दो लेख नालन्दा मूर्तिलेख एवं बौद्ध गया [illegible] की यथास्थिति के ही परिचायक है। अतः स्वाभविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि प्रबल प्रतीहार सम्राट [illegible] दुर्बलता आ गयी थी जिसने पालो को पुनः अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

पालो ने यदि अपने सैन्य बल पर यह सफलता प्राप्त की तो पाल अभिलेखों में इसका उल्लेख होना [illegible] कुछ भी नहीं मिलता है। दूसरी ओर प्रचण्ड पाण्डव एंव चण्डकौशिक जहां महीपाल का दूर–दूर की विजय [illegible] हुआ है वहीं ये ग्रंथ अंग, बंग और मगध के विषय में मौन हैं। वस्तुतः मुरल मेकल, कुन्तल, केरल तथा कर्ना [illegible] अपने साम्राज्य की सीमा पर स्थित उस मगध के प्रति उदासीन रहे जिसे उसके पिता के शासनकाल [illegible] अधिकृत किया था। इसका समुचित स्पष्टीकरण अभी तक सम्भव नहीं हो सका है।

महेन्द्रपाल द्वितीयः 945 ई० में महीपाल की मृत्यु हो गई उसके स्थान पर उसका पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय [illegible] उसकी माता का नाम प्रसाधना देवी था। डा० राखाल दास बैनर्जी के कथनानुसार राष्ट्रकूटों से निरन्तर सघष करने के [illegible] महेन्द्रपाल द्वितीय के शासन काल में प्रतीहार साम्राज्य नष्ट–भ्रष्ट हो गया। किन्तु प्रतापगढ़ अभिलेख से [illegible] महेन्द्रपाल द्वितीय ने दशपुर अर्थात मंदसौर में स्थित दशपुर नामक ग्राम को एक मन्दिर दान में दिया था, [illegible] नायक माधव शासन कर रहा था। इससे यह सिद्ध होता है कि महेन्द्रपाल द्वितीय के समय में प्रतिहार [illegible] वह मंदसौर तक फैला था। महेन्द्र द्वितीय ने लगभग 949 ई० तक शासन किया।

प्रतीहार वंश का पतन तथा अंतः महेन्द्रपाल द्वितीय का शासन काल प्रतीहार वंश का पराभव काल था और [illegible] उसका ह्रास हो गया।

महेन्द्रपाल द्वितीय के उपरान्त देवपाल सिंहासन पर बैठा। वह क्षितिपाल का पुत्र तथा उत्तराधिकारी कहा गया है। अतएव देवपाल महीपाल का पुत्र और महेन्द्रपाल द्वितीय का सगा भाई रहा होगा। खजुराहो अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि चन्देल नरेश यशोवर्मन ने जो प्रतीहारों का सामन्त था, देवपाल से कालंजर छीन लिया। इसस यह प्रकट होता है कि देवपाल के समय सामन्त लोग विद्रोही प्रकृति के हो गये थे और प्रतीहार साम्राज्य पर कुठाराघात करना आरम्भ कर दिया था।

देवपाल के उपरान्त सम्भवतः विनायकपाल शासक हुआ जिसे डा० रे ने महेन्द्रपाल द्वितीय का पुत्र तथा महीपाल प्रथम का पौत्र बताया है। इसके काल की भी घटना का ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया है।

विनयपाल के बाद सम्भवतः महीपाल द्वितीय शासक हुआ जिसने महाराजाधिराज और महीपाल देव की उपाधि ग्रहाण की थी किंतु इन उपाधियों के होते हुए भी डा० त्रिपाठी, डा० पुरी आदि विद्वानों ने उसे सामन्त ही स्वीकार किया है।

रजोर अभिलेख से, जिसकी तिथि 969 ई० है, हमें विजयपाल के नाम का उल्लेख मिलता है उसे भी क्षितिपाल अर्थात महीपाल का पुत्र बताया गया है। इसलिए वह भी देवपाल का सगा अथवा सौतेला भाई रहा होगा।

विजयपाल के उपरान्त प्रतीहार साम्राज्य का बड़ी तेजी से पतन होने लगा और उसके सामन्त उसके विभिन्न भागों में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने लगे। जब 990 ई० में राज्यपाल सिंहासनारूढ़ हुआ तब प्रतीहार साम्राज्य अत्यन्त संकीर्ण हो चुका था। और वह सम्भवतः दोआब तक ही सीमित रह गया था। राज्यपाल को न केवल अपने सामन्तों के विद्रोहों को दबाने का असफल प्रयास करना पड़ा वरन् वह मुस्लिम आक्रमणकारियों का भी शिकार बन गया। इन दिनों गजनी के शासक सुबुक्तगीन ने पंजाब के शाही शासक जयपाल पर आक्रमण कर दिया। राज्यपाल ने इस युद्ध में जयपाल की सहायता की परंतु वह परास्त हो गया। पुनः जब तक सुबुक्तगीन के उत्तराधिकारी महमूद ने जयपाल तथा उसे पुत्र आनन्दपाल पर आक्रमण किया तब राज्यपाल ने उसकी सहायता की। लेकिन फिर भी उसे असफलता का ही सामना करना पड़ा। महमूद गजनवी ने कन्नौज पर भी आक्रमण कर दिया। उत्बी के कथनानुसार यह आक्रमण 1018 ई० में हुआ था। राज्यपाल इस आक्रमण से इतना आतंकित हो गया कि बिना लड़े ही वह कन्नौज छोड़कर भाग गया। महमूद ने एक ही दिन में कन्नौज के सातों दुर्गों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और नगर को खूब लूटा। उसने कन्नौज के मन्दिरों तथा भव्य भवनों को ध्वस्त कर दिया और अपार सम्पत्ति लेकर गजनी लौटा।

राज्यपाल के इस कायरतापूर्ण कार्य से भारतीय नरेश इतना क्षुब्ध हुआ कि उन्हें चन्देल नरेश विद्याधर की अध्यक्षता में एक संघ बनाकर राज्यपाल पर आक्रमण कर उसका वध कर दिया। अब विद्याधर ने राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचन पाल को कन्नौज के सिंहासन पर बैठा दिया।

जब महमूद गजनवी को राज्यपाल की हत्या का समाचार मिला तब विद्याधर को दण्डित करने के लिए उसने 1014 ई० में कन्नौज पर पुनः आक्रमण कर दिया। सर्वप्रथम उसने त्रिलोचनपाल को परास्त किया और तदुपरान्त उसने विद्याधर पर भी आक्रमण कर दिया किन्तु वह बच निकला। इस पराजय के उपरान्त भी त्रिलोचन पाल कुछ समय तक शासन करता रहा किन्तु वह कब मरा इसका पता नहीं चलता।

त्रिलोचन पाल के पश्चात कन्नौज का नरेश कौन था इसका ठीक–ठीक से पता नहीं लगता। कुछ विद्वानों का कहना है कि उसके उपरान्त यशपाल शासक हुआ और वह सम्भवतः प्रतीहार वंश का अंतिम शासक था। इसके बाद कन्नौज के गहड़वाल वंश का उदय हुआ जिसने प्रतीहार वंश का अंत करके अपनी राजसत्ता स्थापित कर ली।

पतन के कारण: प्रतीहार साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण थे–

(1) **परवर्ती सम्राटों की दुर्बलता:** प्रतीहार वंश के पतन का सबसे बड़ा कारण था कि प्रतीहार वंश के परवर्ती सम्राटों में कोई इतना योग्य न हुआ जो उसे टूटने से बचा सके। यह साम्राज्य इतना विशालकाय हो चुका था कि उसे सुसंगठित, सुव्यवस्थित तथा सुरक्षित बनाए रखने के लिए बड़े ही योग्य तथा प्रभावशाली सम्राटों की आवश्यकता था। राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था तभी बनी रह सकती थी जब केन्द्रीय शासन बड़ा ही शक्तिशाली हो और केन्द्रीय शासन की शक्ति उसके सम्राटो की योग्यता पर आधारित होती है। अस्तु निर्बल तथा अयोग्य प्रतीहार सम्राटों के हाथों में विशाल साम्राज्य का पतन होना स्वाभाविक था।

(2) **सामन्तवादः** प्रतीहार साम्राज्य की शासन व्यवस्था मूलतः सामन्तवादी थी और इस व्यवस्था की सफलता [illegible] विकेन्द्र केन्द्र की शक्ति पर आधारित होती थी। जब तक सबल सम्राटों का शासन था तब तक दूर भी [illegible] के [illegible] सामन्तों की स्वामीभक्ति एवं राज्यनिष्ठा पर कोई संदेह नहीं था और सभी सामन्त अपने क्षेत्र में [illegible] की व्यवस्था रखते हुए अपने सम्राटों को युद्धों में पूरा सहयोग देते रहते थे और कोई भी सामन्त [illegible] उपाधि धारण करने का साहस नहीं करता था। परन्तु महीपाल के बाद जब शासन में दुर्बलता आई [illegible] सामन्त महाराजों ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण करनी शुरू कर दी जो उनकी स्वतन्त्र [illegible] कुछ ने तो महाराजाधिराज के साथ–साथ परमेश्वर पद भी धारण कर लिया जो सार्वभौमिकता [illegible] सामन्त केन्द्र की उपेक्षा कर आपस में लड़ने भिड़ने लगे और युद्धों में जीते प्रदेश को अपने अधिकार [illegible] दानपत्रों में उन्होंने सम्राट के नाम का उल्लेख भी करना छोड़ दिया। उनकी देखा–देखी प्रान्तीय शासक [illegible] प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी और यदा–कदा ये सामन्त केन्द्र से उलझने तथा उसकी आज्ञा का उल्लंघन [illegible] पर्याप्त शक्ति संचित कर लेने के बाद जब उन्होंने देखा कि केन्द्र उन्हें दबा सकने में असमर्थ है तो उन्होंने [illegible] क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और दसवीं शताब्दी के मध्य तक साम्राज्य के विभिन्न भागों में [illegible] राज्यों की स्थापना हो गयी जिसके फलस्वरूप विशाल प्रतीहार साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया।

(3) **मुसलमान आक्रमणः** प्रतीहार वंश के पतन तथा उसके उन्मूलन का एक बहुत बड़ा कारण मुसलमानों के आक्रमण भी था। प्रतीहार वंश की शक्ति पहले ही निर्बल हो चुकी थी और जब गजनी के शासक सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया तब संकुचित तथा विघटित प्रतीहार साम्राज्य की जड़ हिल गयी। प्रतीहार नरेश राज्यपाल ने सुबुक्तगीन और महमूद के विरूद्ध जयपाल तथा आनन्दपाल की धन तथा सेना से सहायता की थी। चूंकि जयपाल तथा आनन्दपाल दोनों ही परास्त हो गये अतएव राज्यपाल को भी धन तथा [illegible] की भारी क्षति उठानी पड़ी थी। जब 1019 ई० में महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण करके उस लूटा और [illegible] दिया जब वह साम्राज्य मरणासन्न हो गया।

चूंकि राज्यपाल महमूद गजनवी से युद्ध करने की बजाय भाग निकला था अतएव चन्देल नरेश विद्याधर ने [illegible] का संघ बनाकर उसकी हत्या कर दी और त्रिलोचनपाल को राजा बना दिया। परन्तु मरणासन्न प्रतीहार [illegible] रहने की शक्ति नहीं रह गयी थी। गहड़वाल वंश ने उसकी जड़ें उखाड़कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली [illegible] प्रतीहार वंश का दीपक बुझ गया।

अध्याय-5

पाल वंश
Pal Dynasty

हर्ष के समकालीन शशांक की मृत्यु के पास बंगाल में राजनीतिक और प्रशासनिक अव्यवस्था फैल गयी। ऐसी स्थिति में वहां अनेक शहरी सरदारों ने बारी–बारी से अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया किंतु अधिक सफल नहीं हुए। आर्यमंजुश्री–मुलकल्प नामक बौद्ध ग्रंथ एवं तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के उल्लेखों में इस व्यवस्था का एक रोचक विवरण प्राप्त होता है। इस अन्यत्र उल्लेख पाल वंश के प्रथम महान शासक धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख से प्राप्त होता है, इसमें कहा गया है कि 'मातस्यन्याय' से मुक्ति पाने के लिए प्रकृतियों ने गोपाल को लक्ष्मी की बांह पकड़ाई। यहां 'मात्स्यन्याय' से तत्कालीन बंगाल की उस स्थिति की ओर संकेत किया गया है जब प्रत्येक बलवान सरदार निर्बल को दबाकर प्रभावशाली बन जाता था। 'प्रकृति' शब्द के प्रयोग का उद्देश्य जनता से है, जिसने उपर्युक्त राजनीतिक तथा सैनिक अशान्ति का अंत करने के लिए गोपाल नामक एक वीर पुरुष को स्वयं राजा चुना।

पाल वंश की उत्पत्तिः गोपाल से आरम्भ होने वाले इस राजवंश को पाल नाम से पुकारा जाता है, जिसका एकमात्र कारण यह है कि उसके सभी राजाओं के नामों के अंत में 'पाल' लगा रहता था। किंतु इसका मूल क्या था अथवा ये किस वंश के थे, इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। इस युग में अन्य राजपूत तथा क्षत्रिय वंशों उनके अभिलेख एवं तत्कालीन साहित्य में सूर्य तथा चन्द्रवंशों से जोड़ने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। किंतु स्वयं पालों के अपने अभिलेखों में जो उल्लेख मिलते हैं वे परस्पर विरोधी एवं अस्पष्ट हैं। जिसके मूल रूप का सही–सही निरूपण नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए जहां आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में उन्हें दास कुल से जोड़ा गया है। वहीं दूसरी ओर गोपाल की माता दद्दा देवी को उसके पुत्र धर्मपाल के खलिमपुर अभिलेख में उच्चकुल में उत्पन्न पिता की पुत्री बताया गया है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने गोपाल की माता को क्षत्रिय बताया है। किंतु वह गोपाल की उत्पत्ति में कुछ अप्राकृतिक तत्वों का भी समावेश कर देता है। एक अन्य बौद्ध ग्रंथ की टीका में पालो के प्रमुख शासक धर्मपाल को 'राजभटाद्विवंशपतित' कहा गया है, जिसके आधार पर विद्वानों ने समतर अर्थात दक्षिण पूर्व बंगाल के खड्ग राजाओं का वंशज माना है। पाल और खड्ग दोनों वंशों में एक समानता यह थी कि वे समान रूप से बौद्ध अनुयायी थे। पालो की उत्पत्ति के बारे में इन भिन्न–भिन्न आलेखों और सवयं पाल अभिलेखों में उस बारे में मिली निर्णयकारी उल्लेख न होना सम्भवतः इस तथ्य की ओर निर्देश करता है कि वे मूलतः किसी बहुत बड़े कुल से संबंध न होकर साधारण कुल में उत्पन्न हुए थे। किन्तु राजपद प्राप्त कर लेने तथा धीरे–धीरे एक प्रमुख राजनीतिक सत्ता बन जाने पर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और हेहय और राष्ट्रकूट जैसे शक्तिशाली राज परिवारों से उनके वैवाहिक संबंध स्थापित हो गये।

गोपाल (लगभग 750-770 ई०)

गोपाल आधुनिक बंगाल के किन भागों का राजा चुना गया यह जानने का कोइ निश्चित साधन नहीं है। राष्ट्रकूट तथा प्रतीहार साक्ष्यों में उसके पुत्र धर्मपाल और पौत्र देवपाल को प्रायः गौड़ नरेश अथवा उत्तर पश्चिमी बंगाल और मगध से जोड़ा गया है। किंतु तारानाथ गोपाल को वंग अर्थात दक्षिणी बंगाल (आधुनिक बंगला देश) से जोड़ता है। गोपाल की किसी विशेष विजय की जानकारी नहीं है, किन्तु यह सूचना प्राप्त होती है कि उसके औदन्तीपुरी और नालन्दा बिहार की स्थाना की थी इससे मगध पर उसके अधिकार के साथ बौद्ध धर्म की ओर उसके झुकाव का निर्देश होता है। किंतु अब तक मगध से उसके किसी अभिलेख अथवा किसी निर्णयकारी साक्ष्य के न मिलने से इस संबंध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

गोपाल एक सफल सैनिक तथा कुशल प्रशासक रहा प्रतीत होता है। सम्बन्ध अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसने अशान्त और अव्यवस्थित परिस्थितियों के बीच पाल राजवंश की सत्ता भली प्रकार स्थापित कर अपनी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा अच्छी तरह जमा ली। अपने योग्य पुत्र धर्मपाल के रूप में उसने अपनी प्रजा को एक बड़ी देन दी। जिसने अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों का पूर्ण रूप से लाभ उठाते हुए बंगाल के पालो को एक साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया।

धर्मपाल (लगभग 770-810 ई०)

धर्मपाल का सही शासन समय क्या है इसकी जानकारी स्पष्ट रूप से नहीं मिलती किंतु राष्ट्रकूट और प्रतीहार अभिलेखों से यह भली–भांति ज्ञात है कि राष्ट्रकूट राजा ध्रुव और गोविन्द तृतीय एवं प्रतिहार राजा वत्सराज और नागभट्ट द्वितीय उसके समकालीन थे। इन सबका समय आठवी सदी थे अन्तिम चतुर्थांश और नवीं सदी के प्रारम्भ में था इसलिए यही समय धर्मपाल का भी शासन काल माना जाना चाहिये।

धर्मपाल ने जब सत्ता की बागडोर संभाली तो उस समय भारत में एक तरह की राजनीतिक शून्य व्याप्त था। कन्नौज उस समय मुख्य भारतीय नगर था जो हर्ष के समय से उत्तर भारतीय साम्राज्य की राजधानी रहा था। धीरे–धीरे कन्नौज पर अधिकार का अर्थ सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार का द्योतक माना जाने लगा। अतः सभी तत्कालीन राजनीतिक शक्तियां उस पर आंख लगाए हुए थी। जब धर्मपाल गद्दी पर बैठा उस समय कन्नौज पर आयुद्ध वंश के कुछ सीमित सत्ता वाले इन्द्रायुध का अधिकार था अतः कन्नौज के राजा को अपने अधीन कर समस्त उत्तरी भारत पर राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के लिए धर्मपाल अग्रसर हुआ। किंतु इस उद्देश्य की सिद्धि में राजस्थान और मालवा के गुर्जर प्रतिहारों ने उसे चुनौती दी। जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों सत्ताओं के बीच एक दीर्घकालिक सैनिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। कालान्तर में यह संघर्ष उन्हीं दो सत्ताओं तक सीमित न रहा बल्कि एक तीसरी राजनीतिक सत्ता भी इसमें शामिल हो गयी। इन तीन शक्तियों के बीच लगभग 100-150 वीं वर्षों तक रुक–रुककर चलने वाले इस संघर्ष को ही त्रिकोणीय संघर्ष की संज्ञा दी जाती है किंतु यहां यह बात अति आवश्यक है कि इस संघर्ष के कारणों और पृवत्तियों को ठीक–ठीक समझने का प्रयत्न किया गया। बहुत से विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि तीनों सत्ताएं कन्नौज और उसके माध्यम से उत्तरी भारत पर अधिकार करने के लिए लालायित थी। किन्तु यह पूर्णतया सही प्रतीत नहीं होता। प्रारम्भ में धर्मपाल ने आयुद्धवंशी राजा इन्द्रयुद्ध को अपदस्थ कर अपने नामांकित चक्रायुद्ध को कन्नौज का नाममात्र का राजा बनाया जो वास्तव में धर्मपाल की ही राजनीतिक प्रतिष्ठा का द्योतक था। किंतु शीघ्र ही वत्सराज ने उसे एक जबरदस्त चुनौती देते हुए उससे केवल दोआब ही नहीं छीन लिया अपितु विजय प्राप्त करता हुआ वह बंगाल तक पहुंच गया। इसके पश्चात वत्सराज के नेतृत्व में प्रतीहारों के बढ़ी हुई शक्ति को सीमित करने के लिए राष्ट्रकूट शासक ध्रुव उस पर आक्रमण कर उसकी विजय के फल का अपहरण कर उसे समाप्त कर दिया। और उसके शत्रु धम्रपाल को भी सैनिक मात दी। वत्सराज की इस असफलता से कन्नौज सहित पूरा उत्तर भारत का प्रत्येक स्थल सैनिक प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र बन गया। बारी–बारी से धर्मपाल और नागभट्ट द्वितीय सफल हुए। इनकी उनकी सफलता और असफलता के बीच गोविन्द तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों के सैनिक हस्तक्षेप भी जारी रहे। राष्ट्रकूटों का सम्भवतः यह इरादा कभी नहीं था कि कन्नौज पर अधिकार कर दक्षिणापथ के साथ ही वे उत्तरापथ पर भी अपना अपनी सारी सैनिक प्रतिभा के बावजूद अपने मूल क्षेत्रों से बहुत दूर रहकर उनके लिए ऐसा कर सकना बिल्कुल असम्भव था। पुनः नागभट्ट के नेतृत्व में जब गुर्जर प्रतीहारों ने कन्नौज पर स्थायी रूप से अधिकार कर लिया तो गुर्जर प्रतीहारों का संघर्ष या तो उनकी परस्पर मिलने वाली सीमाओं तक सीमित हो गया। अथवा एक–दूसरे की सैनिक कमजोरियों का लाभ उठाकर कुछ सीमावर्ती क्षेत्र को हड़पने मात्र तक सीमित रहने लगा। राष्ट्रकूटों ने बार–बार उत्तर भारत पर आक्रमण किए, उनके प्रमुख रूप से दो ही कारण प्रतीत होते हैं। एक तो मालवा एंव गुजरात में राष्ट्रकूट प्रतीहार सीमाएं मिलती थी, जिनके आसपास के क्षेत्रो के अधिकार के लिए दोनों सेनाओं में संघर्ष बना रहता था। दूसरे राष्ट्रकूट अपने व्यापारिक मार्गों और अन्न की उपज वाले क्षेत्रों की रक्षा के लिए सर्वदा चिन्तित थे और इसी प्रतीहारों पर अनेक बार धावे बोलने पड़े। उनका अन्तिम उद्देश्य प्रतीहारों की सत्ता को सीमित करना प्रतीत होता है जिससे उस समय का सैनिक संतुलन कहीं उनके विपक्ष में न झुक जाए। परिणामतः बार–बार उत्तर भारत पर आक्रमण करने के लिए किए गए राष्ट्रकूटों के आक्रमणों का कोई भी स्थाई प्रीाव न तो प्रतीहारों पर पड़ा और न पाला पर। फलतः इनके कारण उत्तर भारत की राजनीति भी स्थायी रूप से प्रभावित नहीं हुई।

त्रिकोणात्मक संघर्ष का आरम्भः जिनसेनाचार्य रचित जैन ग्रंथ 'हरिवंश' से ज्ञात होता है कि 783-84 ई० में वत्सराज अवंती पर शासन करता था। उसने अपनी सत्ता का विकास करते हुए उत्तरी भारत पर अपनी साम्राज्य प्रसार का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया। इस संबंध में उसका सर्वप्रथम अभियान पाल शासक धर्मपाल के विरुद्ध हुआ। इस प्रकार से पाल, प्रतीहार, राष्ट्रकूट त्रिकोणात्मक संघर्ष भी प्रारम्भ हुआ। ऐसा लगता है कि वत्सराज और धर्मपाल दोनों ही कन्नौज पर अधिकार कर लेने को लालायित थे और दोनों की सेनाएं क्रमशः दक्षिण पश्चिम और पूर्व से दोआब की ओर बढ़ रही थी। परिणामतः उन दोनों की पहली भिड़त दोआब में हुई, जिसमें धर्मपाल हारा और अपने प्रदेश की ओर लौटने को विवश हुआ। वत्सराज की धर्मपाल पर विजय के प्रमाण उसके वंश के शत्रु राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय के राधनपुर [illegible]

और बड़ौदा से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से मिलते हैं। इन अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रकूट ध्रुव से पराजित होने से पूर्व वत्सराज ने धर्मपाल को हराया था। डा० अल्तेकर की मान्यता है कि वत्सराज ने दोआब पर अधिकार कर कन्नौज में अपनी और से इन्द्रायुद्ध को शासक नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार धर्मपाल प्रतीहार शासक वत्सराज से तो हारा ही, ध्रुव राष्ट्रकूट के आक्रमण का भी शिकार हुआ और उससे भी मुंह की खानी पड़ी। अमोघवर्ष के संजान ताम्रपत्र अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि ध्रुव ने गौड नरेश को युद्ध में पराजित किया था। किन्तु इस बात को निश्चित करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि ध्रुव ने पहले वत्सराज पर आक्रमण किया था या धर्मपाल पर। कदाचित उसने एक ही विजय यात्रा में दोनों को नहीं हराया। सम्भवतः ध्रुव ने उत्तर भारत पर बारी–बारी से दो आक्रमण किये जिनमें क्रमशः उसने वत्सराज और धर्मपाल को हराया। उसके पहले अभियान के फलस्वरूप वत्सराज को धर्मपाल पर अपनी विजय के लाभ से वंचित होकर अपनी रक्षा के लिए राजपुताना की ओर भागना पड़ा। इस स्थिति का लाभ उठाकर धर्मपाल ने, ध्रुव की सेनाओं को दक्षिणापथ की ओर लौटते ही, पुनः दोआब पर अपना अधिकार जमा लिया। किन्तु अभी यह पूर्ण रूप से इस प्रदेश पर अधिकार भी नहीं कर पाया था कि ध्रुव ने पुनः लौटकर उसे भी हराया। इस संबंध में कर्णसुवर्णवर्ष के बड़ौदा अभिलेख में कहा गया है कि "अपनी तरंगों से सुन्दर लगने वाली गंगा और यमुना को अपने शत्रुओं से जीतकर यशु मूर्ति ध्रुव ने यह अधिराज्य प्राप्त किया जो इन नदियों द्वारा दृश्यरूप प्रकट होता था।"

धर्मपाल की दिग्विजयः ध्रुव के नेतृत्व में राष्ट्रकूट सेनाओं की उत्तर भारतीय विजयों से धर्मपाल को कोई विशेष हानि न हुई। वास्तव में राष्ट्रकूट अपनी असली शासित क्षेत्रों से इतनी दूर आकर विजय प्राप्त करने के बाद भी स्थाई रूप से शासन स्थापित कर सकने में अनेक कठिनाइयों के कारण असमर्थ थे। इसलिए वे बार–बार लौट जाने को विवश हुए। ऐसी स्थिति में उनके उत्तर भारत के सैनिक अभियान सफल धावों के अलावा और कुछ साबित नहीं हुए। यह स्थिति धर्मपाल के लिए अनुकूल साबित हुई। ध्रुव के दक्षिण की ओर लौटते ही पुनः उसने उत्तर भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता की स्थापना के लिए अभियान प्रारम्भ कर दिया। इस संबंध में अनेक पाल अभिलेखों से हमें प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है। सर्वप्रथम तो उसके शासन के 32वें वर्ष में प्रकाशित उसका खालिमपुर अभिलेख है, जिसकी अनेक बातों का स्पष्टीकरण और समर्थन उसके वंशज नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख से होता है। धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख के 12वें श्लोक में कहा गया है कि उसने 'कान्यकुब्ज' के सम्राट के रूप में स्वयं को अभिषिक्त कराने का अधिकार प्राप्त करते हुए, पांचाल देश के प्रसन्न वृद्धों द्वारा उठाये गये अभिषेक कलश से राज्याभिषेक कराया, जिसे भोज, मत्स्य, भद्र, कुरू, यदु, यवन, अवन्ति, गंधार ओर कीर के राजाओं ने अपना सिर झुकाकर साधुवाद करते हुए स्वीकार किया। नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख में कहा गया है कि धर्मपाल ने इन्द्राज व अन्य शत्रुओं को हराकर कन्नौज नगर का अधिकार प्राप्त करते हुए उसे याचक चक्रायुद्ध को वैसे ही वापस कर दिया, जैसे बलि ने इन्द्र आदि शत्रुओं को जीतकर भी वामन रूप विष्णु को तीन लोकों का दान दिया था। इस श्लोक में इन्द्र की तुलना इन्द्रायुद्ध से और विष्णु की तुलना चक्रायुद्ध से की गयी है। इन सूचनाओं से कुछ तथ्य अपने आप उभरकर सामने आ जाते हैं। एक तो यह कि कन्नौज के शासक इन्द्रराज अथवा इन्द्रायुद्ध पर धर्मपाल ने आक्रमण कर उसे हराया और उसके स्थान पर संभावतः उसी के भाई चक्रायुद्ध को वहां का शासक नियुक्त कर दिया। इसकी बहुत सम्भावना हो सकती है कि यह चक्रायुद्ध धर्मपाल के सथ आक्रमण सेना में था। किंतु यह जानने का कोई निश्चित साधन नहीं है कि नारायण पाल का भागलपुर अभिलेख इन्द्र युद्ध के अलावा धर्मपाल द्वारा जिन शत्रुओं के हराए जाने की बात करता है वे कौन थे?

कन्नौज पर विजय प्राप्त करना धर्मपाल के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी वहां अपनी ओर से नामांकित कर चक्रायुद्ध को नियुक्त किया और इस अवसर पर कन्नौज में चक्रायुद्ध के राज्याभिषेक का एक दरबार लगाया। उसकी विजयों का क्षेत्र और प्रभाव इतना व्यापक था कि उस दरबार में अपनी अधिसत्ता स्वीकार करते हुए मत्स्य, यदु, भोज, अवन्ति, कुरुपांचाल, यवन और कीर के राजागण अधिनस्थ के रूप में उपस्थित हुए । रमाशंकर त्रिपाठी का यह मत है कि इन राजाओं का चक्रायुद्ध के राज्याभिषेक के समय उपस्थित होना राजनीतिक शिष्टाचार माना था सही नहीं प्रतीत होता। खालिमपुर अभिलेख यह स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि ये सभी राजा धर्मपाल के सम्मुख इस अवसर पर हाथ जोड़कर और एकदम विनम्र होकर उपस्थित हुए थे। स्पष्ट है कि धर्मपाल की विजयों के कारण वे भयभीत होकर उसकी अधीसत्ता मानने लगे थे। किंतु इन देशों के तत्कालीन राजाओं की पहचान का हमारे पास कोई निश्चित साधन नहीं है। उनमें से एक शासक अवन्ति का भी था जो सम्भवतः प्रतीहार शासक वत्सराज हो सकता है। पहले एक बार धर्मपाल पर विजयी हो चुकने के बाद भी उसे ध्रुव राष्ट्रकूट आक्रमण के पराजित होकर इतना विपदग्रस्त हो जाना पड़ा था कि धर्मपाल की पुनः बढ़ती हुई शक्ति के सामने उसे झुकने को कदाचित विवश होना पड़ा।

धर्मपाल के पुत्र देवपाल के मुंगेर अभिलेख में भी धम्रपाल की कुछ विजयों का उल्लेख मिलता है। इसमें कहा गया है कि

उसके सैनिकों ने गंगासागर, केदार और गोकर्ण नामक तीर्थों के पवित्र जल में स्नान किया। इन तीर्थ [illegible] में विद्वानों में मतभेद है, किंतु ऊपर वर्णित जिन देशों के राजाओं ने कन्नौज में चक्रायुद्ध के राज्याभिषेक [illegible] होकर धर्मपाल के प्रति अपनी भक्ति का परिचय दिया था, उन सबके क्षेत्र उत्तर भारत में स्थित थे [illegible] छोर भोज अर्थात आधुनिक विदर्भ था। अतः केदार और गौकर्ण नामक तीर्थों के भौगोलिक स्थिति भी उत्तर भारत [illegible] की जानी चाहिये। ये दोनों तीर्थ नेपाल की निचली पहाड़ियों एवं उत्तर प्रदेश के गढवाल प्रदेश में [illegible] तो हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थल आज का केदारनाथ प्रतीत होता है। गंगासागर पूर्व का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल [illegible] मैदानों को पार करती हुई अन्त में समुद्र में मिलती है। यह क्षेत्र धर्मपाल के स्वयंशासित राज्य क्षेत्र का [illegible] में पड़ता था।

ऊपर के विवरण से कुछ बातें निष्कर्ष के रूप में ज्ञात होती हैं। धर्मपाल का निजि शासित क्षेत्र दक्षिण पूर्व [illegible] से प्रारम्भ होकर बंगाल और बिहार के प्रदेशों तक विस्तृत था बिहार के उत्तर पश्चिम में पांचाल तक [illegible] उसके अधिनस्थ और नामांकित शासक चक्रायुद्ध के अधीन था। जिस पर धर्मपाल की राजनीतिक अधिसत्ता [illegible] थी कन्नौज के राजदरबार में मत्स्य, भोज, कीर, अवन्ति, यमन आदि राज्यों के जो राजा उपस्थित हुए थे [illegible] की विजय यात्राओं के समय उससे भयभीत होकर स्वयं उसकी अधिसत्ता मानने को राजी हो गये थे अथवा [illegible] पराजित होकर वैसा करने पर विवश हुए थे। इस प्रकार धर्मपाल का राजनीतिक प्रभुत्व उत्तर में उत्तर प्रदेश [illegible] दिल्ली, हरियाणा, पाकिस्तानी पंजाब का कुछ भाग, राजस्थान, सिन्ध, महाराष्ट्र के विदर्भ वाले भाग एवं मालवा [illegible] था। निश्चय ही यह बड़ा भारी प्रदेश था, जिस पर धर्मपाल की अधिसत्ता उसकी राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा [illegible] प्रकट करती है। इस दशा में इस बात से कोई आश्चर्य नहीं कि कि 11वीं शताब्दी का एक गुजराती संस्कृत कवि सोड्ढल उसे उत्तरापथ स्वामी की उपाधि देता है। धर्मपाल की सत्ता के इस चरमोत्कर्ष का युग 785-800 ई० के बीच माना जाता है जब ध्रुव अपने उत्तर भारतीय अभियानों के बाद दक्षिणापथ लौट चुका था और वत्सराज उससे और सम्भवतः [illegible] पराजित होकर राजपुताना के अपने पैतृक क्षेत्रों तक सीमित रहने को विवश हो गया था।

राष्ट्रकूट-प्रतिहारों के पुनः आक्रमण: धर्मपाल ने अपनी इस अधिसत्तात्मकता का कितन दिन भाग किय [illegible] विवाद है। डा० आर.सी. मजूमदार जैसे विद्वान यह मानते हैं कि धर्मपाल ने अपने जीवनपर्यन्त उत्तर भारत [illegible] रहा और उसे आगे किसी भी ऐसी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा, जिससे उसकी परम सत्ता को कोई [illegible] हो। किन्तु पाल इतिहास से संबंधित जो राष्ट्रकूट और गुर्जर साक्ष्य हैं, उनसे यह निष्कर्ष सही प्रमाणित नहीं [illegible] विद्वान हेमचन्द राय ने बहुत पहले ही यह मत प्रतिपादित किया था कि धर्मपाल बहुत अधिक दिनों तक [illegible] भोग नहीं कर सका। राष्ट्रकूट ध्रुव के पुत्र और उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय ने तथा वत्सराज प्रतीहार [illegible] उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय ने धर्मपाल की बढ़ती हुई सत्ता को बारी–बारी से उस पर आक्रमण कर जोरदार [illegible] धर्मपाल सफलतापूर्वक मुकाबला न कर सका। यद्यपि विद्वानों में इस बात पर बड़ा मतभेद है कि [illegible] प्रतीहारों के आक्रमण का जो दूसरा दौर चला उसमें किनका आक्रमण पहले हुआ और किनका बाद में। [illegible] के मत को स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि नागभट्ट अपने पिता की पराजया का बदला [illegible] तैयारियां कर रहा था, तभी गोविन्द ने उत्तर भारत पर आक्रमण करके उसे और उसके अतिरिक्त धमपाल [illegible] किन्तु अपने पिता ध्रुव की तरह उसे भी जब दक्षिणापथ के अपने राज्य की समस्याओं के कारण लौट जाना [illegible] हो जाना पड़ा तो प्रतीहारों को पुनः एक बार अपनी शक्ति संयोजित करने का मौका मिल गया और नागभट्ट [illegible] र्मपाल और चक्रयुद्ध को हराकर कन्नौज जीत लिया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाकर वहां से अपना [illegible] लगा। नागभटट द्वितीय ने यदि राष्ट्रकूटों को हराने के बाद उत्तर भारतीय साम्राज्य पाया तो उसके [illegible] प्रशस्ति में उसकी विजयों के सदर्भ में उसकी चर्चा अवश्य हुई होती। इसी प्रकार यादे धर्मपाल कन्नौज [illegible] भारत पर अपनी अधिसत्ता बनाए रखता तो इसका उल्लेख देवपाल और उसके वंशजों के अभिलेखों में [illegible] होता। आर.सी. मजूमदार का तर्क है कि देवपाल ने मुंगेर ताम्रपत्र ने इस बात की ओर निर्देश किया [illegible] धारण करते समय पाल राज्य में कहीं भी किसी प्रकार की अशांति नहीं थी। किंतु उसका यह शांत राज्य [illegible] बिहार वाल क्षेत्रों तक सीमित प्रतीत होता है। अपना उत्तर भारतीय समाज तो वह पहले ही नागभट्ट द्वितीय [illegible] चुका था।

अतः धर्मपाल को अपन शासन के अन्तिम दिनों में अपने क्षेत्रों पर दुबारा किय गय राष्ट्रकूट और प्रतीहार [illegible] राष्ट्रकूट आक्रमण का ही सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम संजन ताम्रपत्र अभिलेख [illegible]

कि गोविन्द तृतीय के आक्रमण के सामने धर्मपाल और चक्रायुद्ध बिना कोई युद्ध किये स्वयं झुक गये। किंतु यह ठीक से नहीं बताया जा सकता कि राष्ट्रकूटों के इस आक्रमण का धर्मपाल ने कोई सैनिक मुकाबला क्यों नहीं किया? जो विद्वान यह मानते हैं कि उस पर इस राष्ट्रकूट आक्रमण के पूर्व नागभट्ट द्वितीय का आक्रमण हो चुका था, उनका अनुमान है कि सम्भवतः उसने राष्ट्रकूटों का मुकाबला इस कारण नहीं किया कि उसने मिलकर अपने खोये हुए साम्राज्य को पुनः वह नागभट्ट से छीनने के अवसर की ताक में था। उनके मत में यह सम्भव नहीं है कि उसने स्वयं गोविन्द तृतीय को उत्तर भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया हो ताकि प्रतीहारों की बढती हुई शक्ति को रोका जा सके। किन्तु इस सिलसिले में धर्मपाल और चक्रायुद्ध का एक साथ उल्लेख होने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोविन्द के आक्रमण से पूर्व धर्मपाल और चक्रायुद्ध की नागभट्ट से मुठभेड़ हुई थी। यह बात कुछ समझ में नही आती कि नागभट्ट से पराजित होकर कन्नौज से निकाल दिये जाने पर भी चक्रायुद्ध को धर्मपाल के साथ बने रहने में क्या लाभ होता? यह तर्क दिया जाता है कि चक्रायुद्ध नागभट्ट से पराजित होकर धर्मपाल सहित आत्मसमर्पण किया। किंतु वैसी दशा में अपनी पराजित अवस्था में उस भगोड़े सामंत की स्थिति इतनी नगण्य और कमजोर हो जाती कि व्यर्थ ही उसका उल्लेख कर राष्ट्रकूट अभिलेख उसका महत्व नहीं बढ़ाते। अतः यही निर्णय सही प्रतीत होता है कि गोविन्द ने उस पर उसी समय आक्रमण किया था जब वह धर्मपाल के सामन्त के रूप में कन्नौज पर शासन करता था तथा उसके साथ ही राष्ट्रकूटों के सामने नत होकर उपस्थित हुआ था। गोविन्दर तृतीय के इस उत्तर भारत के अभियान का समय लगभग 802 ई० है।

धर्मपाल की पराजयः राष्ट्रकूट सेनाएं सदा की भांति उत्तर भारत में अधिक दिनों तक न तो टिक सकी और वहां राष्ट्रकूटों ने कोई प्रत्यक्ष शासन की स्थातिप किया। अतः इस परिणाम शून्य राष्ट्रकूट दिग्विजय से न तो आत्मसमर्पण करने वाले धर्मपाल को कोई हानि हुई और न उसके प्रतीहार शत्रु द्वितीय नागभट्ट को। नागभट्ट ने गोविन्द से जमकर युद्ध किया था जिसमें उसे अपनी रक्षा के लिए भागना पड़ा। किंतु गोविन्द के वापस लौटते ही वह अपनी सैन्य शक्ति पुनः संजोने लगा और उत्तर भारत की विजय की ओर तेजी से अग्रसर होने लगा। उसकी पूर्ण तैयारी थी आंध्र विदर्भ, सिन्ध और कलिंग के शासक उसकी अधिसत्ता स्वीकार कर चुके थे और वह स्वयं राजपुताना और मालवा की सैनिक मेड़बन्दी कर चुका था। इस संबंध ा में उसके पौत्र मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से उसकी सैनिक तैयारियां और अभियानों की जो सूचनाएं मिलती हैं, वे बड़ी व्यापक और पूर्ण हैं। इसके अनुसार नागभट्ट चक्रायुद्ध को कन्नौज से अपदस्थ कर देने मात्र से ही संतुष्ट नहीं हुआ। आगे बढ़कर सम्राट धर्मपाल की खबर लेने के लिए भी वह कृतसंकल्प था। घटनाओं के क्रम में ऐसा लगता है कि चक्रायुद्ध कन्नौज की लड़ाई में हारकर धर्मपाल के पास अपनी सेनाओं को लेकर मुंगेर के आसपास आ डटा। धर्मपाल भी अपनी पूरी सैनिक तैयारी के साथ युद्ध मैदान में आया। किंतु अपनी सारी तैयारी के बाद भी धर्मपाल युद्ध में हार गया। जोधपुर के प्रतीहार शासक बाऊक के एक अभिलेख से ज्ञात है कि वह युद्ध मुंगेर में लड़ा गया था।

धर्मपाल का मूल्यांकनः धर्मपाल एक महान विजेता, कुशल कूटनीतिज्ञ और अत्यन्त सफल शासक था। उसके पिता गोपाल से उसे एक अत्यंत छोटा सा राज्य ही उत्तराधिकार में मिला था किंतु अपनी योग्यताओं से उसमें सतत वृद्धि करते हुए धर्मपाल ने सम्पूर्ण बंगाल और बिहार पर पाल राज्य को स्थाई रूप से स्थापित ही नहीं किया, अपितु थोड़े समय के लिए 'उत्तरापथस्वामी' अर्थात समस्त उत्तर भारत का सम्राट पद भी प्राप्त कर लिया। अभिलेखों में उसे परमेश्वर, परमभट्टारक और महाराजाधिराज जैसी सार्थक उपाधियां दी गयी हैं। उसका छोटा भाई वाक्यपाल उसकी सेनाओं का सेनापति था और गर्ग नामक ब्राह्मण उसका मंत्री था। उसका प्रशासन अच्छे सिद्धांतों पर आधारित था और नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख उसकी प्रशंसा करते हुए उसे 'समकार' अर्थात उचित और अनुचित का विचार कर योग्यता अनुसार कर लगाने वाला कहता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि धार्मिक दृष्टि से स्वयं बौद्ध होते हुए भी उसने अपने राज्य में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर गर्ग जैसे योग्य ब्राह्मणों की नियुक्ति की और बौद्धों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भी भरपूर दान देता रहा। उसकी सबसे बड़ी कीर्ति भागलपुर नगर से चौबीस मील पूर्व में स्थित आधुनिक पाथरघाटा नामक स्थान पर विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना थी। जो कालांतर में बौद्ध विद्या का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। मूलतः यह विद्या केन्द्र एक बौद्ध विहार के रूप में स्थापित हुआ था। उसका शासन काल लगभग 40-50 वर्षों का प्रतीत होता है। किंतु अब तक खालिमपुर और नालन्दा से उसके केवल दो ही अभिलेखों के प्रकाश में आने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसके महत्वपूर्ण राज्यकाल की सभी बातों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाया है।

देवपाल (लगभग 810-850 ई०)

धर्मपाल के दो पुत्र थे त्रिभुवनपाल और देवपाल। त्रिभुवनपाल बड़ा था और खालिमपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्मपाल ने उसे अपना युवराज नियुक्त किया था। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि धर्मपाल के जीवित रहते ही उसकी मृत्यु हो गयी।

अतः अगला शासक देवपाल हुआ, जो धर्मपाल की राष्ट्रकूट रानी रण्णोदेवी का पुत्र था। देवपाल अपने वंश का [illegible] विजेता सिद्ध हुआ और अपने पिता की ही तरह उसने भी परमेश्वर, परमभट्टारक और महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण की। उसकी विजयों का उल्लेख उसके मुंगेर ताम्रपत्र, नारायण पाल के बादल व भागलपुर से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से होता है।

देवपाल की विजयें: देवपाल की विजयों के संबध में स्वयं मुंगेर अभिलेख की सूचना है कि उसकी विजययात्रा ने उसे विंध्यपर्वत और कम्बोज तक प्रयाण किया। यह भी सूचना मिलती है कि देवपाल ने रामचन्द्र द्वारा बाधेगमपुल (सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम से आगे) के पास तक के प्रदेशों पर शासन किया। नारायणपाल का बादल स्तम्भ लेख इस सूचना में कुछ और जोड़ते हुए बताता है कि देवपाल के मंत्री दर्पपाणी की सफल कूटनीति ने रेवा से लेकर गौरी के पिता हिमालय तक के बीच के प्रदेशों और पूर्व और पश्चिम समुद्रपर्यन्तों तक देवपाल का करद बना दिया। इसी अभिलेख में यह भी कहा गया है कि दर्पपाणी के पौत्र केदार मिश्र की कुशाग्र बुद्धि की सहायता से देवपाल ने उत्कलों को उखाड़ फेंका, हुणों का दर्प चूर किया एवं द्रविड़ तथा गुर्जर राजाओं के घमण्ड बिखेर कर समुद्र से घिरी सारी पृथ्वी का उपयोग किया। नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख उसके बादल स्तम्भ लेख की उपर्युक्त सूचनाओं का आंशिक समर्थन करते हुए यह कहता है कि देवपाल के भाई और सेनापति जयपाल के सामने उत्कल का राजा अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया। उपर्युक्त अभिलेखों की सभी बातों को यदि यथावत स्वीकार कर लिया गया तो प्रतीत होगा कि देवपाल की विजयें चारों दिशाओं में असीमित थी किंतु इन वर्णनों का आधार सही मानते हुए भी इनमें अंतरजनों की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। वास्तव में नारायणपाल के दोनों अभिलेखों में देवपाल की विजयों का वर्णन मुख्य विषय बनाया गया है, उससे भी बडा उद्देश्य उनका यह प्रतीत होता है कि उसके दो मंत्रियों दर्पपाणि और केदार मिश्र की कूटनीति की प्रशंसा की जाए किंतु इन लेखों के साक्ष्य को यथावत स्वीकार करते हुए डा० आर.सी. मजूमदार ने यह माना है कि 'असम से लेकर कश्मीर तक के समस्त उत्तर भारतीय क्षेत्रों द्वारा उसकी अधिसत्ता स्वीकृत की तथा उसकी विजयिनी सेनाओं ने सिन्धु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक हेमालय से लेकर विंध्यपर्वत तक और भारत के दक्षिण छोरों तक प्रयाण किया।' इस निष्कर्ष के अनुसार यह मानना होगा कि देवपाल अपने समय का सम्पूर्ण भारत का एकमात्र शासन करने वाला सम्राट था जिसकी आज्ञाओं को कोई चुनौती नहीं दे सकता था किंतु इस प्रकार का निष्कर्ष निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके समकालीन प्रतीहार सम्राट नागभट्ट द्वितीय, रामभद्र और मिहिर भोज थे। इनमें रामभद्र तो कमजोर था किंतु नागभट्ट और भोज बड़े शक्तिशाली थे जिनके सकारात्मक यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि देवपाल सारे उत्तर भारत का सम्राट बन बैठा हो। सम्भवतः इसी कारण स्मिथ, बैनर्जी और कीलहॉर्न जैसे कुछ विद्वानों ने देवपाल की विजयों से संबंधित बादल स्तम्भ लेख और भागलपुर अभिलेख के उल्लेखों को 'कोरी कडी बात' कहकर अवमूल्वित करने का प्रयास किया है।

इस अवस्था में हमें देवपाल की विजय सम्बन्धी साक्ष्यों का एक–एक करके विवेचन करना चाहिये। स्वयं देवपाल के मुंगेर अभिलेख में कहा गया है कि उसकी सेनाएं विंध्यपर्वत और काम्बोज तक गई। विन्ध्यपर्वत से तात्पर्य यहां सम्भवतः मध्य भारत की ओर है जहां उसने हुणों को गर्व शून्य किया जिनका उल्लेख बादल अभिलेख में आता है। हुण भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमी प्रान्त से लेककर मध्य भारत तक सर्वत्र फैले हुए थे और उनकी चर्चा बाणभट्ट, हेनसांग से प्रारम्भ होकर आगे लगभग सभी अभिलेखों के सर्वत्र प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त नर्मदा से लेकर हिमालय तक दोनों समुद्रों के बीच के समस्त क्षेत्रों से करद बना देने की चर्चा नारायणपाल के अभिलेख में आती है, यह केवल प्रशंसा और राजकवि की चाटुकारिता मात्र ही पड़ती हैं। इस प्रकार वर्णन प्रायः प्राचीन भारत के अभिलेखों और साहित्यिक साक्ष्यों में कवियों और लेखकों द्वारा नायक स्वामी की प्रशंसा में प्राप्त होती है जिन्हें कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।

बादल स्तम्भ लेख की सूचना है कि देवपाल ने द्रविड़ और गुर्जर राजाओं का दर्प चूर किया। यहां द्रविडा से उल्लेख के तात्पर्य कभी–कभी राष्ट्रकूटों से लगा लिया जाता है, जो पालों के वैसे ही शत्रु थे जैसे गुर्जर प्रतीहार। किंतु राष्ट्रकूट प्रायः 'कर्णाट' तथा 'दक्षिणात्य' नाम से पुकारे जाते थे। उनके निजि अभिलेख भी द्रविड़ों को उनसे भिन्न मानते हैं। उदाहरण के लिए अमोघवर्ष प्रथम के संजन ताम्रपत्र अभिलेख में यह चर्चा है कि जगतुंग ने द्रविडो को अपने अधीन किया। ऐसी स्थिति में पाल अभिलेखों में वर्णित द्रविड़ों की पहचान राष्ट्रकूटों से नहीं की जा सकती। विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा ने उनकी पहचान कांची के पल्लवों से की है जिसे स्वीकार किया जा सकता है। इस पहचान का इस बात से भी समर्थन होता है कि स्वयं देवपाल का मुंगेर अभिलेख उस सुदूर दक्षिण की भूमि पर शासन करने का श्रेय देता है। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि विन्ध्य उड़ीसा और सुदूर दक्षिण के द्रविड़ प्रदेशों पर देवपाल ने अभियान किए। इनका उद्देश्य यह था कि राष्ट्रकूटों को उत्तर, पूर्व और दक्षिण से दबाकर अपने ही क्षेत्रों में रहने को सीमित कर दिया जाए।

देवपाल की विजयों के संबंध में अन्तिम चर्चा यह है कि गुर्जरों से उनके संबंध की अथवा उन पर उसकी विजय की। वह कौन सा गुर्जर शासक था जिसका घमण्ड उसने तोड़ा। मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में रामभद्र के संबंध में उल्लेख है कि उसने अपने सर्वोत्तम घोड़ों वाले सामन्तों से शत्रुओं की सेवाओं के नायकों को बलपूर्वक बंधवाया। बहुत से विद्वानों का यह अनुमान है कि शत्रु सेना के ये नायक देवपाल के ही नायक थे, जिन्होंने प्रतीहार सेना से कोई-संघर्ष किया था। किंतु ध्यान देने पर देवपाल के बादल स्तम्भ लेख और ग्वालियर प्रशस्ति के ये दोनों साक्ष्य परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं और दानों ही पक्ष अपनी–अपनी विजय का दावा करते दिखाए गए हैं। इसके अतिरिक्त मिहिर भोज के वराह और दौलपुर अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि रामभद्र के कमजोर शासन के दिनों में व्यवहारिन नामक अधिकारियों की अयोग्यता से क्रमशः कालंजर मण्डल और गुर्जरात्र भूमि के कुछ दान पत्र प्राप्तकर्ताओं की दान में प्राप्त अपनी भूमि के उपयोग से वंचित होना पड़ा था। ऐसा अनुमान लगाया है कि यह सारी स्थिति रामभद्र के कमजोर शासन की ओर इशारा करती है, जबकि यह असम्भव है कि देवपाल ने उस पर आक्रमण कर दिया हो। किंतु एक तो उपर्युक्त दोनों अभिलेख रामभद्र की निजी कमजोरी का उल्लेख न करके उसके अधिकारियों की अयोग्यता की चर्चा करते हैं और दूसरी स्वयं बादल स्तम्भ लेख में देवपाल की गुर्जरराज पर विजय का उल्लेख उसके मंत्री केदार मिश्र के मंत्रीत्व काल की घटना बतायी गयी है। यहां केदार मिश्र देवपाल के प्रथम मंत्री दर्पपाणी का पौत्र था। अतः गुर्जरों से मुठभेड़, देवापाल के शासन के अन्तिम समय की घटना प्रतीत होती है। यह असम्भव नहीं है कि उसका संघर्ष मिहिर भोज से हुआ हो। मजूमदार ने यह माना है कि लगभग 840-50 ई० के बीच देवपाल के दबाव के कारण भोज को अनेक आक्रमणों और विद्रोह का सामना करना पड़ा। उनके मतानुसार इसी बीच जोधपुर की प्रतीहार शाखा विद्रोह कर भोज के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गई। किंतु अन्य साक्ष्यों का यदि सूक्ष्म रूप से विवेचन किया जाए तो प्रतीत होगा कि मजूमदार की इन कल्पनाओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। यह सम्भव है कि भोज को अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अपनी पूर्वी सीमाओं पर देवपाल का कुछ दबाव सहना पड़ा हो। किंतु इन दबावों से उसकी कोई हानि नहीं हुई और वह पालों के मुकाबले और अधिक शक्तिशाली होते गये और सम्भवतः स्वयं उसने देवपाल पर आक्रमण कर दिया। उसका ग्वालियर से जो अतिथिक अभिलेख मिला है उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'जिस लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण था, वही बाद में भोज की 'पुनर्भु' (अर्थात दूसरी पत्नी) हो गई। इससे स्पष्ट है कि भोज ने देवपाल पर विजय पाई। इससे स्पष्ट है कि भोज ने देवपाल पर विजय पाई। इस निष्कर्ष का समर्थन गोरखपुर के कलचुरियों के कहला अभिलेख से भी होता है। ये कलचुरी प्रतीहारों के सामन्त थे। पहले अभिलेख में कहा गया है कि 'भोज से भूमि प्राप्त करने वाले गुणाम्बोधिदेव नामक कलचुरी सामन्त ने गौड़राज की लक्ष्मी का हरण कर लिया।' यह गौड़राज देवपाल ही प्रतीत होता है। चूंकि गुणाम्बोधिदेव जैसे एक साधारण सामंत के लिए यह असम्भव रहा होगा कि वह अपनी सीमित शक्ति और सेना से गौड़राज की महान सैनिक सत्ता को चुनौती देकर विजय प्राप्त कर लेता। अतः यही मानना अधिक समचीन होगा कि उसने भोज के देवपाल के ऊपर आक्रमण में ही भाग लिया था और कई दशकों बाद उसके एक वंशज ने कहला अभिलेख में भोज की प्रशंसा न कर गुणाम्बोधिदेवा को ही गौड़राज पर विजय का श्रेय दे डाला। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भोज और देवपाल में दो संघर्ष हुए और सम्भवतः दोनों उनके राज्यों की आपस में टकराने वाली सीमाओं पर हुए थे, जिनमें पहले तो देवपाल भारी पड़ा, किंतु उसकी वृद्धावस्था वाले दूसरे संघर्ष में विजय भोज के हाथ लगी।

देवपाल के उत्तराधिकारी: देवपाल का राज्यपाल नामक कोई पुत्र था, जो उसके शासन के 33वें तक जीवित था। वह देवपाल द्वारा युवराज भी नियुक्त किया गया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि या तो अपने पिता के सामने ही राज्यपाल की मृत्यु हो गयी थी अथवा उससे गद्दी विग्रहपाल ने हथिया ली थी। देवपाल के बाद विग्रहपाल को ही नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख पाल राज्य का उत्तराधिकारी बतलाता है किन्तु इसके विपरीत बादल स्तम्भ लेख देवपाल और नारायण पाल के बीच में शूरपाल नामक एक शासक बताता है। विग्रहपाल और शूरपाल एक ही व्यक्ति था अथवा ये अलग–अलग दो व्यक्तियों के नाम हैं इसे निश्चित रूप से बताने का कोई साधन नहीं है। वी.पी. सिन्हा जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि देवपाल के बाद पाल राज्याधिकार के आपसी झगड़ों फंस गया था और कुछ समय के लिए अंग, बंग और मगध जैसे अनेक भागों में अलग–अलग राजाओं ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। जो भी हो, विग्रहपाल–शूरपाल का शासन अति लघु था और उस समय की न तो कोई राजनीतिक घटना ज्ञात होती है और न अन्य कोई जानकारी मिलती है।

नारायण पाल (लगभग 854-915 ई०)

विग्रहपाल की पत्नी लज्जोदेवी से उत्पन्न नारायणपाल गद्दी पर बैठा। किंतु गुर्जर–प्रतीहारों ने उसका समकालीन शासक महेन्द्रपाल प्रथम उससे अधिक शक्तिमान था। जिसके सामने उसे झुकना ही नहीं पड़ा अपितु कुछ दिनों तक अपने राज्य के बहुत बड़े भागों से भी हाथ धोना पड़ा। नारायणपाल को अपने शासन काल के आरम्भिक वर्षों में दक्षिणापथ से राष्ट्रकूटों

का आक्रमण भी नही सहना पडा। अमोघवर्ष प्रथम के नीलगुण्ड और पिरूस अभिलेखो से पता चलता है कि अंग बंग और मगध के राज्य उसकी पूजा करते थे। नारायण पाल के पूरे शासन काल के दौरान प्रतीहारों और राष्ट्रकूटो का डर दबाव बना रहा।

राज्यपाल: नारायणपाल का पुत्र राज्यपाल लगभग 915 ई० में राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। नालन्दा और कुर्किहार नामक स्थानों से उसके जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनसे केवल यह ज्ञात होता है कि उसने ऊंचे–ऊंचे मन्दिरों का निर्माण करवाया। उसकी रानी भाग्यदेवी राष्ट्रकूट शासक तुंगदेव की पुत्री थी। इस विवाह के माध्यम से पालो का राष्ट्रकूटों से सम्बन्ध कुछ सुधर गया।

गोपाल द्वितीय: राज्यपाल का उत्तराधिकारी गोपाल द्वितीय था जो उसकी पत्नी भाग्यदेवी से उत्पन्न हुआ था। बिहार और बंगाल से उसके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो उन प्रदेशों पर उसके प्रशासनिक अधिकार की पुष्टि करते हैं। इनसे यह भी प्रमाणित होता है कि उसने कम से कम 17 वर्षों तक शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र विग्रहपाल द्वितीय शासक हुआ जो अत्यंत कमजोर प्रतीत होता है। उसकी राजनीतिक विपत्तियों का प्रमाण उसके पुत्र महीपाल प्रथम के बानगढ़ अभिलेख से प्राप्त होता है। जिसमें उसके अनेक दिशाओं में अपनी सेना के साथ भटकते फिरने का स्पष्ट उल्लेख है। ये वर्णन देखने में तो ऐसे लगते हैं कि मानो वे उसकी सैनिक और राजनीतिक विपत्तियों की ही अप्रत्यक्ष रूप से सूचना देते हो। यह निष्कर्ष इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि बानगढ़ अभिलेख के जिस श्लोक में विग्रहपाल की इस बात के लिए प्रशंसा की गयी है कि उसने अपने सभी शत्रुओं को मारकर अपने उस पैतृक राज्य को वापस लिया जिसे उन शत्रुओं ने अपना कोई अधिकार न होते हुए भी अपनी शक्ति के घमण्ड से छीन रखा था।' इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि विग्रहपाल को किसी शत्रु के आक्रमण के परिणामस्वरूप कदाचित अपनी राजगद्दी भी कुछ दिन के लिए छोड़ी पड़ी थी और उसी समय अपनी सेनाओं के साथ विभिन्न दिशाओं में भटकना पड़ा।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये शत्रु कौन थे जिन्होंने विग्रहपाल को इधर–उधर भटकने के लिए बाध्य किया। गोपाल द्वितीय के शासन काल के छठे वर्ष का एक अभिलेख उत्तरी बंगाल के जाजिलपाड़ा नामक स्थान से मिला है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय तक पालो का उन प्रदेशों पर अधिकार था। किन्तु साथ ही दिनाजपुर से प्राप्त एक स्तम्भ लेख में एक ऐसे काम्बोज राजा की चर्चा आई है जिसने दुर्दाम शत्रु सेनाओं को पीछे धकेलने में सफलता पाई। इस अभिलेख की तिथि निश्चित नहीं है। किंतु प्रायः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि किसी काम्बोज वश ने विग्रहपाल द्वितीय को अनाधिकृत करके उत्तरी बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया था। ये काम्बोज मूलतः तिब्बत, भूटान और हिमालय के पूर्व में स्थित प्रदेशों के रहने वाले थे जो नीचे उतरकर उत्तरी बंगाल पर छा गये थे। काम्बोजों के अलावा पालो के दूसरे शत्रु थे चन्देल जो खजुराहो, कालंजर, महोबा क्षेत्रों से आगे बढ़कर चारों ओर धावे बोलना आरम्भ कर चुके थे। कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार की अवनति के कारण उत्तर भारत में ऐसी कोई शक्तिशाली सत्ता नहीं थी जो चन्देल वंश के यशोवर्मा और धंग जैसे शासकों को सफलतापूर्वक चुनौती दे सकती। इनमे यशोवर्मा बहुत बड़ा विजेता हुआ। यह निश्चित प्रतीत होता है कि पाल शासकों को इन चन्देल आक्रमणों के सामने झुकना पड़ा। यही नहीं बघेलपुर के कलचुरि शासकों के प्रथम युवराज और उसके पुत्र लक्ष्मीराज ने भी पालो के क्षेत्रों पर आक्रमण किए। विभिन्न दिशाओं से पालो पर किए जाने वाले ये आक्रमण इस बात के द्योतक हैं कि गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय के समय में पाल सत्ता बड़ी ही जर्जर और शिथिल हो गयी थी। उनके अधिकार में अब केवल अंग और मगध मात्र शेष बचे रहे प्रतीत होते हैं।

महीपाल प्रथम: विग्रहपाल द्वितीय का पुत्र महीपाल दसवीं सदी के नवें–दसवें दशकों के बीच कभी राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण के समय पाल राज्य की स्थिति अत्यन्त खराब थी। बाहरी आक्रमणों के कारणों पालो का शासन अब केवल अंग और मगध तक ही शेष रह गया था। महीपाल ने राजगद्दी पर बैठते ही शत्रुओं से निबटने का काम प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही दिनों में बंगाल से निकलकर स्वयं पूर्वी और दक्षिणी बंगाल से लेकर पश्चिम में वाराणसी तक के प्रदेशों का स्वामी बन गया।

उत्तरी और दक्षिणी बिहार से भी महीपाल के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। नालन्दा से उसके 11वें वर्ष के दो अभिलेख मिले हैं जो क्रमशः उसकी बौद्ध धर्मपरायणता के साथ यह सूचित करते हैं कि उसने एक प्राचीन टूटे हुए मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। इसी प्रकार गया जिले के कुर्किहार और पटना जिले के तितरवा नामक गावों से भी उसके अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो इन सभी क्षेत्रों पर उसके अधिकार को प्रमाणित करते हैं। उसके शासन के अन्तिम भागों में अंग पर भी उसका अधिकार हो गया था, जहां मुजफ्फरपुर जिले के इमादपुर नामक स्थान से उसने अपने शासन के 48वें वर्ष में एक अभिलेख प्रकाशित करवाया था।

1026 ई० के एक सारनाथ अभिलेख से पता चलता है कि महिपाल ने सारनाथ में बहुत से विहारों और मन्दिरों का निर्माण करवाया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने बिहार से लेकर वाराणसी तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार किया था।

महीपाल प्रथम को चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। यह आक्रमण 1021 ई० और 1025 ई० के बीच किसी समय हुआ था। उसने एक विशाल सेना के साथ पूर्व की ओर प्रस्थान कर दिया और महीपाल के साम्राज्य से बाहर स्थित स्वतंत्र राज्यों को रौंदता हुआ वह उसके साम्राज्य में भी प्रवेश कर गया। विजय प्राप्त करने के पश्चात चोल सेना गंगाजल लेकर अपने प्रदेश वापस लौट गई। अतएव इस आक्रमण का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि इस आक्रमण से *महीपाल प्रथम के साम्राज्य को कोई क्षति नहीं हुई।*

महीपाल प्रथम को कलचुरि नरेश गांगेयदेव से भी 1026 ई० तथा 1034 ई० के बीच किसी समय लोहा लेना पड़ा था। कलचुरि वंश के लेखों से हमें ज्ञात होता है कि गंगेयदेव ने अंगराज को परास्त कर दिया था। विद्वानों ने अंगराज की पहचान महीपाल प्रथम से की है। *वैहाकी नामक मुसलमान लेखक से हमें ज्ञात होता है कि 1034 ई० में वाराणसी गांगेयदेव के अधिकार में था। अतएव* यह अनुमान लगाया गया है कि गांगेयदेव ने महीपाल को परास्त कर वाराणसी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

1038 ई० में महीपाल प्रथम की मृत्यु हो गई और वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ गया।

मूल्यांकनः इसमें सन्देह नहीं कि महीपाल प्रथम बड़ा ही प्रतिभावान, प्रतापी, वीर, साहसी, महत्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी सम्राट था। अपने पूर्वजों के मरणासन्न साम्राज्य को अनुप्रणित करने का श्रेय उसे ही प्राप्त है। चूंकि वह उस जर्जरित और बिखरे हुए साम्राज्य को नवजीवन प्रदान करने और उसकी सीमाओं को विस्तृत करने में सफल हुआ। इसलिए उसे पाल साम्राज्य के जीर्णोद्धार करने का श्रेय मिलना चाहिये। परंतु जहां तक उसके जीवन का यह उज्ज्वल पक्ष है वहां चन्द्रवत तथा चरित्र कालिमा से भी रिक्त नहीं है जिस समय सुक्तगीन तथा मुहम्मद गजनवी के आक्रमण भारत पर हो रहे थे और देश की स्वतंत्रता संकट में पड़ गई थी उसे समय उसका सहयोग स्वतंत्रता संग्राम के उन सेनापतियों को प्राप्त न हो सका जो संयुक्त मोर्चा बनाकर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार हो गये थे। सम्भवतः अपने साम्राज्य को सुदूर पूर्व में स्थित होने के कारण वह उसे पूर्णरूपेण सुरक्षित समझता था और उसकी उदासीनता का यही प्रमुख कारण होगा।

महीपाल प्रथम न केवल एक वीर और विजेता था वरन् एक सक्षम निर्माणकर्ता भी था। उसने सारनाथ में अनेक मन्दिरों तथा विहारों का निर्माण करवाया था। उसने नालन्दा तथा बौद्ध गया में भी बहुत से नगरों ओर अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में सड़कों का भी निर्माण करवाया था। सारांश यह है कि एक वीर विजेता ओर एक साम्राज्य निर्माता के साथ–साथ वह कुशल शासक तथा निर्माणकर्ता भी था। यही कारण है कि पाल नरेशो में उसे प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया जाता है।

नयपालः महीपाल प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नयपाल 1038 ई० में गद्दी पर बैठा। उसके शासन काल की एक घटना की केवल जानकारी हमें प्राप्त है और वह है कलचुरि पाल संघर्ष। तत्कालीन कलचुरि कर्ण ने नयपाल पर आक्रमण कर दिया और उसके साम्राज्य के बहुत से विद्वानों को गिरा दिया परंतु अंत में विजय नयपाल को ही प्राप्त हुई। 1055 ई० में *नयपाल की मृत्यु हो गयी।*

विग्रहपाल तृतीयः 1055 ई० में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त विग्रहपाल तृतीय सिंहासन पर बैठा। नयपाल के शासन काल में जो पाल कलचुरि संघर्ष आरम्भ हुआ था उसकी निरन्तरता इस काल में भी बनी रही और कलचुरि नरेश कर्ण ने विग्रहपाल पर आक्रमण कर दिया परंतु विग्रहपाल ने उसे परास्त कर दिया। अंत में दोनों में संधि तथा मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हो गये और कर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल के साथ कर दिया।

विग्रहपाल का चालुक्य वंशों के साथ भी संघर्ष हुआ। इन दिनों चालुक्य नरेशों सोमेश्वर प्रथम बड़ा ही शक्तिशाली हो गया था और वह अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था। कुछ अभिलेखों के अनुसार उसने वंग तथा मगध पर भी विजय प्राप्त प्राप्त कर ली थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सोमेश्वर प्रथम ने विग्रहपाल तृतीय को परास्त कर दिया और मगध पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था परंतु शीघ्र ही वह वापस लौट गया ओर इस प्रकार विग्रह पाल को कोई विशेष क्षति नहीं पहुंची। अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि मगध और गौड़ पर विग्रहपाल का अधिकार था। 1070 ई० में विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु हो गयी।

महीपाल द्वितीयः विग्रहपाल तृतीय के बाद उसका पुत्र महीपाल तृतीय सिंहासन पर बैठा। विग्रहपाल के शूरपाल तथा रामपाल नाम के दो अन्य पुत्र थे, कुछ लोगों ने महीपाल द्वितीय के कान भरे कि उसके दोनों भाई उसके विरुद्ध षडयंत्र रच रहे हैं।

बिना वास्तविकता का पता लगाए बिना ही महीपाल ने उन दोनों को कारागार में डाल दिया।

महीपाल को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसके सामंतों ने उसके विरुद्ध संगठन बनाकर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उस पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। कुछ समय पश्चात कैवर्त जाति के एक दिव्य नामक पदाधिकारी ने महीपाल की हत्या कर दी और वरेन्द्री तथा उत्तरी बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया।

शूरपाल: महीपाल द्वितीय की मृत्यु के पश्चात पाल राज्य में जो अव्यवस्था तथा अशांति फैली उससे लाभ उठाकर उसके दोनों भाई अर्थात शूरपाल और रामपाल जो कारागार में बंद थे बाहर निकल आए। चूंकि शूरपाल बड़ा भाई था अतएव शासन का भार उसी ने ग्रहण किया। शूरपाल ने केवल दो ही वर्ष शासन किया अब पाल साम्राज्य केवल उत्तरी तथा मध्य बिहार तक ही सीमित रह गया।

रामपाल: शूरपाल के बाद उसका छोटा भाई रामपाल सिंहासन पर बैठा। उसने बिखरे हुए पाल साम्राज्य को एकत्र कर फिर से जोड़ने की कोशिश की। सर्वप्रथम उसने अपने सामंतों की सहायता से उत्तरी बंगाल पर आक्रमण किया। इन दिनों उत्तरी बंगाल में भीम नामक व्यक्ति शासन कर रहा था जो बड़ा योग्य तथा कुशल सेनापति था। युद्ध में रामपाल ने भीम को पराजित कर दिया और सपरिवार उसकी हत्या करके उत्तरी बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

इन दिनों पूर्वी बंगाल में यादव वंशीय नरेश हरिवर्द्धन शासन कर रहा था। रामपाल ने उस पर आक्रमण कर दिया। हरिवर्द्धन आतंकित हो उठा और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार पूर्वी बंगाल पर भी रामपाल का प्रभुत्व स्थापित हो गया। कामरूप तथा असम पर भी आक्रमण करके रामपान ने उसे अपने अधीन कर लिया।

इन दिनों उत्कल में उत्तराधिकार के लिए गृहयुद्ध चल रहा था और दो राजकुमार सिंहासन के लिए प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे। रामपाल ने एक का पक्ष लिया तथा उत्कल का राजा बना दिया किंतु कुछ समय पश्चात दूसरे राजकुमार कर्ण कलचुरी ने गंग नरेश की सहायता से उत्कल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार उत्कल में रामपाल का हस्तक्षेप निश्चित सिद्ध हुआ।

रामपाल को अपने समकालीन दो गहड़वाल नरेशों चन्द्रदेव तथा मदनपाल के साथ युद्ध करना पड़ा। रामचरित नामक ग्रंथ से हमें ज्ञात होता है कि रामपाल के सामन्त भीम यश ने कान्यकुब्ज नरेश चन्द्रदेव को परास्त कर दिया। किंतु चन्द्रदेव के पुत्र तथा उत्तराधिकारी मदनपाल ने रामपाल से अपने पिता की पराजय का बदला ले लिया। रहन अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि कन्नौज के राजकुमार गोविन्दचन्द्र ने गौड़ नरेश की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

ऐसा कहा जाता है कि 1120 ई० में रामपाल के मामा मथनदेव की मृत्यु हो गयी। उससे रामपाल के हृदय पर ऐसा गहरा आघात लगा कि उसने गंगा में डूबकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी।

कुमारपाल: अपने पिता रामपाल की मृत्यु के पश्चात 1120 ई० में कुमारपाल सिंहासन पर बैठा। वह एक निर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके काल में बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह हुए जिनके कारण पाल साम्राजय पतन की ओर चला गया।

मिथिला के नरेश मान्यदेव ने कुमारपाल पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र ने भी इसे पराजित कर दिया ओर पश्चिमी मगध के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। गंगनरेश अनन्तवर्मन ने इस स्थिति का लाभ उठाकर दक्षिणी तथा पश्चिमी बंगाल के कुछ भागों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

बाह्य आक्रमणों तथा उसकी दुर्बलता से लाभ उठाकर उसके सामन्तों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इसके दो सामन्त यक्षपाल तथा वर्णयान ने मगध में अपने-अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। इस प्रकार उसका साम्राज्य संकीर्ण हो गया और पतनोन्मुख हो गया।

1125 ई० में कुमारपाल की मृत्यु हो गई और उसके साथ उसका साम्राज्य भी उसी दिशा की ओर अग्रसर हो गया।

यद्यपि कुमारपाल के बाद गोपाल तृतीय, मदनपाल तथा गोविन्दपाल नामक पाल शासकों के हमें नाम मिलते हैं लेकिन ये सभी कमजोर शासक थे जो पाल साम्राज्य के पतन को बचा नहीं सके।

अध्याय 6

राष्ट्रकूट वंश
The Rashtrakoot

राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। डा० फ्लीट का विचार है कि राष्ट्रकूट वास्तव में उत्तर के राठौरों के वंशज थे। बर्नेल का विचार था कि वे आंध्रप्रदेश के द्रविड़ रड्डियों से संबंधित थे। किंतु सर्वाधिक सम्भावना यही है कि मलखेद के राष्ट्रकूट राष्ट्रिकों या राठिकों के वंशज थे जो तीसरी शताब्दी ई० पूर्व के मध्य में इतने महत्वूपर्ण थे कि अशोक के अभिलेखों में भी उनका उल्लेख मिलता है।

ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रकूटों का नाम एक शासकीय पदवी के नाम से बना। कई रिकार्डों में राष्ट्रकूट नामक पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं जिसका अर्थ है राष्ट्र या जिले का प्रमुख। राष्ट्रकूट राजवंशियों ने नौवीं शताब्दी में दावा किया है कि वे महाभारत के यदुवंश से संबंधित थे। राष्ट्रकूट शासकों के राजकवियों ने 808 ई० तक राष्ट्रकूट वंश की तुलना यदुवंश से की । यह भी कहा कि गोविन्द तृतीय के जन्म से राष्ट्रकूट वंश उसी प्रकार अजेय हो गया जिस प्रकार मुरारी या कृष्ण के जन्म से यदुवंश अजेय हो गया था। 871 ई० के संजान अनुदान के लेखक ने कृष्ण को राष्ट्रकूट वंश का आदिपूर्वज बताया और राष्ट्रकूट वंश को 'यादवान्वय' कहा। बाद में प्रलेखों में राष्ट्रकूटों को रत के वंशज बताया जो तुंग वंश का था और यदु वंश को सात्यकी शाखा से था। लगभग आठवीं शताब्दी के मध्य में बादामी के चालुक्यों के पतन से पहले भी राष्ट्रकूट नामक कई व्यक्ति और वंश दक्षिण के विभिन्न भागों में राज्य कर रहे थे। प्रतीत होता है कि लगभग 742 ई० में राष्ट्रकूट वंशी गोविन्दराज चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के अधीन सतारा–रत्नागिरी प्रदेश में राज्य करता था। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि पांचवी और छठी शताब्दी ई० में उसी प्रदेश में राज्य करने वाले राष्ट्रकूट वंश से उसका कोई संबंध था या नहीं। एक ओर राष्ट्रकूट परिवार सातवीं और आठवीं शती ई० में मध्यप्रदेश के बेतुल और एलियपुर जिलों में राज्य कर रहा था।

अभिलेखों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि राठिक और महारथी परिवार महाराष्ट्र और कर्नाटक के कुछ भागों में सामन्ती शासकों के रूप में राज्य करते थे। डा० अल्तेकर कहता है कि उनका मूल निवास कर्नाटक में था और उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। कई अभिलेखों में उन्हें 'श्रेष्ठ नगर अट्टलूर के स्वामी' कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के बीदर जिले में लटूर नामक एक कन्नड़भाषी स्थान है। यह विचार कुछ अन्य विद्वानों के मत से भिन्न है कि मलखेद के राष्ट्रकूट महाराष्ट्र के निवासी थे।

राष्ट्रकूट वंश का उदय: राष्ट्रकूट वंश का सर्वप्रथम शासक राजा इन्द्र प्रथम था। उसके ध्रुव, कृष्ण और नन्नराज नामक तीन भाई थे। इन चारों भाईयों में इन्द्र सबसे अधिक योग्य एवं महत्वाकांक्षी था। उसके पूर्वज सामन्त के रूप में शासन करते थे किंतु अपने वंश की सत्ता को सुदृढ़ बनाने का श्रेय इन्द्र प्रथम को ही प्राप्त था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह भी गुर्जर चालुक्य नरेश मंगलरस का सामन्त था। संजन ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि इन्द्र प्रथम ने अपने स्वामी चालुक्य नरेश की पुत्री भवनागा के साथ राक्षस विवाह कर लिया था। कहा जाता है कि जब भवनागा का विवाह संस्कार हो रहा था तब इन्द्र उसे बलपूर्वक भगा ले गया और उसके साथ राक्षस विवाह कर लिया। यह घटना संम्भवतः 722 ई० के आसपास घटी होगी।

दन्तिदुर्ग: दन्तिदुर्ग इस वंश का एक महान शासक था। मान्यखेद के राष्ट्रकूटों का महत्वपूर्ण काल दन्तिदुर्ग के अधीन प्रारम्भ हुआ। उसके राज्यकाल में अभिलेखों से दन्तिदुर्ग के विजय अभियान का एक भव्य चित्र प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि उसमें माही, महानदी और रिवा नदियों पर युद्ध किये और कांची, कलिंग, कौशल, श्रीन्शैल, मालव, लाट और टंका पर विजय प्राप्त की। बताया जाता है कि उसने उज्जैन में हिरण्यगर्भ यज्ञ किया जिसमें "गुर्जर वंशी राजा तथा अन्य राजाओं को द्वारपाल बनाया गया।" उसने चालुक्य राजा को भी परास्त किया और वल्लमी पर भी विजय पाई। उसने चालुक्यों से सर्वोच्च अधिकार छीन लिया और "हिमालय के सेतु तक सभी अभिमानी राजाओं के चक्र को परास्त किया।

डा० अल्तेकर कहते हैं कि यद्यपि दन्तिदुर्गको ही राष्ट्रकूटों के गौरव को उच्च शिखर पर ले जाने का श्रेय है तथापि उसकी विभिन्न विजयों की ठीक तिथि के अनुसार प्रस्तुत कर पाना कठिन कार्य है। उनके अनुसार कुछ विजयें उस समय प्राप्त जब वह चालुक्यों का अधिनस्थ शासक था। चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य द्वितीय और पुलकेशिन ने अरबों को खदेड़ने के लिए जिस अभियान का आयोजन किया उसमें दन्तिदुर्ग ने भी भाग लिया। लगभग 738 ई० में एक रक्तपात पूर्ण युद्ध हुआ जिसमें अरबों की ऐसी बुरी पराजय हुई कि इन्होंने गुजरात पर फिर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। चालुक्य सम्राट इतना प्रसन्न हुआ कि उसने दन्तिदुर्ग को

'पृथ्वीवल्लभ' और 'खडगावलोक' की उपाधियां प्रदान की। लगभग 743 ई० में कांची के विरुद्ध विक्रमादित्य द्वितीय के अभियान में भी दन्तिदुर्ग ने भाग लिया और पल्लवी पर प्राप्त विजय के श्रेय का भागीदार बना।

747 ई० में विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु के बाद दन्तिदुर्ग ने अपना विजय अभियान आरम्भ किया। किन्तु उसने चालुक्य सम्राट के साथ संघर्ष नहीं किया। उसने नन्दीपुरी के गुर्जर राज्य को नष्ट कर दिया। उस प्रदेश पर राज्य करने के लिए उसने अपने भतीजे को नियुक्त किया। उसने मालवा के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया और उज्जैन हिरण्यगर्भ यज्ञ किया। पूर्वी मध्यप्रदेश पर उसने अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित किया। 750 ई० तक वह केन्द्रीय और दक्षिणी गुजरात और समस्त मध्यप्रदेश और बरार का स्वामी बन गया था। चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा द्वितीय ने दन्तिदुर्ग से युद्ध करने का निश्चय किया और उनकी सेना खानदेश में एक-दूसरे के सामने आ डटी। दन्तिदुर्ग विजयी हुआ और 753 ई० तक वह सारे महाराष्ट्र का स्वामी बन गया। दन्तिदुर्ग ने महाराजाधिराज 'परमेश्वर' और 'महाभट्टारक' उपाधियां धारण की। 758 ई० से कुछ समय पूर्व उसकी मृत्यु हुई और तत्पश्चात उसका चाचा कृष्ण प्रथम शासक बना।

कृष्ण प्रथम (758-773 ई०): चितल दुर्ग के साथ एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि दन्ति दुर्ग के कोई सतान नहीं थी इसलिए उसके उपरान्त उसका चाचा कृष्ण प्रथम राजा बना। कुछ साक्ष्यों के अनुसार कृष्ण ने दन्तिदुर्ग की हत्या करके और कुछ के अनुसार उसे पदच्यूत करके सिंहासन प्राप्त किया। यह भी सम्भव है कि दन्तिदुर्ग के संतानहीन होने के कारण उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा चाचा ही उत्तराधिकारी रहा हो और स्वाभाविक उत्तराधिकार के रूप में ही उसने सिंहासन प्राप्त किया हो।

कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने राहप्प नामक नरेश को परास्त कर राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की। डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने राहप्प का समीकरण चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन के साथ किया है और बतलाया है कि राहप्प उसका दूसरा नाम था। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि दन्तिदुर्ग ने चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा के साम्राज्य के बहुत बड़े भाग को छीन लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तिदुर्ग की मृत्यु के उपरान्त कीर्तिवर्मा ने पुनः अपनी शक्ति को बढ़ाया और अपने खोए हुए साम्राज्य को पुनः हस्तगत करना आरम्भ कर दिया था। सम्भवतः कृष्ण प्रथम ने कीर्ति वर्मा की इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उस पर आक्रमण किया था और उसे परास्त कर दिया था।

तालेगांव के अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने मैसूर प्रदेश स्थित गंगों के राज्य पर आक्रमण किया और तत्कालीन नरेश श्रीपुरुष को युद्ध में हराया था। इसी प्रकार कृष्ण प्रथम ने चालुक्यों की राजधानी वेंगी पर आक्रमण करके यहां के राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ को युद्ध में हराया था। यह आक्रमण उसके पुत्र गोविन्द के नेतृत्व में किया गया था। इस युद्ध में गोविन्द को विजय प्राप्त हुई और हैदराबाद का एक बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया।

खरेपट्टन के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने दक्षिण कोंकण को सणफुल्ल नामक अपने सामंत के अधीन कर 'देवराज' इससे अनुमान लगाया गया है कि कृष्ण प्रथम ने दक्षिणी कोंकण को भी जीत लिया था।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि कृष्ण प्रथम केवल एक महान विजेता ही नहीं था अपितु एक महान निर्माता भी था। एलोरा में उसने ठोस चट्टान को काटकर एक महान शिवमन्दिर बनवाया। डा० वी.ए. स्मिथ ने इस मन्दिर को "भारतीय वास्तुकला की सर्वाधिक अद्भुत कृति" माना है। इसे वास्तुकला का एक आश्चर्य माना जाता है। कृष्ण प्रथम ने 'शुभतुंग' और अकाल वर्ष उपाधियां भी धारण की।

गोविन्द तृतीय (773-780 ई०): कृष्ण प्रथम के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द तृतीय शासक बना और उसने प्रभूतवर्ष विक्रमलांक की उपाधि धारण की। यह ठीक है कि युवराज होते हुए उसने वेंगी के चालुक्य राजा को बुरी तरह परास्त किया। 'किन्तु सिंहासन पर बैठने के पश्चात् वह एक निकृष्ट व्यक्ति बन गया। वह भोग विलास में फंस गया। राज्यकार्य उसके छोटे भाई ध्रुव के हाथ में आ गया। कुछ समय पश्चात गोविन्द ने संकट के समय को पहचाना और ध्रुव को राज्य कार्य से वंचित कर दिया। ध्रुव ने विद्रोह किया और दोनों में युद्ध हुआ। युद्ध में गोविन्द परास्त हुआ और ध्रुव विजयी हुआ।

ध्रुव (780-793 ई०): ध्रुव 780 ई० में सिंहासन पर बैठा उसकी आयु उस समय लगभग 50 वर्ष की थी। उसने श्री वल्लभ और 'कालीवल्लभ' की उपाधियां धारण की। जब ध्रुव और उसके भाई गोविन्द में युद्ध छिड़ गया तब कई राजाओं ने ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द की सहायता की थी। ध्रुव ने उन्हीं राजाओं के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना उत्प्रेरित होकर युद्ध किये।

सर्वप्रथम ध्रुव ने गंगवड़ी पर आक्रमण किया जहां उन दिनों गंग वंश का नरेश शिवमार द्वितीय शासन कर रहा था। राष्ट्रकूट वंश के लेखों से ज्ञात होता है कि ध्रुव ने शिवभार द्वितीय को परास्त करके बन्दी बना लिया था। शिवभार द्वितीय के बंदी हो जाने पर उसके भाई विजयादित्य ने भी युद्ध जारी रखा किंतु उसे भी सफलता न मिली और ध्रुव ने गंगवड़ी को अपने साम्राज्य में मिला लिया। अब उसने अपने पुत्र स्तम्भ को वहां का शासक नियुक्त कर दिया।

इसके बाद उसने कांची पर आक्रमण किया। कांची में उन दिनों पल्लव नरेश दन्तिवर्मन शासन कर रहा था जिसने ध्रुव के विरुद्ध अपने भाई की सहायता की थी। ध्रुव ने दन्तिवर्मन पर भी आक्रमण कर दिया और उसे युद्ध में पराजित कर दिया। दन्तिवर्मन ने ध्रुव को बहुत से हाथी उपहारस्वरूप भेंट कर अपनी जान छुड़ाई।

कांची के बाद ध्रुव ने कन्नौज की तरफ ध्यान दिया। इन दिनों कन्नौज में इन्द्रायुद्ध शासन कर रहा था जो एक निर्बल शासक था। उज्जैयिनी के प्रतीहार नरेश वत्सराज ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और इन्द्रायुद्ध को परास्त कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। बंगाल नरेश धर्मपाल को अपने प्रतिद्वंद्वी वत्सराज की कन्नौज विजय असहनीय हो गयी। अतः उसने इन्द्रायुद्ध ने प्रतिद्वंद्वी चक्रायुद्ध को सिंहासन पर बैठाने का निश्चय किया और उस पर आक्रमण कर दिया किंतु वत्सराज ने धर्मपाल को परास्त कर दिया और उसे मार भगाया। इस प्रकार वत्सराज और धर्मपाल का युद्ध त्रिकोणीय युद्ध का आधार बन गया।

ध्रुव और वत्सराज के संघर्ष होने के दो प्रधान कारण थे। पहला तो यह कि वह भी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने में वत्सराज से होड़ करना चाहता था और दूसरा यह कि जब ध्रुव का उसके बड़े भाई गोविन्द के साथ उत्तराधिकार का युद्ध चल रहा था तब वत्सराज ने ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द की सहायता की थी। अनेक अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि ध्रुव तथा वत्सराज में जो युद्ध हुआ उसमें ध्रुव की विजय हुई और वत्सराज को मरुस्थल प्रदेश में शरण लेनी पड़ी। सम्भवतः परास्त होने के उपरान्त वत्सराज राजस्थान के मरुस्थल में भाग लिया।

वत्सराज को पराजित करने के उपरान्त ध्रुव ने पाल नरेश से लोहा लेने का निश्चय किया जो उत्तरी भारत में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने में लगा हुआ था और जो ध्रुव का प्रतिद्वंद्वी बन सकता थ। संजन तथा सूरत अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि गंगा तथा यमुना के मध्य भाग में ध्रुव ने धर्मपाल को परास्त किया था। बड़ौदा अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि उसने गंगा यमुना के मध्य वे प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

डा० अल्तेकर ठीक कहते हैं कि 'ध्रुव के राज्यकाल के अन्त में राष्ट्रकूटों की शक्ति शिखर पर थी। गंग युवराज राष्ट्रकूटों के बन्दीगृह में था और पल्लव शासक ने समर्पण करके ही आत्मरक्षा की, वत्सराज भाग गया था और धर्मपाल का पराभव हो चुका था। राष्ट्र क्रूर सर्वोच्चता को चुनौती देने के लिए देश में कोई शक्ति नहीं बची थी।"

गोविन्द तृतीय (793-814 ई०): 793 ई० में ध्रुव के पश्चात गोविन्द तृतीय शासक बना और वह 814 ई० तक राज्य करता रहा। आरम्भ में उसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। गंगवाड़ी के गवर्नर गोविन्द तृतीय के भाई स्तम्भ ने गोविन्द तृतीय के सिंहासनारोहण को चुनौती दी। अनेक सामंतों और पड़ोसियों ने स्तम्भ का पक्ष लिया। किंतु गोविन्द तृतीय स्तम्भ के नेतृत्व में बारह राजाओं के विद्रोह को समाप्त करने में सफल हुआ। गोविन्द तृतीय ने अपने भाई के साथ अत्यन्त उदार व्यवहार किया और उसे फिर गंगवाड़ी का गवर्नर बना दिया। इसके बाद स्तम्भ अपने भाई के प्रति स्वामीभक्त रहा।

गंग राजकुमार शिवमार राष्ट्रकूटों का बन्दी था। सम्भवतः स्तम्भ की आकांक्षाओं पर नियंत्रण करने के लिए गोविन्द तृतीय ने सिंहासनारोहण के पश्चात उसे मुक्त कर दिया। किंतु शिवमार ने स्तम्भ का पक्ष लिया। गोविन्द तृतीय और स्तम्भ की संधि के पश्चात शिवमार की स्थिति कठिन हो गयी। वह परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया और कैद में डाल दिया गया।

पल्लव राजा दन्तिवर्मा की गोविन्द तृतीय के प्रती आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया गया। वेगी का राजा विष्णुवर्द्धन चतुर्थ गोविन्द तृतीय का नाना था अतः उसने गोविन्द तृतीय के अधिकार को चुनौती नहीं दी। परिणामस्वरूप 795 ई० तक गोविन्द तृतीय समस्त दक्षिण भारत का निर्विवाद सर्वोच्च शासक बन गया।

गोविन्द तृतीय महत्वाकांक्षी था और उसने उत्तरी भारत में भी अपना भाग्य आजमाने का निश्चय किया। इसके लिए बहुत अधिक तैयारियां की गयी। गोविन्द तृतीय ने भोपाल और झांसी के रास्ते से प्रस्थान किया, उसका लक्ष्य कन्नौज था। प्रतीहार शासक नागभट्ट द्वितीय ने लड़ाई में गोविन्द तृतीय का सामना किया और बुन्देलखण्ड में उसका संघर्ष हुआ। गोविन्द तृतीय विजयी हुआ और नागभट्ट द्वितीय को राजपुताना की ओर भागना पड़ा। कन्नौज के नाममात्र शासक चक्रायुद्ध ने गोविन्द तृतीय के सामने बिना शर्त समर्पण कर दिया। इसे पर्याप्त समझा गया और कन्नौज तक जाकर उस पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया गया। बंगाल के शासक धर्मपाल ने भी समर्पण कर दिया। धर्मपाल का विचार था कि गोविन्द तृतीय से युद्ध न करके उसके सामने समर्पण करना ही नीतिपूर्ण होगा। उसका विश्वास था कि गोविन्द तृतीय अधिक समय तक उत्तरी भारत में नहीं रहेगा और नागभट्ट द्वितीय राजपुताना भाग गया था अतः उससे गोविन्द तृतीय के पलायन से वह स्थिति का लाभ उठा सकेगा। वास्तव में नागभट्ट द्वितीय की शक्ति को भंग करने के लिए धर्मपाल गोविन्द तृतीय का आभारी था।

यह उल्लेखनीय है कि प्रतीहार और पाल राजाओं के अतिरिक्त गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत के कई राजाओं को भी पराजित किया किन्तु गोविन्द तृतीय ने उनके प्रदेशों को अपने राज्य में नहीं मिलाया। गोविन्द तृतीय ने हिमालय तक के राज्यों क साथ युद्ध किय वह वापस आया और उसने नर्मदा के तट के साथ–साथ आते हुए मालवा, कलिंग, वंग, दहाल और औद्रक को प्राप्त करके अपन सेवकों को उनका उपभोग कराया।

उत्तर के अभियानों की तिथि के विषय में विद्वानों में बहुत विवाद है। पुराना विचार था कि उनका समय 806 ई० या 8[illegible] ई थ किंतु अब यह विचार किया जाता है कि उनका समय 802 ई० या 800 ई० था।

यह पहले भी बताया जा चुका है कि वेंगी का शासक विष्णुवर्द्धन गोविन्द तृतीय का नाना था। और 709 ई० में उसकी मृत्यु क बाद उसका पुत्र विजय विजयादित्य राजा बना। नये राजा ने गोविन्द तृतीय को चुनौती दी। उसका यह कार्य अति मूर्खतापूर्ण था क्योंकि पराजय उसके हाथ लगी। उसे गद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई को राजा बना दिया गया।

जब गोविन्द तृतीय उत्तरी भारत में था तो गंग, केरल, पाण्डेय और पल्लव वंशी राजाओं ने उससे युद्ध करने के लिए षड्यंत्र रचा किंतु गोविन्द तृतीय इन सबसे अधिक शक्तिशाली था और 802 ई० में वे पूर्णतया परास्त हो गये। लंका का राजा भी भयभीत हो गया और उसने समर्पण कर दिया। उसने गोविन्द तृतीय की दो मूर्तियां भेजी। जिन में से एक उसके मंत्री की थी और दूसरी स्वय उसकी अपनी थी। इनमें से एक मूर्ति को गोविन्द ने कांची के शिव मन्दिर में रख दिया।

डा० अल्तेकर की मान्यता है कि "गोविन्द तृतीय निःसंदेह राष्ट्रकूट सम्राटों में योग्यतम था, साहस, रणकौशल अजय सम्राज्ञा [illegible] से कुमारी अन्तरीय तथा वाराणसी और भड़ौच के बीच के सारे प्रदेश को विजय किया। वेगी पर उसी द्वारा नियुक्त किए एक व्यक्ति का राज्य था। सुदूर दक्षिण में द्रविड़ शासकों की सम्पूर्ण शक्ति पूर्णतः नष्ट हो चुकी थी। लका का राजा भी भयभीत हो कर समर्पण करने को उद्यत हो गया। इसके बाद राष्ट्रकूट साम्राज्य इतना वैभवशाली कभी नहीं हो सका।

अमोघवर्ष (814-878 ई०): गोविन्द तृतीय के पश्चात उसका पुत्र सर्व राजा बना जो अमोघवर्ष के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उसने 'नृपतुंग', 'महाराजशण्ड', 'अतिरायधवल' उपाधियां धारण की। सिंहासनारोण के समय उसकी आयु केवल 13 या 14 वर्ष थी। मृत्यु से पहले ही गोविन्द तृतीय ने राज्यकार्य सम्भवतः कर्क को सौंप दिया था। यह व्यवस्था कुछ समय तक चलती रही किंतु शीघ्र ही विनाशकारी शक्तियां सामने आ गई। राजवंश में ही फूट पड़ गयी और अंत में मंत्रीगण भी स्वामीनिष्ठा का त्यागने लगे। अधीनस्थ शासक विद्रोही हो गये। गंगवड़ी के शासक ने अपने आप को स्वतंत्र घोषित कर दिया। वेगी के राजा विजयादित्य द्वितीय ने जिसे गोविन्द तृतीय ने पदच्युत किया था, बदला लेने के लिए राष्ट्रकूट साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप देश में अराजकता फैल गयी और अमोघवर्ष सिंहासन खो बैठा। किंतु सम्भवतः अप्रैल 821 ई० से पहले उसने सिंहासन पर फिर अधिकार कर लिया। अमोघवर्ष अब भी युवक था और लम्बे समय तक उसकी स्थिति सुदृढ़ रही।

साम्राज्य के अन्दर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करके अमोघवर्ष ने विजयादित्य द्वितीय पर आक्रमण किया और लगभग 830 ई० में उसे परास्त किया। इसके बाद राष्ट्रकूट सेनाओं ने बारह वर्ष तक वेंगी पर अधिकार रखा। किंतु 845 ई० से पहले विजयादित्य द्वितीय के एक सेनानी ने वेंगी पर फिर अधिकार कर लिया।

अमोघवर्ष ने राज्यकाल के आरम्भ के बीस वर्षों में राष्ट्रकूटों और गंगों के बीच निरन्तर युद्ध होता रहा। गंगवशी सम्भवतः अपने स्वा राज्य से राष्ट्रकूटों को खदेड़ने में सफल हुए। अंत में अमोघवर्ष ने उनसे संधि कर ली और अपनी पुत्री का विवाह एक गंग राजकुमा से कर दिया।

सीरपुर ताम्रपत्रों में कहा गया है कि अंग, वंग, मगध, मालवा और वेंगी के शासकों ने अमोघवर्ष को श्रद्धाजलि अर्पित की कहा गया है कि ये केवल झूठे और निराधार दावे थे।

उत्तर और दक्षिण देशों में ही अमोघवर्ष की सेनाओं ने अधिक प्रगति न की। इसके विपरीत प्रतीहार राजा मिहिर भोज ने उज्जयिनी के चारों और का नर्मदा का प्रदेश और सम्भवतः उससे भी आगे की भूमि पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना करने का श्रेय अमोघवर्ष की अपेक्षा ध्रुव द्वितीय की है।

ऐसा भी माना जाता है कि अमोघवर्ष में सैनिक प्रवृति की कमी के कारण धर्म और साहित्य में उसकी अधिक रुचि थी। जैन धर्म के सिद्धांतों की ओर वह बहुत अधिक आकृष्ट हुआ। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दू धर्म के प्रति उसे कोई सहानुभूति या आसक्ति न थी। संजान पत्रों में अमोघवर्ष को देवी महालक्ष्मी का उपासक कहा गया है।

अमोघवर्ष साहित्य का संरक्षक था और उसने जिनसेन, महावीराचार्य और शक्तायन को सरक्षण प्रदान किया। जिनसेन ने 'आदिपुराण' लिखा। महावीराचार्य ने 'गणित सार संग्रह' की रचना की। शक्तायन ने 'अमोघवृति' की रचना की। स्वयं अमोघवर्ष ने कविराज मार्ग जो पद्य रचना पर पूर्वतम कन्नड़ कृति है।

अमोघवर्ष ने अपनी राजधानी मान्यखेत या मलखेद में स्थापित की जो भूतपूर्व हैदराबाद राज्य में है। यह कहना कठिन है कि अमोघवर्ष वास्तव में ही इस नगर का संस्थापक था या नहीं। किंतु यह तो निश्चित है कि नगर की समृद्धि और महता अमोघवर्ष के कारण दी थी।

बताया गया है कि अमोघवर्ष के राज्य के अन्तिम दिन धार्मिक कार्यों में व्यतीत हुए। आत्मचिंतन के कारण राजा थोड़े–थोड़े समय के लिए एकान्तवास करने लगा। इन अवधियों में यह राज्य कार्य युवराज या मंत्रीपरिषद के हाथ में सौंप देता था।

डा० अल्तेकर का विचार है कि "राज्य में शांति और व्यवस्था के पुनः संस्थापक, कला और साहित्य के प्रेरक, अपने सिद्धांतों पर अडिग रहने वाले और जनहित के लिए बलिदान में शरीर का एक अंग देने से भी न चूकने वाले शासक के रूप में अमोघवर्ष का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।"

कृष्ण द्वितीय (878-914 ई०): अमोघवर्ष के पश्चात उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजा बना और उसने 36 वर्ष शासन किया। पिता की तरह उसका झुकाव भी जैन धर्म की तरफ था। उसने 'अकालवर्ष' और 'शुभतुंग' उपाधियां धारण की। कई अभिलेखों में कहा गया है कि कृष्ण द्वितीय ने गुर्जरों को भयभीत किया, लाट के अभिमान को तोड़ा, गौड़ों को नम्रता दिखाई और अंग, कलिंग, बंग और मगध के शासक उसकी आज्ञा का पालन करते थे। इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वितीय ने अधिकांश समय युद्धों में ही व्यतीत किया।

कृष्ण द्वितीय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण युद्ध प्रतीहारों तथा पूर्वी चालुक्यों के साथ हुए। कृष्ण द्वितीय ने प्रतीहार शासक भोज से युद्ध किया। इस युद्ध में कृष्ण द्वितीय के पक्ष में कृष्णराज में महत्वपूर्ण भाग लिया। कृष्ण द्वितीय को पूर्वी चालुक्यों से भी युद्ध करना पड़ा। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि वेंगी के शासक विजयादित्य द्वितीय ने अमोघवर्ष के समय में अपने राज्य की स्वतंत्र करवा लिया। जब कृष्ण द्वितीय सिंहासन पर बैठा तो विजयादित्य ने आक्रमणकारी नीति अपनाई और कुछ समय के लिए उसने सफलता प्राप्त की। उसने गंग और नीलम्ब वंशी शासकों पर भी आक्रमण किये जो राष्ट्रकूटों के कर दाता थे। उसकी सेनाएं बराट के महल तक पहुंच गई। परिणामस्वरूप कृष्ण द्वितीय सभी ओर परास्त हुआ। किंतु उसने अपनी सेनाओं की पुनर्व्यवस्था की, अपने सामन्तों से सहायता ली और चालुक्य आक्रान्ता को खदेड दिया। विजय निर्णायक थी और चालुक्य शासक भीम बन्दी बना लिया गया। कुछ समय पश्चात भीम को मुक्त कर दिया गया और उसे अपने राज्य को लौटने की अनुमति दी गयी। किंतु उसे सामन्त के रूप में व्यवहार करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि भीम ने फिर विद्रोह किया किंतु युद्ध में वह परास्त हुआ।

कृष्ण द्वितीय के संबंध चोल वंश के साथ भी थे। चोल वंशी आदित्य प्रथम का विवाह कृष्ण द्वितीय की एक पुत्री से हुआ। फिर भी कृष्ण द्वितीय ने अपने पौत्र को सिंहासन पर बैठाने के लिए चोल राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु बल्लाल नामक स्थान पर वह परास्त हुआ। यह बात उल्लेखनीय है कि कुछ आरम्भिक सफलताओं के अतिरिक्त कृष्ण द्वितीय के अधिकांश युद्ध असफल हुए।

इन्द्र तृतीय (914-922 ई०): कृष्ण द्वितीय के पश्चात उसका पौत्र इन्द्र तृतीय शासक बना। उसने 'नित्यवर्ष', 'रतकन्दय', 'कीर्तिनारायण' और 'राजभार्तगण्ड' की उपाधियां धारण की। इन्द्र तृतीय ने प्रतीहारों के साथ फिर युद्ध शुरू कर दिया। कहा गया है कि इन्द्र तृतीय का अभियान उन दो शक्तियों की पुरानी शत्रुता का केवल एक चरण था। इन्द्र तृतीय ने कन्नौज के विरुद्ध प्रस्थान किया और उस पर अधिकार कर लिया। कन्नौज पर अधिकार करना राष्ट्रकूटों की एक महान सफलता थी। कहा गया है प्रतीहार शासक महीपाल भाग गया और उसका पीछा करने के लिए बहुत से लोगों को भेजा गया। वेंगी के विरुद्ध भी युद्ध किया गया किंतु किसी पक्ष को भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अमोघवर्ष द्वितीय: इन्द्र तृतीय के उपरान्त उसका बड़ा पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने केवल एक वर्ष तक शासन किया। कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका छोटा भाई गोविन्द चतुर्थ या तो उसकी हत्या करके या उसको पदच्युत करके स्वयं गद्दी पर बैठ गया।

गोविन्द चतुर्थ: अपने बड़े भाई अमोघवर्ष द्वितीय के उपरान्त गोविन्द चतुर्थ गद्दी पर बैठा। वह बड़ा ही विलासी तथा निकम्मा शासक सिद्ध हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ कि शासन स्थिल पड़ गया और बाहरी आक्रमणों के बादल मंडराने लगे। प्रतीहार नरेश महीपाल ने पुनः कन्नौज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। चालुक्य नरेश भीम द्वितीय ने भी उस पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। न केवल बाह्य आक्रमणों का प्रहार उसे सहना पड़ा आन्तरिक विद्रोह की भी अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। उसके सामंतों ने उसका विरोध करना आरम्भ कर दिया और उसे सिंहासन से उतारकर उसके चाचा अमोघवर्ष तृतीय को सिंहासन पर बैठा दिया।

अमोघवर्ष तृतीय: यह बडा ही धर्मपरायण और धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सिंहासन [illegible] उदासीन था किंतु उसके सामंतों ने उसकी इच्छा के विरुद्ध सिंहासन पर बिठा दिया था। सामन्तों के अतिरिक्त उसके पुत्र कृष्ण तृतीय ने भी सिंहासन को अपने लिए सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से उसे राजा बनने के लिए विवश किया था। चूकि अमोघवर्ष तृतीय की रुचि शासन कार्य में न थी अतएव उसके पुत्र युवराज कृष्ण को ही शासन का भार अपने कंधों पर लेकर उनका सचालन करना पडा।

अमोघवर्ष तृतीय ने अपनी एक कन्या का विवाह गंगवंशीय राजकुमार भुतुंग के साथ किया था। इस वैवाहिक सबध का परिणाम यह हुआ कि कृष्ण तृतीय ने अपने बहनोई को गंग राज्य के सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उसने गंग राज्य पर आक्रमण कर दिया और गंग नरेश राच्चमल की हत्या करके अपने बहनोई भुतुंग द्वितीय को सिंहासन पर बैठाया।

युवराज कृष्ण द्वितीय ने अपने पिता के प्रतिनिधि के रूप में उत्तरी विजय अभियान भी चलाया। उसने प्रतीहारो पर आक्रमण कर दिया, उसने कालंजर तथा मित्रकूट के दुर्गों को भी छीन लिया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अमोघवर्ष तृतीय की उपलब्धियों वास्तव में युवराज कृष्ण तृतीय की ही उपलब्धियां थी और इस प्रकार युवराज ने अपने पिता के शासन काल में ही अपनी सम्पूर्ण योग्यता का परिचय दे दिया। उपर्युक्त तीनों का काल 922-939 ई० तक का ही था।

कृष्ण तृतीय (939-968 ई०): कृष्ण तृतीय ने सिंहासन पर बैठते ही अपने बहनोई भुतुंग के साथ मिलकर चाल राज्य पर आक्रमण किया। कांची और तंजौर के महत्वपूर्ण नगरों पर 943 ई० में अधिकार कर लिया गया। चोल राजा आक्रमणकारियों को अपनी कुछ भूमि से खदेड़ने में सफल हुआ। उन्होंने टोण्डमण्डलम पर पूर्ण अधिकार रखा जिसमें अर्काट, चित्रपुर और औबलूर जिले सम्मिलित थे। 949 ई० में चोल सेना तक्कीलम के स्थान पर परास्त हुई। कृष्ण तृतीय ने अपनी विजय यात्रा रामेश्वरम तक की और वहां एक विजय स्तम्भ बनवाया। अपनी कीर्ति को सुस्थिर करने के लिए उसने रामेश्वरम् में या उसके निकट कृष्णेश्वर और गण्डमार्तण्डादित्य के मन्दिर बनवाए। टोण्डमण्डलम को राष्ट्रकूट साम्राज्य में विलीन कर दिया गया।

लगभग 963 ई० में कृष्ण तृतीय ने उत्तरी भारत की ओर एक अभियान का नेतृत्व किया। सम्भवतः वह बुन्देलखण्ड तक आया किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसने वेंगी के सिंहासन पर अपने एक प्रतिनिधि को नियुक्त किया और इस प्रकार वेंगी पर भी नियंत्रण कर लिया।

डा० अल्तेकर ने लिखा है कि कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश के योग्यतम शासकों में से था, सम्भवतः उत्तरी भारत में यह ध्रुव या गोविन्द तृतीय या इन्द्र तृतीय की भांति सफल न हो सका किंतु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह समस्त दक्षिण का सर्वोच्च स्वामी था। कृष्ण तृतीय ने चोल राज्य के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर रखा था और प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण तक उसकी विजय का प्रमाण उसके मंदिरों से मिलता है। कोई भी दूसरा राष्ट्रकूट शासक समस्त दक्षिण का इस प्रकार सर्वोच्च शासक नहीं [illegible]

खोतिग (968-972 ई०): कृष्ण तृतीय के बाद 968 ई० में उसका छोटा भाई खोतिग राजा बना। वह वृद्ध व्यक्ति था [illegible] सियक ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण किया। किंतु खोतिग उसका सामना न कर सका। सियक ने 971 ई० में राष्ट्रकूटों के राजधानी मलखेद को लूट लिया और कोष खाली हो गया। खोतिग इसको सहन न कर सका और सितम्बर 972 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

कर्क द्वितीय (972-973 ई०): खोतिग के बाद कर्क द्वितीय राजा बना। साम्राज्य का गौरव समाप्त हो चुका था, कुशासन के कारण नये राजा की स्थिति खराब हो गयी थी। परिणामस्वरूप सिंहासनारोहण के 18 महीने के अन्दर ही वह अपना सिंहासन खो बैठा। वास्तव में राष्ट्रकूटों के एक सामन्त तैल द्वितीय ने नये राजा के विरुद्ध तैयारियों की और 973 ई० के अन्त में विद्रोह कर दिया। कर्क द्वितीय परास्त हुआ किंतु भाग गया। राष्ट्रकूटों की पुनः स्थापना के लिए प्रयत्न किये गये किन्तु ये सब असफल रहे और 974 ई० तक तैल द्वितीय दक्षिण का सर्वोच्च शासक बन गया। इस प्रकार 225 वर्ष के गौरवमय शासन के पश्चात राष्ट्रकूट वंश इतिहास में लुप्त हो गया।

राष्ट्रकूट प्रशासन

राजा: साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता सम्राट के हाथों में होती थी और वही सभी अधिकारों का स्त्रोत माना जाता था। राजपद अनुवांशिक होता था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी होता था। वह अपने पिता के जीवन काल में ही अपने पिता के शासन तथा सैनिक अभियानों में योग देकर शासन तथा युद्ध की शिक्षा प्राप्त कर लेता था। कभी-कभी उत्तराधिकार का युद्ध भी छिड़ जाता था और उस समय सिंहासन के अधिकार का निर्णय शक्ति के द्वारा होता था।

राष्ट्रकूट नरेश अपनी शक्ति तथा वैभव के लिए सुविख्यात थे और अपनी महान उपलब्धियों के अनुसार वे महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि की महान उपाधियां धारण करते थे।

राष्ट्रकूट सम्राटों की राजसभा बड़ी ही गौरवपूर्ण हुआ करती थी और उसमें बड़े–बड़े विद्वान, कवि, लेखक, कलाकार, धर्माचार्य तथा दरबारी लोग उपस्थिति रहते थे।

सामन्तीय प्रथा: राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य में सामन्त प्रथा का प्रचलन किया था। साम्राज्य के बड़े–बड़े प्रदेश सामन्तों के अनुशासन में कर दिये गये थे। ये सामन्त अपने स्वामी को कर देते थे। युद्ध के समय उसकी सैनिक सहायता भी किया करते थे और स्वयं भी रणस्थल में उपस्थित रहा करते थे। यदा कदा उन्हें सम्राट की राज्यसभा में भी उपस्थित होना पड़ता था। सामन्तों को अपने आंतरिक मामलों की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी और जब तक वे स्वामीभक्त बने रहते थे तब तक सम्राट उनके आंतरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे।

मंत्रिमंडल: सम्राट को शासन के कार्य में सहायता तथा परामर्श देने के लिए मंत्रीमण्डल होता था। किन्तु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि मंत्रियों की संख्या कितनी होती थी और किस मंत्री के अनुशासन तथा नियंत्रण में कौन–कौन से विभाग होते थे। किंतु यह अनुमान लगाया गया है कि महामात्य, सेनापति, महासन्धिविग्राहिक, भण्डागारिक, महाक्षपटलिक, पुराहित तथा कुछ अन्य अमात्य सम्राट को परामर्श तथा सहायता देने के लिए रहे होंगे। मंत्रियों की सभी आज्ञाओं, निर्णय तथा निर्देशों को तभी मान्यता मिलती थी जब सम्राट द्वारा उनका अनुमोदन कर दिया जाता था।

शासन की ईकाईयां: शासन की सुविधा के लिए राष्ट्रकूटों का विशाल साम्राज्य बड़ी तथा छोटी अनेक ईकाईयों में विभक्त था। ये सभी ईकाईयां केन्द्रीय शासन के अनुशासन तथा नियंत्रण में कार्य करती थी और उसके आदेशों का उन्हें पालन करना पड़ता था। शासन की विभिन्न ईकाईयां निम्नलिखित थी–

राष्ट्र: शासन की सबसे बड़ी ईकाई राष्ट्र कहलाता था जिसका सर्वोच्च पदाधिकारी राष्ट्रपति होता था जो गुप्तकालीन शासन व्यवस्था के उपरिक की भांति होता था।

विषय: प्रत्येक राष्ट्र में अनेक विषय होते थे, विषय का अधिकारी विषयपति कहलाता था। प्रत्येक विषय में एक हजार से लेकर चार हजार गांव होते थे।

भुक्ति: प्रत्येक विषय अनेक भुक्तियों में विभक्त होता था। भुक्ति का सबसे बड़ा अधिकारी भोगिक या भोगपति कहलाता था, प्रत्येक भुक्ति में पचास से लेकर सत्तर गांव तक होते थे।

नगर का शासन: नगर का शासक नगरपति अथवा पुरपति कहलाता था। नगर का शासन उसी के अनुसार तथा नियंत्रण में चलता था। नगरों को स्वायत्त शासन प्राप्त था और उसमें जनता के प्रतिनिधियों की प्रबन्धकारिणी समितियां होती थी। नगर का समुचित प्रबंध करना उन्हीं का दायित्व था।

ग्राम का प्रबंध: नगरों की भांति गांव को भी स्वायत्त शासन प्राप्त था। इसका शासक ग्रामकुट कहलाता था और उसी के नियंत्रण तथा अनुशासन में गांवों का शासन संचालित होता था। नगरों की भांति ग्रामों में भी पंचायत राज था। गांव के बड़े–बड़े मुखिया ग्रामकुट की सहायता से ग्राम के शासन को चलाते थे। कर एकत्र करना, सार्वजनिक निर्माण कार्य करना, ग्राम के मुकदमों का निर्णय करना तथा स्थानीय पाठशालाओं, मन्दिरों का प्रबंध करना आदि ग्राम पंचायतों प्रधान कार्य थे।

सैन्य संगठन: राष्ट्रकूटों का काल युद्ध तथा अशांति का काल था। यह राज्य विस्तार का भी काल था। अतएव राष्ट्रकूटों का आंतरिक विद्रोहों तथा बाह्य आक्रमणों की सुरक्षा एवं विस्तार के लिए एक विशाल सेना की व्यवस्था करनी पड़ी थी। डा० अल्तेकर के विचार में राष्ट्रकूटों की सेना के सैनिकों की संख्या पांच लाख रही होगी। इनकी सेना में सभी जातियों तथा धर्मों के लोग बिना किसी भेदभाव के योग्यता के आधार पर भर्ती किये जाते थे। उसका एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि राष्ट्रकूटों के दो सेनापति श्रीविजय तथा नरसिंह जैन धर्मावलम्बी थे। राज्य की प्रधान सेना राजधानी में रहती थी। इस प्रधान सेना के अतिरिक्त साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक सेना उत्तर और दक्षिण में रहती थी। जब साम्राज्य पर कोई संकट आ जाता था अथवा युद्ध छिड़ जाता था तो सामंत तथा प्रान्तीय शासक भी अपनी–अपनी सेनाएं सम्राट की सहायता के लिए भेजते थे।

आय के साधन: राज्य की आय का प्रधान साधन भूमि कर था। भूमि की उपज का चौथाई भाग राज्य कर के रूप में ले लिया जाता था। यह कर भोग कहलाता था और अन्न के रूप में लिया जाता था। भूमि कर के अतिरिक्त बागों, वनों, खानों तथा क्रय विक्रय की वस्तुओं से भी तथा चुंगी के रूप में राज्य को धन प्राप्त होता था। सड़कों तथा नदियों से होकर जो माल जाता था उस पर

भी चुंगी वसूल की जाती थी और इसके लिए निरीक्षण हुआ करते थे। सामंतों से भी राज्य को कर, उपहार, भेंट आदि [illegible] पर्याप्त धन प्राप्त होता था। यद्यपि ब्राह्मणों तथा मन्दिरों से भी कर लिए जाते थे परंतु ये बड़े हल्के होते थे।

धार्मिक स्थिति: राष्ट्रकूट साम्राज्य में शिव या विष्णु की पूजा लोकप्रिय थी। अभिलेखों में इन देवताओं के अनेक उल्लेख हैं। इनकी मुहरों पर विष्णु के वाहन गरुड़ या योग मुद्रा में बैठे शिव का चित्र है। इस काल में बहुत से ब्राह्मण यज्ञ किये गये। दन्तिदुर्ग ने उज्जैन में हिरण्यगर्भ यज्ञ किया। कई व्यक्तियों द्वारा तुलादान या स्वयं अपने भार के बराबर सोने के दान के उल्लेख मिलते हैं।

पूजा के लिए मूर्तियों की स्थापना के लिए मन्दिर बनवाए जाते थे। उन मूर्तियों की पूजा प्रतिदिन होती थी और इस अवसर पर विस्तृत विधि अपनाई जाती थी। इस युग का एकमात्र महत्वशाली मन्दिर एलोरा या शिव मंदिर हैं।

जैन धर्म को अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र प्रथम, कृष्ण द्वितीय और इन्द्र तृतीय ने संरक्षण प्रदान किया। बौद्ध धर्म की इस काल में अवनति हुई और उसका मुख्य केन्द्र कन्हेरी था।

कला: राष्ट्रकूट काल में कला की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डा० अल्तेकर ने लिखा है 'इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि राष्ट्रकूटों के काल में ललित कलाओं को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। मौर्यों–सुत्सों तथा पल्लवों का ललित कला के क्षेत्र में अपना विशिष्ट प्रकार का योगदान रहा किंतु राष्ट्रकूट युग के लिए इस प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि मान्यखेट दरबार की ओर से ललित कलाओं की उपेक्षा की गयी।

राष्ट्रकूट कालीन कला की दो कृतियां उपलब्ध हैं। एक है एलोरा का कैलाशनाथ मन्दिर और दूसरा है एलीफन्टा की त्रिमूर्ति।

एलोरा के कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने करवाया था। डा० अल्तेकर का अनुमान है कि इस मन्दिर के निर्माण के लिए पल्लवों की राजधानी कांची से कलाकार बुलवाये गये थे। इसके निर्माण में एक नयी शैली का प्रयोग किया गया है। इससे पूर्व जिन गुहा मन्दिरों का निर्माण किया गया। उनमें पर्वतों को नीचे से ऊपर की ओर खोदकर गुहाओं का निर्माण किया गया था। किंतु कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण पर्वत की शिलाओं को ऊपर से नीचे की ओर तराशकर किया गया था। कलाकारों ने सर्वप्रथम पर्वत को चारों ओर से काटकर चार खाईयां बना दी हैं और इनके बीच जो पर्वतखण्ड रह गया उसे ही ऊपर से नीचे तक तराश कर मन्दिर के विभिन्न अंग बनाए गए हैं। मन्दिर का विमान एक समान्तर चतुर्भुज के आकार का है और एक 25 फीट ऊंचे चबूतरे पर बनाया गया है। मन्दिर में एक सीढ़ी बनी हुई है जिस पर चढ़कर दर्शनार्थी नीचे से ऊपर बरामदे तक पहुंच सकते हैं। मन्दिर के ऊपर एक शिखर का निर्माण किया गया है जिसकी ऊंचाई 65 फीट है। मन्दिर के प्रधान भवन में एक गर्भगृह है जिसके आगे एक स्तम्भयुक्त मण्डप बना हुआ है। गर्भगृह तथा मण्डप को संयुक्त करता हुआ एक अन्तराल है।

इस प्रमुख भवन के बाद एक नन्दी मंदिर बनाया गया है। जिसके दोनों ओर दो ध्वज स्तम्भ हैं जिन पर त्रिशूल स्थापित किये गये हैं। इस नन्दी मंदिर के सामने प्रवेश द्वार बनाया गया है। उपर्युक्त निर्माण के बाद कलाकारों ने चारों तरफ बरामदे स्तम्भ युक्तदार तथा कमरे बनाए।

ऐलोरा के कैलाशनाथ मन्दिर की विद्वानों ने भूरि–भूरि प्रशंसा की है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में "भारत की जितनी कलात्मक कृतियां हैं उनमें यह सबसे अधिक विस्मयकारी है। जहां तक शिला मन्दिर का संबंध है यह अद्वितीय है।"

इस मन्दिर की स्थापना भी बड़ी उच्चकोटि की है और इसमें जो मूर्तियां बनी हैं वे बड़ी ही सजीव तथा मनोहर हैं। इस मन्दिर की स्थापत्य कृतियों में गजासुर का वध करते हुए शिव नृत्य मुद्रा में नटराज, कैलाश पर्वत उठाते हुए रावण तथा द्वारपाल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आनन्द गोस्वामी ने इस स्थापत्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है "इस प्रकार के कार्यों में जिसमें सामान्यतः के उत्तम सौन्दर्य ऐथेन्स अथवा फ्लोरेंस के योग्सय है, भारतीय स्थापत्य कला अपने चूड़ान्त विकाश को पहुंच जाती है।

एलीफैन्टा की त्रिमूर्ति: ऐसा प्रतीत होता है कि एलीफैन्टा में गुफा तथा कुछ स्थापत्य कृतियों का निर्माण राष्ट्रकूटों के शासन काल में ही हुआ था। इनमें सबसे अधिक सुविख्यात त्रिमूर्ति है। इस त्रिमूर्ति में शिव के तीन मुख प्रदर्शित किये गये हैं। शिव के मुख पर स्वाभाविक शांति और अध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है। ए.एल. बाशम ने मूर्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है "शिव की इस सिर की आवक्ष मूर्ति, जो नित्यता की भांति प्रशान्त है, इतनी प्रभावशाली और इतनी आध्यात्मिकता से उद्वेलित है कि इसको टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रशान्त देवता की मूर्ति हिन्दुओं की देवत्व की भावना की मंजुल अभिव्यक्ति है।

इकाई-III

अध्याय-1

बादामी के चालुक्य
Chalukya of Badami

दक्षिण के इतिहास में चालुक्यों का बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा अग्रगण्य स्थान रहा है। इन्होंने वहां पर कई शताब्दियों तक शासन किया और वहां की राजनीति को अत्यन्त प्रभावित किया।

चालुक्यों के इतिहास का अध्ययन करते समय एक विशिष्ट बात ध्यान देने योग्य यह है कि दक्षिण के चालुक्य गुजरात के चालुक्यों से जिनकी राजधानी अन्हिलवाड़ा थी, भिन्न थे। यद्यपि कवियों तथा कलाकारों ने कुछ समानता के आधार पर इन दोनों शाखाओं को एक ही परिवार का मान लिया है किन्तु श्री सी.वी. वैद्य ने गोत्र की विषमता के आधार पर उन्हें दो विभिन्न परिवारों का बतलाया है। उनका कहना है कि दक्षिण के चालुक्यों के अभिलेखों से उनका मानव्य गोत्र अंकित मिलता है किन्तु दसवीं शताब्दी के एक चेदि विवरण से यह पता चलता है कि चालुक्यो का गोत्र भारद्वाज था। अतएव दक्षिण तथा गुजरात के चालुक्य दो भिन्न शाखाओं तथा परिवारों के प्रतीत होते हैं।

उत्पत्ति: चालुक्यों की उत्पत्ति का विषय बड़ा ही विवादास्पद है। डा० वी.ए. स्मिथ का विचार था कि चालुक्य वास्तव में चापों से सम्बन्धित थे क्योंकि चाप इन्हीं की एक शाखा थे। डा० स्मिथ का यह विचार था कि वे राजपुताना से दक्षिण गये। इस विचार को अस्वीकार करते हुए डा० डी.सी. सरकार ने अपना मत प्रस्तुत किया है कि चालुक्य एक देशी कन्नड़ परिवार से सम्बन्धित थे जो क्षत्रिय होने का दावा करते थे। चालुक्य संज्ञा को कभी–कभी उतरापथ के चूलिक लोगों से जोड़ा जाता है। डा० डी.सी. सरकार ने इस विचार की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है। उनका यह भी विचार है कि शुलिक उड़ीसा के शुल्की थे।

बादामी के चालुक्य वंशी हारिति पुत्र होने का दावा करते थे। कहा गया है कि वे मानव्य गोत्र के थे। वे सप्तमातृ द्वारा पोषित होने का दावा करते थे जो मानव मात्र की माताएं थी। चालुक्यों को स्वामिन् या स्वामी महसिन या कार्तिकेय के चरणों में अराधना करते बताया गया है। किन्तु पूर्वकालीन चालुक्यों का देवता सम्भवतः विष्णु था। यह भी ज्ञात है कि उन्होंने शैव और जैनों को संरक्षण प्रदान किया।

कल्याणी के उत्तरकालीन चालुक्यों के आलेखों में दिये गये पारम्परिक इतिहास में चालुक्यों को मनु या इन्द्र से जोड़ा गया है जो उत्तर कौशल की राजधानी थी। बताया गया है कि चालुक्य वंश के 49 राजाओं ने अयोध्या में राज्य किया और 16 राजाओं ने दक्षिणा पथ में राज्य किया। कुछसमय के लिए उनका सितारा डूबने लगा किन्तु जयसिंह ने वंश की कीर्ति को पुनः स्थापित किया एक अन्य अभिलेख में कहा गया है कि इस वंश का आदि पूर्वज ब्रह्म देवता था। उसका पुत्र स्वथम्यु मनु था। उसका पुत्र मानव्य था। मानव्य के बाद उसका पुत्र हारित था। इसके बाद उसका पुत्र पंचशिखी हारित था। उका पुत्र चालुक्य था और उसी से चालुक्यों की उत्पत्ति हुई। कुछ प्रलेख बताते हैं कि चालुक्य वंशी सोम या चंद्र के वंशज थे जो ब्रह्म देवता के पुत्र अत्रि की आंख से बनाए गए थे। चालुक्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई ऐसी कथाएं हैं। किन्तु डा० डी.सी. सरकार कहते हैं कि "चालुक्यों की उत्पत्ति और आरम्भिक इतिहास के लिए इन वर्णनों के स्पष्ट अनुश्रतियों और मूल्यहीन पौराणिक कथाएं मानकर विद्वानों ने उचित ही उन्हें अस्वीकार किया है।"

दक्षिण के चालुक्यों की शाखायें: दक्षिण के चालुक्यों की तीन प्रमुख शाखाएं थी अर्थात (1) बादामी के पूर्वकालीन पश्चिमी चालुक्य इस वंश ने लगभग दो शताब्दियों तक छठी शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक शासन किया और जिनका अन्त राष्ट्रकूटों के उदय के फलस्वरूप हुआ। (2) कल्याणी के उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्य वंश ने राष्ट्रकूट वंश को समाप्त कर दिया और वह बारहवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य करते रहे। (3) वेगी के पूर्वी चालुक्य जिन्होंनं लगभग 600 ई० से 1200 ई० तक शासन किया।

बादामी के पूर्वकालीन पश्चिमी चालुक्य

जयसिंह तथा रणराज: इस वंश का पहला राजा जयसिंह था यह एक सामरिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने राष्ट्रकूटों से महाराष्ट्र छीन लिया था। जयसिंह के उपरान्त उसके पुत्र रणराज गद्दी पर बैठा परन्तु उसके शासन काल की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है।

पुलकेशिन प्रथम: यह रणराज का पुत्र था। अपने वंश का यह प्रथम प्रतापी नरेश था। उसने बीजापुर जिले में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और बादामी को अपनी राजधानी बनाकर एक स्वतंत्र शासक के रूप में शासन करने लगा। उसने अश्वमेध, वाजपेय, हिरण्यगर्भ आदि यज्ञ किए और पृथ्वीबल्लभ, रणविक्रम, सत्याश्रय आदि उपाधियां धारण की। इन यज्ञों तथा उपाधियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह बड़ा शक्तिशाली तथा वीर विजेता नरेश होगा। यही कारण है कि वीरता में उसकी तुलना ययाति तथा दलीप से की गयी है। उसने 535 से 566 ई० तक शासन किया।

पुलकेशीन प्रथम न केवल एक वीर विजेता सम्राट था वरन् वह विद्यानुरागी भी था। कहा जाता है कि उसने मानव धर्म पुराण, रामायण, महाभारत तथा इतिहास का अच्छा ज्ञान था।

कीर्तिवर्मन: पुलकेशीन प्रथम के पश्चात उसका पुत्र कीर्तिवर्मन लगभग 567 ई० में राजगद्दी पर बैठा। वह भी साम्राज्यिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और उसने अपने बाहुबल से उत्तरी कोकण तथा कन्नड़ के भूभाग को अपने राज्य में मिला लिया। उन दिनों उत्तरी कोकण पर मौर्यों का राज्य था और कन्नड अथवा बनवास में कदम्ब वंश शासन कर रहा था। उसने नलों को भी परास्त किया था। कुछ अभिलेखों के अनुसार उसने उत्तर में बिहार तथा बंगाल तथा दक्षिण में चोल तथा पाण्डय राज्यों पर भी विजय प्राप्त की थी किन्तु इसको कोई प्रमाण नहीं है और यह अतिरंजित प्रतीत होता है।

अपनी विजयों के उपलक्ष्य में कीर्तिवर्मन ने पृथ्वीवल्लभ, पुरूरजपराक्रम, सत्याश्रय आदि उपाधिया धारण की थी। उसने बहुसुवर्ण तथा अग्निष्टोम यज्ञ भी किए थे। उसने सम्भवतः अपनी राजधानी बादामी को अपने भव्य भवनों तथा मनोहर मन्दिरों से अलकृत किया था। इसी से उसे बादामी का संरक्षक कहा गय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कीर्तिवर्मन एक वीर तथा विजेता के साथ–साथ धर्मपरायण तथा कलाप्रेमी भी था। उसके शासन काल में धर्म एवं कला को संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिला था। 598 ई० में कीर्तिवर्मन का स्वर्गवास हो गया।

मंगलेश: चूंकि कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसका बड़ा पुत्र पुलकेशीन अल्पव्यस्क था अतएव कीर्तिवर्मन का भाई मंगलराज अथवा मंगलेश राज सिंहासन पर बैठा। मंगलेश एक वीर योद्धा था। उसने अपने बाहुबल से पूर्वी तथा पश्चिमी सागर तक अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

इन दिनों कल्युरी नरेश बुद्धराज बड़ा शक्तिशाली हो गया था। मंगलेश का उसके साथ बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में विजयलक्ष्मी मंगलेश को ही प्राप्त हुई और उसे वलचूरि वंश से खानदेश और उसके आस पड़ोस का प्रदेश छीन लिया।

इन दिनों कोकण के स्वमीराज नामक सामन्त चालुक्य वंश की अधिकता में शासन कर रहा था। उसने सम्भवत मंगलेश का विरोध किया जिसके फलस्वरूप मंगलेश ने उस पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और उसके स्थान पर इन्द्रवर्मन को वहां का सामन्त नियुक्त कर दिया।

मंगलेश एक वीर विजेता के साथ–साथ एक निर्माणकर्ता भी प्रतीत होता है। उसके शासन काल में वातापी में विष्णु का एक गुहा मन्दिर का निर्माण हुआ था। मंगलेश के अन्तिम दिन बड़े आपत्तिमय थे।

पुलकेशीन द्वितीय: चालुक्य वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट पुलकेशीन द्वितीय था। उसने 609 से 642 ई० तक सफलतापूर्वक शासन किया। वह जिस समय सिंहासन पर बैठा उस समय चालुक्यों का राज्य बड़ी संकटपूर्ण स्थिति में था। क्योंकि मंगलेश तथा चालुक्य द्वितीय के बीच सिंहासन के लिए युद्ध हुआ उससे साम्राज्य को बहुत बड़ी क्षति पहुंची। इस संकटापन्न स्थिति से लाभ उठाकर जो सामन्त उसकी अधीनता में थे वे अपने आपको स्वतंत्र शासक बनाने का प्रयास करने लगे। ऐहोल अभिलेख में इस समय की संकटापन्न स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण संसार शत्रुरूपी अधकार से आच्छन्न हो गया था। पुलकेशीन बड़े धैर्य तथा साहस के साथ इन संकटपन्न स्थिति का सामना किया और अपने शत्रुओं से युद्ध करके उन्हें नतमस्तक किया।

गोविन्द तथा आधासिक के आक्रमण: पुलकेशीन की संकटपूर्ण स्थिति से लाभ उठाकर गोविन्द तथा आधासिक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इन दोनों शत्रुओं ने पुलकेशीन के राज्य पर आक्रमण कर दिया और भीमरथी अर्थात भीमा नदी तक पहुंच गए। पुलकेशीन द्वितीय ने इस समय कूटनीति से काम लिया। उसने दोनों शत्रुओं से एक साथ लडने के स्थान पर उस गोविन्द को अपने ओर मिला लिया। अब उसने आधासिक का सामना किया और उसे परास्त कर दिया।

कदम्ब वंश पर आक्रमण: अब पुलकेशीन ने कदम्ब वंश की राजधानी बनवासी पर आक्रमण कर दिया और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

आलुप तथा गंग वंशों पर आक्रमण: आलुप वंश दक्षिण कनारा में और गंग वंश दक्षिणी मैसूर में शासन कर रहा था। ये दोनों ही सम्भवतः कदम्ब वंश के मित्र थे। पुलकेशीन द्वितीय ने दोनों पर आक्रमण करके उन्हें परास्त कर दिया और अपनी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। गंग नरेश दुर्विनीत ने अपनी पुत्री का विवाह पुलकेशीन द्वितीय के साथ कर दिया।

उत्तरी कोकण पर आक्रमण: अब पुलकेशीन ने उत्तरी कोकण के मौर्यों की राजधानी पुरी पर आक्रमण कर दिया। उसने उन्हें परास्त कर अपने अधीन कर लिया।

लाटो, मालवों तथा गुर्जरों द्वारा अधीनता स्वीकृत: इन दिनों कन्नौज नरेश हर्ष की शक्ति बड़ी तीव्रता से बढ़ रही थी। उसकी इस बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर लाटों, मालवों तथा गुर्जरों ने पुलकेशीन की अधीनता स्वीकार कर ली जिससे हर्ष से उनकी रक्षा हो सके।

पुलकेशीन हर्ष संघर्ष: पुलकेशीन तथा हर्ष दोनों ही महत्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी सम्राट थे और दोनों ही अपने साम्राज्य के विस्तार में संलग्न थे। पुलकेशीन दक्षिण से उत्तर की ओर तथा हर्ष उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। अस्तु इनमें मुठभेड़ होना अनिवार्य था। युद्ध का कारण भी उपस्थित हो गया। हर्ष पश्चिमी भारत पर अधिकार कर अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था। इस उद्देश की पूर्ति के लिए उसने इस प्रदेश में स्थित वल्लमी पर आक्रमण किया था। वल्लमी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय परास्त हो गया और पलायन कर गुर्जर नरेश दद्द द्वितीय की शरण में चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि दद्द पुलकेशीन द्वितीय के प्रभाव में था और इसी ने उससे हर्ष जैसे शक्तिशाली सम्राट के विरुद्ध ध्रुवसेन द्वितीय की सहायता करने का दुस्साहस किया था। इस प्रकार हर्ष को पुलकेशीन द्वितीय से लोहा लेने और अपना दक्षिण दिग्विजय की योजना को कार्यान्वयन करने का बहाना मिल गया। उसने दक्षिण पर आक्रमण कर दिया और रेवा अर्थात नर्मदा नदी के उस पार हर्ष तथा पुलकेशीन की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ जिसमें जयलक्ष्मी पुलकेशीन द्वितीय को विजय प्राप्त हुई।

कुछ विद्वानों के अनुसार पुलकेशीन द्वितीय ने हर्षवर्धन को शक संवत 534 या 612-13 ई० के भाद्रमास पूर्णमासी से पहले दिन परास्त किया था। यह विचार चालुक्य शासक के हैदराबाद अनुदान दी गयी जानकारी पर आधारित है। इस अभिलेख में कहा गया है कि "एक सौ युद्धों में संघर्ष करने का संकल्प करने वाले शत्रु राजाओं को परास्त करके" पुलकेशीन द्वितीय ने परमेश्वर उपाधि अर्जित की। उसके उत्तरधिकारी के अभिलेखों में कहा गया है कि "उत्तर के समस्त प्रदेश के युद्ध प्रिय स्वामी यशस्वी हर्षवर्धन कोपरास्त करके" पुलकेशीन द्वितीय ने यह उपाधि प्राप्त की। किंतु कहा गया है कि तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसी सम्भावना नहीं थी। हर्षवर्धन 606 ई० में शासक बना। दोनों शासक अपने–अपने राज्य में व्यस्त रहे होंगे कि 612-13 ई० में युद्ध करने की कल्पना नहीं कर सकते थे। हर्ष की पराजय 630 ई० से पहले नहीं हो सकती क्योंकि पुलकेशीन द्वितीय के लोहनेर अनुदान में इसका उल्लेख नहीं है।

पूर्वी दक्षिणा पथ पर आक्रमण: पलकेशीन द्वितीय ने पूर्वी दक्षिणापथ और भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया। ऐहोल अभिलेख के अनुसार उसने महाकौशल तथा कलिंग पर विजय प्राप्त की थी वस्तुतः वहां के नरेश उससे इतना भयभीत हो गये थे कि बिना लड़े ही उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने पिपपुट नरेश को हराने के उपरान्त अपने भाई विष्णुवर्धन को वहां का शासक नियुक्त कर दिया। इसी विष्णुवर्धन से चालुक्यों की एक दूसरी शाखा की स्थापना हुई जिसे पूर्वी चालुक्यों की शाखा कहते हैं जिसने 1070 ई० तक शासन किया।

पल्लवों में संघर्ष: इन दिनों पल्लव नरेश महेन्द्रवर्धन प्रथम शासन कर रहा था जो बड़ा ही शक्तिशाली हो गया था। पुलकेशीन द्वितीय ने उस पर आक्रमण कर दिया और उसके साम्राज्य में प्रवेश कर पुल्ललूर तक पहुंचा गया। यद्यपि पुलकेशीन द्वितीय पल्लवों की राजधानी कांची को न ले सका किंतु उनके साम्राज्य के उत्तरी भाग पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने और पल्लवों पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए पुलकेशीन ने चोलो तथा पाण्डयों से भी मित्रता कर ली। यह विजय सम्भवतः 630 ई० में हुई।

महेन्द्रवर्मन प्रथम के काल में पल्लवी के साथ पुलकेशीन द्वितीय का जो संघर्ष आरम्भ हुआ वह उसकी मृत्यु के उपरान्त भी चलता रहा। 630 ई० में महेन्द्रवर्मन प्रथम की मृत्यु के उपरन्त सका पुत्र नरसिंह वर्मन महामल्ल पल्लव नरेश हुआ। पुलकेशीन द्वितीय ने उस पर भी आक्रमण कर दिया और नरसिंह वर्मन ने पुलकेशनी को कई युद्धों में परास्त कर दिया था। इससे उसे लंका के राजकुमार भानवर्मा से बड़ी सहायता मिली। नरसिंह वर्मा ने पुलकेशीन द्वितीय को न केवल अपने साम्राज्य से मार भगाया वरन् यह वह पुलकेशीन साम्राज्य में प्रवेश कर गया और उसकी राजधानी बादामी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस युद्ध में पुलकेशीन मारा गया।

मूल्यांकनः पुलकेशीन द्वितीय बादामी के चालुक्य वंश का सबसे अधिक प्रतापी तथा शक्तिशाली सम्राट था। जिस समय वह गद्दी पर बैठा उस समय उसका साम्राज्य बड़ी संकटपूर्ण स्थिति में था किन्तु उसने बड़े धैर्य तथा साहस के साथ अपनी विषम परिस्थितियों का सामना किया और अपने विरोधियों का दमन कर अपने साम्राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करके अपनी स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ बना लिया।

पुलकेशीन द्वितीय एक वीर योद्धा तथा कुशल सेनानायक था। उसने दिग्विजय की योजना बनाकर उत्तर तथा दक्षिण में एक के बाद ही अेर दिग्विजय का अभियान चलाया जिसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। सैनिक दृष्टिकोण से उसकी सबसे बड़ी सफलता उत्तर भारत में सबसे शक्तिशाली नरेश हर्ष को परास्त करना था। दक्षिण में उसका साम्राज्य पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ था। इस प्रकार पुलकेशीन द्वितीय की सैनिक उपलब्धियां बड़ी ही सराहनीय थी।

पुलकेशीन द्वितीय न केवल एक वीर योद्धा था वरन् वह उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ या कूटनीतिज्ञ भी था। उसने विदेशी राजाओं के साथ कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध स्थापित किया था। अरब लेखक ताबरी के कथनानुसार पुलकेशीन द्वितीय ने 625 ई० में फारस के खुसरो द्वितीय के यहां अपना राजपूत पत्र तथा उपहार पुलकेशीन के पास भेजे थे। कुछ विद्वानों के विचार में खुसरो के राजदूत के स्वागत का अजन्ता की गुफाओं के एक चित्र में अंकित है परंतु स्टेनकीनो इस मत से सहमत नहीं है। पुलकेशीन के सम्बन्ध में हुएनसांग ने लिखा है "वह क्षत्रिय जाति का था और पड़ोस के राजाओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। उसके विचार उदार तथा सम्मान योग्य थे। उसकी सहानुभूति तथा उसके शुभ कृत्यों का क्षेत्र व्यापक था। उसकी प्रजा पूर्ण श्रद्धा के साथ उसकी सेवा करती थी। उसका राज्य दूर–दूर तक फैला था।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पुलकेशीन द्वितीय एक महान सम्राट था। चालुक्य वंश तथा प्राचीन भारत के इतिहास में उसका स्थान निर्धारण करते हुए डा० दिनेश चन्द्र सरकार ने लिखा है "इसमें संदेह नहीं कि पुलकेशीन द्वितीय बादामी के चालुक्य वंश का एक बड़ा सम्राट था और प्राचीन भारत के महान सम्राटों में एक था।"

विक्रमादित्य प्रथमः पुलकेशीन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त चालुक्य साम्राज्य में बड़ी अव्यवस्था फैल गयी। बादामी पर पल्लवों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और चालुक्यों की अधीनता में जो सामन्त शासन कर रहे थे वे भी अपने आप को स्वतन्त्र घोषित करने लगे। इतना ही नहीं पुलकेशीन द्वितीय के उत्तराधिकारियों में भी संघर्ष आरम्भ हो गया। 642 ई० 655 ई० तक चालुक्य साम्राज्य की लता किसके हाथ में थी इसका ठीक–ठाक पता नहीं लग सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवधि के बाद भी वेंगी दक्षिण प्रदेश पर पल्लवों की सत्ता बनी रही। शेष भाग में भी कोई सार्वभौम सत्ता न रही और छोटे–छोटे नरेशों में बन्दर बांट चल रही थी। अन्त में पुलकेशीन द्वितीय के एक छोटे पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने अपने नाग गंग नरेश दार्वनित की सहायता से पल्लवों को अपने साम्राज्य से मार भगाया और अपने पूर्वजों की राजधानी बादामी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसके पश्चात् विद्रोही भाईयों को भी परास्त कर दिया और इस प्रकार सम्पूर्ण चालुक्य साम्राज्य पर अपनी एकछत्र सत्ता स्थापित कर ली।

विक्रमादित्य की संकट की घड़ी में उसे अपने छोटे भाई जयसिंह से बड़ी सहायता मिली। इस सहायता के उपलक्ष्य में उसको लाट का शासक नियुक्त कर दिया। जयसिंह ने वल्लमी नरेश शीलादित्य पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह परास्त कर दिया।

अब विक्रमादित्य की स्थिति बड़ी सुदृढ़ हो गयी और अपने पूर्वजों के खोए हुए साम्राज्य का स्वामी बनने का श्रेय उसको प्राप्त हो गया। उसने 'रंगारसिक' 'श्रीपृथ्वीवल्लभ' भट्टारक और महाराजाधिराज, परमेश्वर की उपाधियां धारण की।

चालुक्यों तथा पल्लवों को जो वंशानुगत संघर्ष कई पीढ़ीयों से चल रहा था उसकी निरन्तरता विक्रमादित्य प्रथम के काल में भी बनी रही। विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन द्वितीय पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया।

महेन्द्र वर्मन द्वितीय ने थोड़े दिनों तक शासन किया था। उसके उपरान्त उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन प्रथम शासक हुआ। विक्रमादित्य प्रथम ने अपने इस नये शत्रु के विरुद्ध संगठित मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया। अपनी स्थिति की सुदृढ बनाने के लिये उसने पाण्ड्य नरेश अरिकेशरी परांकुश मारवर्मन प्रथम से मैत्री कर ली। इन दोनों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाकर पल्लव नरेश परमेश्वर वर्मन प्रथम पर आक्रमण कर दिया किन्तु परमेश्वर वर्मन प्रथम ने पेरुवलनल्लूर के युद्ध में उन दोनों को परास्त कर दिया।

विनयादित्यः विक्रमादित्य के उपरान्त उसका पुत्र विनयादित्य राजा बना। उसने 681 ई० से 686 ई० तक शासन किया। अपने पिता के जीवन काल में अनेक युद्धों में युवराज के रूप में उसने बड़ी सहायता की थी। उसके अभिलेखों में उसके विषय में बतलाया गया है कि उसने कमेट अर्थात कावेरी घाट, पारसीक अथवा फारस, तथा सिंघल के राजाओं से कर वसूल किया। उसने उत्तरी भारत पर आक्रमण कर सकलातरपथनाथ को भी पराजित किया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह सकलातरपथनाथ

यशोवर्मन था। किन्तु कुछ इसे मगध के गुप्त नरेश देवगुप्त द्वितीय बतलाते हैं।

विजयादित्य: विनयादित्य के उपरान्त उसका पुत्र विजयादित्य सिंहासन पर बैठा। उसने 696 ई० से 733 ई तक शासन किया। अपने पिता तथा पितामह के शासन काल में ही वह कई युद्धों में भाग ले चुका था। उसके पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लवों की राजधानी कांची पर आक्रमण कर दिया था और पल्लव नरेश परमेश्वर वर्मन द्वितीय को कर देने के लिए बाध्य किया था।

विजयादित्य बड़ा ही कला प्रेमी था। उसके शासन काल में कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसने बीजापुर जिले में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसकी बहन कुंकुम महादेवी ने लक्ष्मीश्वर में एक जैन मन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर के निर्माण से ऐसा प्रतीत होता है कि विजयादित्य का जैन धर्म की ओर झुकाव था। उसने स्वयं भी जैन आचार्यों को ग्राम दान दिये थे।

विक्रमादित्य द्वितीय: विजयादित्य के उपरान्त उसका पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय शासक हुआ। उसने 734 ई० से 745 ई० तक शासन किया। उसके काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना अरबों का आक्रमण थी। उन्होंने सिंधु तथा उसके आसपास के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के पश्चात दक्षिण की ओर प्रयाण किया था किन्तु विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने दो सामन्ती पुलकेशीन तथा राष्ट्रकूट दंतिवर्मन की सहायता से उन्हें मार भगाया।

उसने पल्लवों से भी युद्ध किया जिनसे उसकी वंशानुगत शत्रुता थ। उसने पल्लव नरेश नन्दिवर्मन द्वितीय को परास्त करके उसकी राजधानी कांची पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु उसने राजधानी को नष्ट–भ्रष्ट नहीं किया वरन् वह वहां की जनता तथा मन्दिरों को अपार सम्पत्ति वितरित करके अपनी राजधानी लौट आया।

कुछ समय उपरान्त विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र कीर्तिवर्मन ने भी कांची पर आक्रमण कर दिया और वहां के नरेश को परास्त कर अथाह सम्पत्ति लेकर अपनी राजधानी चला आया। कहा जाता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने पाण्डयों, चोलों और केरलों को भी दमन किया था।

कीर्तिवर्मन द्वितीय: विक्रमादित्य द्वितीय के उपरान्त कीर्तिवर्मन द्वितीय शासक हुआ। उसने 746 ई० से 757 ई० तक शासन किया। उसका काल बादामी के चालुक्यों का पराभव का काल था। पाण्डेय नरेश मारवर्मन राजसिंह प्रथम ने उस पर आक्रमण करके वेणवई के युद्ध में उसे परास्त कर दिया। उसके सामन्त दन्तिदुर्ग ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और 752 ई० में अपने को दक्षिणापथ का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। यद्यपि इसके उपरान्त 4-5 वर्षों तक कीर्तिवर्मन जीवित रहा। अब उसके वंश का दीपक बुझ रहा था और अन्त में वह अंधकार में विलुप्त हो गया।

अध्याय-2

चन्देल वंश
The Chandelas

चन्देलों की उत्पत्तिः जिस प्रकार प्राचीन भारतीय राजवंशों की उत्पत्ति के बारे में अनेक मतभेद पाए जाते हैं उसी प्रकार चन्देल वंश भी इस स्थिति से अछूता नहीं है। उसकी उत्पत्ति के बारे में जो भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं, वे या तो परस्पर विरोधी है अथवा अस्पष्ट, जिनसे किसी भी स्पष्ट निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। अभिलेखों तथा जनश्रुतियों के आधार पर इन साक्ष्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के बाद आते हैं।

चन्देल अभिलेखों में उन्हें चन्द्रमा तथा चन्द्रात्रेय से जोड़ा गया है। इन अभिलेखों में प्रमुख धंग के विक्रमी संवत 1011 और 1059 के खजुराहो से प्राप्त होने वाले दो शिलालेख तथा परमर्दिदेव का वरेश्वर शिलालेख, जिनमें कहा गया है कि विश्व के उत्पत्तिकर्ता पुराज पुरुष से मारीचि, मारीचि से अत्रि और अत्रि से चन्द्रात्रेय की उत्पत्ति हुई। इसी चन्द्रात्रेय से पृथ्वी पर शासन करने वाले राजाओं का जन्म हुआ, जिनके वंश में राजा नन्नुक पैदा हुआ। यह नन्नुक ही चन्देल वंश का प्रथम शासक बताया गया है। कुछ अन्य चन्देल अभिलेखों में चन्देल्ल शब्द का प्रयोग किया गया है जिसे चन्द्र तथा ईला का संयुक्त रूप माना गया है तथा चन्द्रात्रेय को बाद में प्रयोग हुआ माना जाता है। चन्द्रेल्ल शब्द से ही चन्देल शब्द निकलकर धीरे–धीरे प्रयोग में आया। इन सारे भेदो के बावजूद एक बात स्पष्ट मालूम होती है कि चन्देल शासक स्वयं को चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते थे।

परमाल रासो के महोबा खण्ड में चन्देलों की उत्पत्ति के बारे में एक विचित्र कहानी मिलती है। उसके अनुसार काशी के इन्द्र जात नामक किसी गहिरवार अथवा गहड़वाल राजा का हेमराज नामक ब्राह्मण पुरोहित था, जिसकी हेमवती नामक एक रूपवती कन्या थी। दुर्भाग्यवश 16 वर्ष अल्पायु में ही हेमवती विधवा हो गयी। किन्तु एक बार तालाब में स्नान करते समय उसके रूप से मोहित होकर चन्द्रमा ने उसका आलिंगन कर लिया और वह गर्भवती हो गयी। अपनी लोकलाज को देखते हुए उसने क्रोधवश चन्द्रमा को शाप देना चाहा, किन्तु चन्द्रमा ने रुककर कहा– मुझे शाप न दो, तुम्हें इस बात की प्रसन्नता होगी कि तुम्हारा बेटा राजा होकर सारे विश्व पर शासन करेगा और उससे हजारों शाखाएं निकलेंगी। किन्तु महोबा खण्ड यह सारी कथा बाद में 18 वीं 19 वीं शताब्दी में लिखी गई जो पूर्णतया काल्पनिक है इसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं दिखाई देता। इस अनुश्रुति मे एक चीज ऐसी अवश्य दिखाई देती है जो चन्देलों की उत्पत्ति संबंधी अभिलेखीय साक्ष्यों से समता रखती है वह यह है कि इसमें भी चन्देलो की उत्पत्ति अप्रत्यक्ष रूप से चन्द्रमा से जोड़ी गई है।

वी.ए. स्मिथ जैसे इतिहासकार इन कथाओं को पूरी तरह कल्पना बताते हुए तर्क देते हैं कि इनका एकमात्र उद्देश्य यह था कि चन्देलों को एक ब्राह्मण कन्या और चन्द्रमा से जोड़कर एक उच्च कुलीन परम्परा से जोड़ दिया जाए। उनके मत में वास्तव में चन्देल मध्यप्रदेश की भार या गोण्ड नामक आदिम जाति के वंशज थे, जो आगे चलकर राजत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात उचे समझे जाने लगे। किन्तु स्मिथ का यह सारा तर्क कोरी कल्पना के ऊपर आधारित है, जिसका आधार यह है कि भारों और गोण्डो की तरह ही चन्देल भी मानियदेव की पूजा करते थे जो आदिवासियों के देवता हैं। उनका यह तर्क अत्यन्त कमजोर है क्योंकि आज भी उत्तर भारत में अनेक ऐसी उच्चवर्गीय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जातियां मिलेंगी जो अपने निवास क्षेत्रों के ऐसे देवी–देवताओं की पूजा करती हैं जो आर्य देवी–देवता न होकर स्पष्टतः आदिम अथवा अर्नाय देवी–देवता हैं किन्तु इनसे यह नहीं साबित होता कि वे अनार्य हैं

सी.वी. वैद्य ने स्मिथ की मान्यताओं को जोरदार चुनौतियां दी हैं और यह मत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि चन्देल आर्यों की शुद्ध संतान हैं। किंतु उनके भी कुछ तर्क निर्विवाद रूप से मान्य नहीं हैं। तथापि ऊपर जिन अभिलेखीय तथा अनुश्रुति साक्ष्यों का हवाला दिया गया है, उनमें एक बात समान रूप से कही गयी है कि चन्देलों की उत्पत्ति चन्द्रमा से हुई थी। जिससे उनके चन्द्रवंशीय होने का प्रमाण उपलब्ध होता है। उनके समकालीन क्षत्रिय राजवंशों ने भी उन्हें शुद्ध क्षत्रिय मानकर उनसे वैवाहिक संबंध स्थापित किए। एक चन्देल अभिलेख में कहा गया है कि चन्देल राजा हर्ष ने कंचुका नामक एक सुदर कन्या से विवाह किया जो चाहमान वंश की थी।

मूल स्थानः वी.ए. स्मिथ के मतानुसार चन्देलों का मूल निवास स्थान छतरगढ़ राज्य के केन नदी तट पर मानिवगढ नामक स्थान में था। अभिलेखों तथा अनुश्रुतियों के अनुसार खजुराहो, कालंजर, महोबा, अजयगढ़ चन्देलों के मूल प्रदेश बतलाए गये हैं। चन्देल राज्य को जेजाकयुक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसका समीकरण बुन्देलखण्ड से किया गया है। इसका जेजाकयुक्ति

नाम क्यों पड़ा? इसका कारण हमें महोबा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है। इस अभिलेख के अनुसार चन्देलों में एक जय शक्ति नामक नरेश ने, जिसे जेय तथा जेज्जक कहते हैं, अपने नाम पर इस राज्य का नाम जेजाकयुक्ति रखा था।

उपर्युक्त कारणों से यही प्रतीत होता है कि बुन्देलखण्ड जिसे जेजाकभुक्ति कहते हैं, चन्देलों का मूल स्थान रहा होगा जो यमुना तथा नर्मदा नदियों के मध्य स्थित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्देलों का उद्‌भव एक स्वतंत्र राजवंश के रूप में नहीं हुआ था वरन् उनकी प्रारम्भिक स्थिति सामन्तीय थी और वे गुर्जर प्रतीहार नरेशों के सामन्त क रूप में जेजाकभुक्ति पर शासन कर रहे थे। इनकी इस समय की राजधानी खजुराहो थी जो कालीजर तथा देवगढ़ के मध्य स्थित थी। हमें यह ज्ञात है कि प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय का अधिकार कालंजर पर था और देवगढ़ भी गुर्जर प्रतीहारों के अधीन था। अतएव यह अनुमान लगाया गया है कि कालिजर तथा देवगढ़ के मध्य स्थित खजुराहो को केन्द्र बनाकर शासन करने वाले चन्देल अपने शासन काल की प्रारम्भिक अवस्था में गुर्जर प्रतीहारों सामन्त रहे होंगे।

चन्देल वंश के राज्य की स्थापना किसने की थी इस संबंध में जनश्रुति तथा अभिलेख में भी भेद है। जनश्रुति के अनुसार इस राज्य का संस्थापक चन्द्रवर्मन था और वही इस वंश का प्रथम ऐतिहासिक नरेश माना गया है किन्तु अभिलेखों में चन्द्रवर्मन के स्थान पर नन्नुक को इस वंश का सर्वप्रथम नरेश बतलाया गया है। डा० रे ने इस विभेद का समाधान करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि चन्द्रवर्मन तथा नन्नुक एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्नुक उसका वास्तविक नाम था और चन्द्रवर्मन की उसने उपाधि धारण की होगी।

नन्नुकः यह खजुराहो प्रदेश में शासन कर रहा था और खजुराहो उसकी राजधानी थी। यह सम्भवतः प्रतीहार नेरश नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था। अभिलेखों में हमें उसकी नृप तथा महीपति की उपाधियां मिली हैं जो सामन्तों की उपाधियां हुआ करती थीं। इसलिए नन्नुक स्वतंत्र शासक नहीं था वरन् एक सामन्त ही था।

वाक्पतिः नन्नुक के उपरान्त उसका पुत्र वाक्पति सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके लिए केवल 'क्षितिप' की उपाधि का प्रयोग किया गया है, इसलिए वह भी एक सामन्त के रूप में शासन कर रहा था। खजुराहो के अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि उसने अपने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और विन्धपर्वत को अपना क्रीड़ा स्थल बना लिया था। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि उसने अपने राज्य का विस्तार विंध्यपर्वत कर लिया था।

जयशक्तिः वाक्पति के उपरान्त उसका पुत्र जयशक्ति राजा बना। उसे जेय अथा जेज्जय भी कहते हैं और उसकी के नाम पर इस राजवंश का नाम जेजाक और जिस युक्ति अथवा प्रदेश में वह शासन कर रहा था उसका नाम जेज्जाकभुक्ति पड़ गया।

विजयशक्तिः जयशक्ति के बाद उसका छोटा भाई विजयशक्ति सिंहासन पर बैठा। खजुराहो अभिलेख के अनुसार उसने आसपास के शत्रुओं का दमन कर दिया था और युद्ध अभियान करता हुआ राम की भांति दक्षिण तक चला गया था उसके लिए 'सुहृदय उपकृति दक्ष' की उपाधि का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है मित्र के उपहार के मानने में कुशल। इस आधार पर डा० आर.सी. मजूमदार ने अनुमान लगाया है कि उसने अपने मित्र गौड़ नरेश देवपाल की उसके दक्षिण अभियान में तथा प्रतीहार वंश के विरुद्ध सहायता की थी इन सेवाओं के फलस्वरूप देवपाल ने उसे खजुराहो के आसपास का प्रदेश दे दिया था और विजयशक्ति उसके सामन्त के रूप में शासन कर रहा था। किन्तु डा० रे ने दक्षिण विजय की कहानी को काल्पनिक बताया है और विजयशक्ति को प्रतीहार वंश का ही सामन्त स्वीकार किया है।

शहिलः विजयशक्ति के उपरान्त उसका पुत्र शहिल राजा बना। वह प्रतीहारों का सामन्त था। खजुराहो अभिलेख उसे एक वीर और साहसी योद्धा तथा शत्रुओं का संहार करने वाला बताया गया है। कहा जाता है कि उसने राहित नामक नगर तथा राहित्थ सागर नामक झील का निर्माण करवाया था।

हर्ष और चन्देल सत्ता का उत्थानः शहिल के बाद उसका पुत्र हर्ष राजा बना। उसने लगभग 915 ई० से 930 ई० तक शासन किया। हर्ष चन्देल सत्ता को ऊपर उठाने वाला प्रसिद्ध एवं शक्तिशाली शासक था। उसके समय में उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में काफी उथल–पुथल मची हुई थी। प्रतीहार सम्राट महीपाल प्रथम कुछ राजनीतिज्ञ एवं सैनिक संकटों का सामना कर रहा था। हर्ष ने इन परिस्थितियों का पूरा–पूरा लाभ उठाया और अपने वंश की राज सत्ता को पूर्ण रूप से स्वतंत्र कर लिया। उसकी प्रशंसा में धनो के नन्यौरा अभिलेख में कहा गया है कि वह अपने आश्रितों के लिए कल्पवृक्ष, सज्जनों के लिए आनन्ददायक, मित्रों का अमृत, शत्रु समूह के लिए विशाल धूमकेतु की तरह अनष्टिकारक और युद्ध रूपी समुद्र को पार करने के लिए सेतु के समान था। इस प्रशंसिक विवरण के अतिरिक्त अन्यना भी उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियों की ओर संकेत किया गया है। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसने समकालीन राजवंशों से वैवाहिक संबंधों की नीति अपनाई। वघेलखण्ड का उसका समकालीन कलचुरि शासक कोक्कल अपनी

सत्ता का तेजी से विस्तार कर रहा था और हर्ष ने उससे मित्रता कर बुद्धिमानी का परिचय दिया। कर्ण के बनारस ताम्रपत्र की सूचना है कि कोक्कल ने चन्देल वंश में उत्पन्न नट्टादेवी नामक किसी राजकुमारी से विवाह किया। यह नट्टादेवी हर्ष के किसी निकट संबंधी की कन्या प्रतीत होती है। कोक्कल राष्ट्रकूटों से भी विवाह संबंध थे। इस प्रकार हर्ष प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कलचुरियो और राष्ट्रकूटों की मित्रता प्राप्त करने में सफल हुआ। यही नहीं उसने स्वयं अपना विवाह चाहमान वंश में उत्पन्न कचुक नामक एक राजकुमारी से किया। परिणामस्वरूप हर्ष के नेतृत्व में चन्देलों का वैवाहिक संबंध उस समय के अनेक प्रमुख राजवंशों से हो गया जो उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा की वृद्धि में भी सहायक हुआ।

हर्ष को अपनी राजसत्ता का सबसे बड़ा अवसर तब मिला जब इन्द्र तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूट सेनाओं ने गुर्जर प्रतीहार सत्ता पर 916-917 ई० में एक जबरदस्त प्रहार किया। धंग के खजुराहो अभिलेख के अनुसार उसने कन्नौज के राजा क्षितिजपालदेव को पुनः अपने सिंहासन पर बिठाया। कुछ विद्वानों ने इस संदर्भ का अर्थ यह लगाया है कि क्षितिजपाल अर्थात महीपाल और भोज द्वितीय के बीच प्रतीहार राजगद्दी के लिए होने वाले संघर्ष में उसने महिपाल की सहायता कर उसे राजगद्दी दिलाई। किन्तु इन दोनों के बीच उत्तराधिकार संघर्ष हुआ इसको कोई पक्का प्रमाण नहीं है। वास्तव में हर्ष ने महिपाल की सहायता इन्द्र तृतीय के आक्रमण के समय की थी। सम्बन्ध राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट सेनाएं उज्जैन तथा झांसी होते हुए दोआब पर बढ़ आई थी। कन्नड़ कवि पम्प के 'विक्रमार्जनाभ्युद काव्य' से तो यहां तक ज्ञात होता है कि इन्द्र के नरसिंह नामक चालुक्य सामन्त ने 'गुर्ज्जरराज' की सेनाओं को पराजित कर भगा दिया, जिसे मानो बिजली मार गई और वह आतंकित होकर इस प्रकार भागा कि भोजन करनेए सोने तथा विश्राम करने के लिए भी नहीं रुका। यह ज्ञात है कि महीपाल को अपनी राजधानी कन्नोज छोड़कर भागना पड़ा और उस पर राष्ट्रकूट सेनाओं का थोड़े समय के लिए अधिकार हो गया। इसी कठिन परिस्थिति मे सामन्त के रूप में हर्ष ने अपने सम्राट महिपाल की सहायता की और पुनः उसे राजगद्दी दिलाने में सफल हुआ जिसका उल्लेख धंग के खजुराहो अभिलेख करता है। इस सहायता से खुश होकर महिपाल ने चित्रकूट का दुर्ग हर्ष को सौंप दिया।

यशोवर्मा: लगभग (930-950 ई०) हर्ष के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा राजा बना। उसके काल में चन्देल सत्ता का काफी विस्तार हुआ। उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं और विजयों का विवरण उसके पुत्र धंग के खजुराहो से प्राप्त होने वाले अभिलेख मे किया गया है। यह असम्भव नहीं है कि उन उल्लेखों में कुछ बढ़ा–चढ़ाकर कहा गया हो। किन्तु उस समय उत्तर भारत की जो राजनीतिक अवस्था थी, उसे देखते हुए यह निश्चित जान पड़ता है कि यशोवर्मा की उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। प्रतीहार शासक महिपाल के उत्तराधिकार काफी कमजोर साबित हुए। ये सारी परिस्थितियां यशोवर्मा के अनुकूल साबित हुई और उसने उसका योग्यतापूर्वक भरपूर लाभ उठाया।

यशोवर्मा की विजयें: धंग का खजुराहो अभिलेख कहता है कि "यशोवर्मा गोड़रूपी क्रीड़ालता के लिए तलवार था, जिसने शत्रुसेना की सेनाओं की बराबरी की, कशलों के कोष को लूटा, कश्मीर के वीर का नाश किया, मिथिला के शासक को दबाया वह मालवा के लिए काल के समान था, उसके सामने गर्हित चेदिराज कांपने लगा तथा कुरुपति वृक्ष के लिए वह आंधी के समान और गुर्जरों के लिए दाहकारक था।" आगे एक बार और कहा गया है कि उसने अगणित सेना वाले चेदिराज को पराजित किया। इसके अतिरिक्त ये भी चर्चाएं हैं कि उसकी सेनाएं हिमाच्छादित श्रेणियों तक चढ़ गई तथा उसने खेल–खेल में कालिजर जीत लिया। साथ ही उसने दोआब पर भी उसकी विजय के उल्लेख है।

यदि सारे विवरण को ध्यान से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि यशोवर्मा कश्मीर से बंगाल तक तथा हिमालय को उत्तरी सीमा से लेकर मालवा तक का विजेता था। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन विजयों से उसका राज्य क्षेत्र उन सारे प्रदेशों तक फैल गया? संभवतः वे उसकी प्रभाव सीमा तथा अधिकता वाले क्षेत्रों के द्योतक है। ऐसा लगता है सर्वप्रथम उसने कालंजर का किला जीता होगा, जिसका सामरिक महत्व उसे भली–भांति ज्ञात था। खेल–खेल में ही उसे प्राप्त कर लेने के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि यशोवर्मा को उस हेतु कोई बहुत बड़ा अभियान नहीं करना पड़ा। किन्तु इस बात पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि यशोवर्मा ने कालंजर किससे जीता। शायद उसने राष्ट्रकूट आक्रमणों से महिपाल की रक्षा करने के बहाने उस महिपाल प्रतीहार से छीन लिया था। अल्तेकर का विचार है कि कालजर पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया था। यशोवर्मा ने उस उनसे ले लिया। ऐसा स्वीकार करने का कोई अभिलेखिय अथवा अन्य प्रमाण नहीं है। पुनः यदि ऐसा होता तो खजुराहो अभिलेख यशोवर्मा के विजेताओं में राष्ट्रकूटों की भी गिनती करता। इसी प्रकार यह सिद्धान्त भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि यशोवर्मा ने कालंजर पर कलचूरियों से जीता, जो अपने को 'कालंजपुर वराधिश्वर' की उपाधि से सुशोभित करते थे। वास्तव में कलचूरियों के विरुद्ध उनके कालंजर पर प्राचीन अधिकर की समृति मात्र था जो आठवीं शताब्दी का अन्त होते–होते समाप्त हो चुका था।

कालंजर के अतिरिक्त यशोवर्मा की दूसरी महत्वपूर्ण विजय चेदिराज पर थी, जिसके खजुराहो अभिलेख में बारी–बारी से दो उल्लेख प्राप्त होते हैं। कलचूरी शासक पहले चन्देलों के मित्र थे किन्तु धीरे–धीरे वे इस सम्बन्ध को त्यागकर चन्देलों के शत्रु राष्ट्रकूटों से मित्रता करने लगे। संम्भवतः इसी कारण उन्हें गर्हित कहा गया है। किन्तु वह कौन सा कलचुरि राजा था, जिसे यशोवर्मा ने हराया, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं है। बाल हर्ष, प्रथम युवराज और लक्ष्मणराज नामक तीन कलचुरी शासक उसके समकालीन थे। सम्भवतः उसने कमजोर को तो हराया ही, कटाचित युवराज प्रथम को भी मात दी, जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली था।

यशोवर्मा की अन्य विजयी जिनका जिक्र खजुराहो अभिलेख से किया गया है एक दिग्विजय जैसा था। अपने राज्य के दक्षिण पूर्व में स्थित को सत्ता वाले क्षेत्रों पर उसने दावा किया था। यह कौशल तथा कौशल आजकल के मध्य प्रदेश के स्थित महाकौशल वाला क्षेत्र है जो महानदी की उत्तरी घाटी में पड़ता है। इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम में परमारों के राज्य क्षेत्र पर भी उसने आक्रमण किया था। उसके समकालीन प्रभार शासन वैरिसिंह, तथा सीयक द्वितीय उसकी बढ़ती हुई सैनिक शक्ति से भयभीत रहे होंगे। सम्भवतः इसीलिए खजुराहो अभिलेख में उसे मालवा के काल के समान कहता है। यशोवर्मा ने सबसे बड़ा सैनिक लाभ कन्नौज की प्रतीहार सत्ता की ढहती हुई स्थिति से उठाया। खजुराहो अभिलेख का कथन है कि उसने गंगा और यमनु को अपना क्रीड़ा सरोवर बनाया। यह गंगा यमुना के दोआब पर उसके विस्तार का सूचक है जो अब तक गुर्जर प्रतीहारों की सत्ता का मुख्य केन्द्र था उसके समकालीन प्रतीहार शासक महिपाल प्रथम, महेन्द्रपाल द्वितीय और देवपाल थे जो अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए थे। सम्भवतः इसी कारण यशोवर्मन की बढ़ती हुई सेनाओं का उन्होंने कोई मुकाबला नहीं किया और प्रयाग तक के क्षेत्रों पर चन्देलों का अधिकार हो गया। विक्रमी संवत के 1059 के खजुराहो अभिलेख से यह विदित है कि धंग ने प्रयाग के त्रिवेणी संगम पर जल समाधि द्वारा अपना प्राण त्यागा था। यशोवर्मा ने यह उपलब्धि सम्भवतः देवपाल प्रतीहार के विरुद्ध पाई थी। एक चन्देल अभिलेख कहता है कि उसने हेरम्बपाल के पुत्र हयपति देवपाल से वैकुण्ठ की एक मूर्ति प्राप्त की थी जिसे प्रारम्भ में तिब्बत और भूटान के राजा ने कैलाश से मगाई थी। बाद में उसने इसे कागड़ा के राजा को उपहार स्वरूप दी थी जिससे स्वयं हेम्बरपाल ने घोड़ों और हाथियों की कड़ी देकर प्राप्त किया। इसी हेम्बरपाल (महिपाल प्रथम) के पुत्र देवपाल से यशोवर्मा ने यह मूर्ति मित्रता के दबाव वश ले ली। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि कन्नौज के प्रतीहार शासब अब भी चन्देलों के नाम मात्र सम्राट थे किन्तु वास्तव में उनकी शक्ति इतनी कम हो गयी थी कि वे अपने ही सामन्तों के सामने झुकने को विवश हो रहे थे।

यशोवर्मा ने आगे बढ़कर कन्नौज के उत्तर में हिमालय पर्वत की तलहटी के प्रदेशों तक भी सैनिक अभियान किया। यह इस उल्लेख से प्रभावित होता है कि वह वह कुरूरूपी वृक्ष के लिए आंधी के समान था, कुरूदेश आजकल का दिल्ली, पानीपत और कुरूक्षेत्र का प्रदेश है। ये सारे क्षेत्र गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य के भीतर थे और उन पर यशोवर्मा का सैनिक अभियान निश्चय ही उनकी सत्ता को कुचलकर हुआ होगा।

आगे हिमालय की बर्फीली चोटियों और कश्मीर के विरूद्ध भी उसके सैन्याभियान का उल्लेख मिलता है। किन्तु इस संबंध में प्रमाणों के अभाव की स्थिति में केवल अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। असम्भव नहं है कि वह हरिद्वार के ऊपर कुछ ऊंचाई तक गया हो तथा उसकी किसी सैनिक टुकड़ी की कशमीर के किसी शासन से मुठभेड़ हुई हो।

पूर्व दिशा में यशोवर्मा ने मिथिला होते हुए गौड़ अर्थात उत्तरी–पश्चिमी बंगाल पर आक्रमण किया, इन दोनों क्षेत्रों पर पाल राजाओं का अधिकार था, किन्तु वे अब कमजोर और महत्वहीन हो चुके थे। उसके समकालीन पाल शासक राज्यपाल और गोपाल द्वितीय बड़े ही कमजोर थे और सम्भवतः वे ही उसके आक्रमण के शिकार हुए थे। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता है कि मिथिला और गोड़ पर यशोवर्मा का प्रत्यक्ष अधिकार हो गया था। वास्तव में इन अभियान से उसकी केवल राजनीतिक और सैनिक प्रतिष्ठा मात्र बढ़ी।

यशोवर्मा का मूल्यांकनः धंग के खजुराहो अभिलेख के आधार पर यशोवर्मा के विजय अभियानों के उल्लेख स्पष्ट है कि उसकी उपलब्धियां असाधारण थी। पहले तो वह अपने पिता हर्ष राज की तरह प्रतीहार सम्राट महीपाल प्रथम का सामन्त था। किन्तु धीरे–धीरे ज्यों–ज्यों महीपाल वृद्ध हो गया और राष्ट्रकुट आक्रमण के कारण उसे अपनी रक्षा में लगे रहने के लिए विवश होना पड़ा, त्यों–त्यों यशोवर्मा अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए ऊपर चढ़ता चला गया। महिपाल के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय उसे रोक सकने में असमर्थ थे और वह चारों दिशाओं में बढ़ता हुआ प्रतिहार क्षेत्रों को भी हड़पने में सफल हो गया। इन सारी सैनिक असफलताओं का आरम्भ उसके कदाचित कालंजर के किले पर अधिकार करके किया किन्तु उसका महत्व केवल उसकी सैनिक सफलताओं में ही निहित नहीं है। वह एक अत्यन्त सफल प्रशासक और प्रजाहित चिन्तक प्रतीत होता है। कथित है कि वह प्रजाओं में संतोष के लिए पैदा हुआ था। आज भी वर्तमान रहने वाली उसकी कीर्तियों में सर्वप्रमुख रूप से खजुराहो के उन अनेक मन्दिरों का नाम लिया जा सकता है जिन्हें उसने बनवाना प्रारम्भ किया था और जिस सुन्दर निर्माण की परम्परा की उसके वंशज राजाओं ने सैकड़ों वर्षों तक आगे बढ़ाया। देवपालों से उसने वैकुण्ठ (विष्णु) की जो मूर्ति प्राप्त की थी उसकी प्रतिष्ठा खजुराहो के एक ऐसे

मन्दिर में कराई जिसके स्वर्णशिखर आकाश को दीप्तिमान करते हैं और स्वर्गलोक के जीव भी उस ओर आकृष्ट होते थे। वही उसने एक तालाब का भी निर्माण करवाया। यशोवर्मा वैदिक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था और परम्परागत सभी धार्मिक और सामाजिक विश्वासों और पद्धतियों को स्वीकार करता था।

धंगदेव (लगभग 950 से 1002 ई०): यशोवर्मा की प्रजा को उसकी सबसे बड़ी विरासत उसके पुत्र उत्तराधिकारी धंग के रूप में प्राप्त हुई। उसकी माता का नाम पुष्पा देवी था। कृष्ण नामक एक उसका छोटा भाई भी था। धंग के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिसमें सबसे पहला विक्रमी संवत 1011 अर्थात 954 ई० में और सबसे अन्तिम विक्रमी संवत 1059 और 1002 ई० मे प्रकाशित किया गया था। इनसे प्रमाणित होता है कि उसने कम से कम 45 वर्षों तक अवश्य ही शासन किया था। सम्भवत है कि उसका शासन काल इससे कुछ और भी अधिक लम्बा हो। प्रायः यह माना जाता है कि उसका 850 और 954 ई० के बीच कभी राज्यारोहण हुआ।

धंग के अभिलेखों से उसकी परिचयात्मक बातों, विजयों, उसके राज्य क्षेत्र, साम्राज्य के स्वरूप का एक अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इन अभिलेखों में पहला ही सबसे महत्वपूर्ण है। यह खजुराहो से प्राप्त हुआ है और जिससे उसके समय तक चन्देलों की वंशावली तथा यशोवर्मा की विजयों के अतिरिक्त कुछ और भी महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। यह अभिलेख खजुराहो के लक्ष्मण नाथ मन्दिर से प्राप्त हुआ है।

धंग का राज्य विस्तार: धंग के खजुराहो अभिलेख के अनुसार उसका राज्यक्षेत्र कालंजर तक, मालव नदी के किनारे भरथल तक वहां से यमुना नदी के किनारे तक, वहां से चेदि की सीमाओं तक तथा वहां से गोप पहाड़ तक फैला हुआ था। यहां पर भी कहा गया है कि उपयुक्त सारा क्षेत्र धंग ने अपनी भुजाओं के बल पर खेल–खेल में जीत लिया था। यह कथन उसकी प्रशंसा मात्र जान पड़ता है क्योंकि उपर्युक्त विवरण में कालंजर सहित कम से कम दो दिशाओं के क्षेत्र तो यशोवर्मा के समय में ही चन्देलों के अधिकार में आ चुके थे। किन्तु गोप नामक पहाड़ अर्थात ग्वालियर का प्रदेश निश्चय ही धंग की विजयों के फलस्वरूप चन्देल राज्य का अंग बना। दक्षिण पश्चिम में भास्वत अर्थात मिलसा तक के क्षेत्रों को भी उसी ने सर्वप्रथम जीता। ये विजय अपने शासन काल के प्रारम्भ होने के थोड़े दिनों भीतर ही उसने सम्पन्न कर ली, जिसके फलस्वरूप उसके राज्य क्षेत्र का स्वरूप एक ऐसे टेढ़ा–मेढ़ा त्रिभुज के समान बन गया, जिसके एक कोण पर ग्वालियर का किला स्थित था, जहां से एक टेढ़ी–मेढ़ी रेखा बेतवा नदी के किनारे यमुना नदी को पार कर उत्तर पूर्व में प्रयाग तक पहुंचती थी। तीसरी रेखा वहां से यमुना नदी और बाएं किनारे वाले प्रदेशों से होकर ग्वालियर तक जाती थी।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त ग्वालियर पर धंग के अधिकार तथा उसकी अन्य विजयों के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएं अन्यत्र भी मिलती है। विक्रमी संवत 1093 के सास बहू अभिलेख का कथन है कि वजदमन नामक कच्छपघात राजा ने गाधीनगर की बढ़ती हुई शक्ति का दमन किया और उसकी शक्तिशाली भुजाओं द्वारा विजित गोपाद्रि के दुर्ग में उसके नगाड़ों की प्रतीध्वनि ने उसका वीर व्रत पूरा किया। इस लेख का प्रकाशक महिपाल कच्छपघात वज्र दमन से छः पीढ़ी बाद हुआ था, जिसकी समाप्ति विक्रमी संवत 1034 अर्थात 977 ई० के सुहानियां अभिलेख में उल्लिखित महाराजाधिराज वज्रान से की गयी है। इस प्रकार वज्रदमन धंग का समकालीन ठहरता है। विद्वानों का विचार है कि वज्रदमन कोई प्रतीहारों का सामन्त रहा होगा जिसे धंग ने हराया तथा ग्वालियर को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। धंग ने कन्नौज के राजा पर भी विजय पाई, इसका प्रमाण मदन वर्मा के मरू अभिलेख में मिलता है।

धंग के राजा की सीमाओं के संबंध में कालंजर पर उसके अधिकार की जो चर्चा है, वह इस दुर्ग के सामरिक महत्व को देखते हुए आवश्यक है। उसके विक्रमी संवत 1055 के एक अन्य अभिलेख में उसे कालंजराधिपति कहा गया है। कदाचित वह जब तक चन्देलों की राजधानी बन चुका था।

उत्तर पूर्व में धंग की राज्य सीमाएं काशी तथा प्रयाग के प्रसिद्ध तीर्थों तक फैली हुई थी। 995 ई० का उसका अभिलेख बनारस जिले के न्योरा नामक गांव से प्राप्त हुआ है। बाद के एक अन्य अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि धंग ने अपनी 100 वर्षों की आयु पूरी करके प्रयोग में त्रिवेणी के संगम स्थल पर धार्मिक क्रियाओं के साथ जल समाधि द्वारा प्राण त्यागा। प्रयाग का यह क्षेत्र सम्भवत धंग के पिता यशोवर्मा के समय से ही चन्देल अधिकार में आ चुका था। किन्तु पूर्व स्थिति काशी के क्षेत्रों की विजय धंग की ही उपलब्धि थी। ये सारे क्षेत्र पहले कन्नौज के प्रतीहारों के अधिकार में रह चुके थे और उन्हीं से धंग ने उन्हें छीना होगा।

धंग की प्रशंसा में विक्रमी संवत 1059 ई० का खजुराहो अभिलेख में कहा गया है कि कौशल, सिंघल और कुन्तल के राजा झुककर उसकी आज्ञा सुनते थे तथा कांची आंध्र, गढ़ और अंग के राजाओं की रानियां उसके बंधनगारी में सड़ती थी। ये सभी प्रदेश चन्देल की मूल भूमि और उसके प्रभाव क्षेत्र की सीमा से इतनी दूर थे कि सहज में ही धंग का उन पर कोई राजनीतिक अथवा सैनिक प्रभाव स्थापित हुआ हो, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। कदाचित ये विवरण अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा मात्र हैं।

धंग का मूल्यांकनः धंग के निजी अभिलेखों और उसके वंशजों के आलेखों में आने वाली उनकी प्रशंसाओं से यह स्पष्ट है कि धंग अपने समय का सर्वप्रमुख भारतीय नरेश था। खजुराहो में उसने अनेक मन्दिरों की स्थापना की तथा उनमें अनेक अभिलेख लिखवाए, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कला और संस्कृति के संरक्षण में वह अगुवा था। वी.ए. स्मिथ के शब्दों में "खजुराहो के भव्य मन्दिरों के रूप में मन्दिर वास्तु की उत्तरी शैली यशोवर्मा और धंग के शासनों (930-1002 ई०) में अपनी चरमोन्नति पर पहुंच गई। ठीक ही हे वे उस शैली के आदर्श प्रतीमान होने का स्वत्व रखते थे जो अपनी संगति पूर्ण रचना, आकार महिमा, सुसमृद्ध सजावट के कारण भूरि–भुरि प्रशंसा के पात्र हैं।" उसके अभिलेखों में, वासुदेव, शिव भारती, गणेश आदि अनेक हिन्दू देवी–देवताओं की सतुतियां की गई हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी सर्वाधिक भक्ति शिव में थी। किंतु धंग का संरक्षण केवल ब्राह्मणों और हिन्दू देवी–देवताओं और उनके मन्दिरों तक ही सीमित नहीं था। उसने जैनियों को भी पूरी सुविधाएं दी थी। खजुराहो का जिननाथ मंदिर उसका सबसे बड़ा उदाहरण है, जहां से विक्रमी संवत 1011 का एक दान पत्र अभिलेख भी प्राप्त हुआ है। खजुराहो स्थित वैधनाथ के मन्दिर से प्राप्त शिलालेख से धंग के समय की धार्मिक सहनशीलता का एक उत्तम उदाहरण प्राप्त होता है। मन्दिरों के निर्माण के सबंध में धंग सम्भवतः सबसे बड़ी कीर्ति अपने पिता यशोवर्मा द्वारा प्रारम्भ किए गए वैकुण्ठनाथ के मन्दिरों को पूरा कराना था। उसने भगवान शिव के एक अन्य मन्दिर का निर्माण कराया जिसके भरकतमणि से बने हुए शिवलिंग की स्थापना की।

इस प्रकार लगभग 50-55 वर्षों तक की लम्बी अवधि तक सफलतापूर्वक शासन करते हुए धंग ने अपनी आयु के 100 वर्षों से अधिक हो जाने के पश्चात गंगा यमुना संगम के जल में जल समाधि लेकर अपना शरीर त्याग दिया। मृत्यु का इस प्रकार आलिंगन उस हिन्दु शासक के परम सन्तोष तथा आत्मकसफलता की भावना का परिचायक है।

गण्ड (लगभग 1003 से 1017 ई०): धंग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र गण्ड सिंहासन पर बैठा। 1008 ई० में महमूद गजनवी ने जयपाल के पुत्र आनन्दपाल पर आक्रमण कर दिया था। फरिश्ता के कथनानुसार कालंजर नरेश ने भी उसकी सहायता की थी। चूंकि उन दिनों गण्ड ही कालंजर पर शासन कर रहा था अतएव उसी ने महमूद गजनवी के विरुद्ध आनन्दपाल की सहायता की थी। यद्यपि आनन्दपाल इस युद्ध में हार गया था किन्तु इस सहायता से गण्ड का देश प्रेम आभासित होता है। सम्भवतः 1017 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

विद्याधर (लगभग 1017 से 1029 ई०): विद्याधर गण्ड का पुत्र था और लगभग 1018 ई० में वह राजगद्दी पर बैठा। उसके समय चन्देलों की राजनीतिक और सैनिक सत्ता चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई और कई अर्थों में उसका काल चन्देलों के इतिहास में सर्वाधिक गौरव का समय साबित हुआ।

विद्याधर के राजगद्दी पर बैठते ही मुसलमानों के आक्रमणों की जोरदार चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि महमूद गजनवी के सामने अन्य भारतीय नरेश तो हतोत्साहित होकर भाग गये अथवा छोटे–मोटे प्रतिरोध के बाद हार गये, किन्तु ऐसा विद्याधर ने नहीं किया। विद्याधर ने गजब का साहस और कुशलता दिखाई और महमूद की सभी चुनौतियों का डरकर सामना किया। यद्यपि उत्बी, निजामुद्दीन, इब्नुल अतहर, तथा फरिश्ता जैसे मुस्लिम इतिहासकार महमूद की सफलताओं को बहुत बढ़ा–चढ़ाकर बताते हैं, किन्तु उनके कथनों को यदि बारीकी से जांचा जाए तो विद्याधर को हम एक ऐसी चट्टान के रूप में पायेंगे जिसे कम से कम दो बार प्रयत्न करने पर भी महमूद तोड़ नहीं सका। विद्याधर का मुसलमानों पर अप्रत्यक्ष प्रहार 1018-19 ई० में जब महमूद ने कन्नौज लूटा था तो वहां का प्रतीहार शासक राज्यपाल उसका कोई प्रतिरोध किए बिना ही भाग गया था। यह कायरतापूर्ण आचरण भारतीय राजपूत गौरव के विपरीत था। इसके लिए विद्याधर ने उसे दण्डित करने का निश्चय किया। इब्न–उल–उहतर कहता है कि "विदा अर्थात विद्याधर राज्य सीमा की दृष्टि से भारत का सबसे बड़ा राजा था और उसके पास सबसे बड़ी सेना थी। उसके देश का नाम खजुराह था। उसने कन्नौज के राय राज्यपाल के पास इस बात के लिए डांट भेजी कि उसने बिना युद्ध किए ही अपना राज्य मुसलमानों को समर्पित कर दिया और स्वयं भाग गया। उन दोनों में एक लम्बा संघर्ष छिड़ गया और वे दोनों युद्ध के लिए चल पड़े। राज्यपाल मारा गया और उसके सैनिक खेत रहे। इस सफलता से विदा (विद्याधर) ओर भी शरारती और अनमाना हो गया और उसकी कीर्ति सारे भारत में फैल गयी।" विक्रमसिंह कच्छवाह का विक्रमी संवत 1445 का डुबगुण्ड अभिलेख इसका समर्थन करता है। उसमें कहा गया है कि विक्रमसिंह के प्रपितामाह अर्जुन ने विद्याधरदेव के कार्य में निरत होकर अपने बाणों की बौझार से राज्यपाल के गले की हड्डियों को भेद दिया और उसे घोर युद्ध में मार डाला। इसके विपरीत महोबा का एक अन्य अभिलेख विद्याधर को ही राज्यपाल को मारने का श्रेय देता हैं विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि अर्जुन ने विद्याधर के सामन्त के रूप में ही राज्यपाल का वध किया जब वह उसकी सेवा में सहायक के रूप में संबंधित हुआ था।

राज्यपाल के वध के बाद विद्याधर उत्तर भारत का सर्वप्रथम शासन बन गया। मुस्लिम साक्ष्यों के अनुसार वह शरारती और मनमानी हो गया और उसकी कीर्ति सारे भारत में फैल गयी। ऐसा लगता है कि उसकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के कारण देश के अन्य शासक

महमूद के आक्रमणों की विभिषका के संदर्भ में उसकी ओर अपनी रक्षा की दृष्टि से देखने लगे। सम्भवतः इसी ओर निर्देश करते हुए उब्न–उल–अहतर कहता है कि यमीनदौला (महमूद) द्वारा विजित भारत के एक राजा ने विदा की सेवा ग्रहण कर लौ और उससे रक्षा की भीख मांगी। सम्भवतः वह राजा या तो प्रतीहार राजा का पुत्र त्रिलोचन पाल अथवा शाही राजा जयपाल का पुत्र त्रिलोचन पाल। यदि दूसरा विकल्प सही है तो यह मानना होगा कि विद्याधर की अधिसत्ता का क्षेत्र में उत्तर में पंजाब तक विस्तृत हो गया था।

महमूद गजनवी का चन्देलों पर आक्रमण (1019-20 ई०): महमूद को विद्याधर की इस बढ़ती हुई शक्ति और प्रतिष्ठा को लेकर चिन्ता हुई। गजनी में बैठकर भी वह भारत में बढती हुई चुनौती से बड़ा चिन्तित रहने लगा और इस बात से पूर्व कि विद्याधर उसकी भारतीय विजयों पर कहीं पूरा पानी न फेर दे, महमूद ने उस पर भी आक्रमण करने का निश्चय किया। इब्न–उल–अहतर कहता है कि वह अफगानिस्तान होता हुआ पुनः एक बार भारत आ धमका। यमुना नदी के किनारे पंजाब के शाही शासक त्रिलोचन पाल को हराने के बाद महमूद विद्याधर की तरफ आगे बढ़ा। दोनों की मुठभेड़ किसी नदी के किनारे हुई किन्तु रात्रि हो जाने के कारण दोनों अलग हो गये तथा दूसरे दिन महमूद ने मैदान खाली देखा। उसने भागते हुए हिन्दू सैनिकों को मार डाला किन्तु विद्याधर अकेले ही भाग निकला।

इब्नुल अहतर के उपर्युक्त विवरण के कुछ भिन्न विवरण निजामुद्दी देता है। उसके अनुसार नन्दा अर्थात विद्याधर ने 36000 घोड़े 145000 पैदल और 390 हाथियों की एक विशाल सेना इकट्ठी की। सुलतान ने नन्दा की सेना के सामने अपना खेमा गाड़कर उसे इस्लाम स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया। किन्तु नन्दा अर्थात विद्याधर ने दासता के जुए में अपना गला डालने से इन्कार कर दिया। तत्पश्चात सुल्तान उसकी सेना का पता लगाने के लिए ऊंचे स्थान पर गया और उसकी विशालता का देखकर अपने भाग्य पर पछतावा करने लगा। उसने अपना सिर जमीन पर रखकर बड़े विनयपूर्वक सभी दयाओं के दानी (ईश्वर) से विजय हेतु प्रार्थना की। रात्रि होने पर नन्दा भयभीत हो गया और अपनी सेना और शस्त्रास्त्र को छोड़कर कुछ चुने हुए हाथियों के साथ चला गया। दूसरे दिन जब सुल्तान ने यह सुना तो अपने घोड़े पर सवार होकर उन सभी स्थानों को खोजा जहां धोखे से छापा मारने के लिए नन्दा के छिपे रहने का उसे संदेह था। किन्तु जब उसे इस बात का भरोसा हो गया कि धोखे अथवा विश्वासघात का कोई इरादा नहीं हे तो उसने लूट और विनास प्रारम्भ कर दिया तथा इस्लाम की सेनाओं के हाथ लूट का विशाल भण्डार हाथ लगा। निजामुद्दीन का यह विवरण अपने में ही इतना परस्पर विरोधी है कि उसे महमूद विद्याधर संघर्ष का वास्तविक प्रतीरूपक नहीं माना जा सकता। एक तरफ तो वह कहता है कि विद्याधर के पास ऐसी विशाल सेना थी कि महमूद कांप गया तथा स्वधर्म के प्रति उसमें (विद्याधर में) बहुत बड़े गौरव का भाव था। किंतु दूसरी ओर वह उसके भाग निकलने की बात भी कहता है। वास्तव में निजामुद्दीन अन्य अनेक मुस्लिम इतिहासकारों की तरह मुख्य रूप से यह दिखाना चाहता है कि अल्लाह की प्रार्थना से असीम फल और शक्ति प्राप्त होती है। इस स्थिति में हेमचन्द्र राय जैसे विद्वान निजामुद्दीन की तुलना में इब्नुल अहतर का विवरण अधिक विश्वासप्रद स्वीकार करते हैं। उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महमूद और विद्याधर में पहले तो भयंकर युद्ध हुआ किन्तु युद्ध के मैदान को अपने बहुत अनुकूल न पाकर विद्याधर ने रात्रि में युद्ध बंद होने पर किसी और अधिक अनुकूल युद्ध स्थल की खोज में वहां से चला गया। इसे ही मुसलमान लेखक उसका भाग जाना कहते हैं किन्तु बीते हुए युद्ध की भयंकरता के कारण महमूद को पुनः विद्याधर से युद्ध छेड़ने का साहस नहीं हुआ और वह भी वापस गजनी लौट गया। निजामुद्दीन अल गर्दीजी और फरिश्ता जैसे अनेक मुसलमान लेखकों के साक्ष्य से स्पष्ट हे कि युद्ध स्थल से रात्रि के समय विद्याधर के हट जाने पर भी महमूद को इस बात की बड़ी आशंका थी कि कहीं वह धोखे से फिर मुसलमानों को घेर न ले और इस भय से ही वह उसे जंगलों और झुरमटों में खोजते फिरा। अतः यह मानना समचीन प्रतीत नहीं होता कि महमूद को कोई विजय हासिल हुई।

चन्देलों पर महमूद का दूसरा आक्रमण (1022 ई०): किन्तु इस अनिर्णायक युद्ध में किसी विशेष सफलता को न प्राप्त कर सकने के कारण महमूद बड़ा असंतुष्ट था। अतः पूरी तैयारी के साथ उसने 1022 ई० में पुनः चन्देलों पर आक्रमण किया। निजामुद्दीन कहता है कि पहले तो उसे नन्दा के राज्य में स्थित ग्वालियर के किले पर चढ़ाई की, जिसके 'हाकिम' चार दिनों तक घेराबन्दी के बाद 35 हाथियों की भेंट देकर अपनी रक्षा की प्रार्थना की। तत्पश्चात अपनी शक्ति और अमेघता के लिए सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध कालंजर की महमूद ने घेराबन्दी की जो बहुत दिनों तक चलती रही। नन्दा ने 300 हाथियों की अधीनता सूचक भेंट के बदले अपनी रक्षा की प्रार्थना की। उसे यह देखकर बडा विस्मय हुआ कि 300 मतवाले हाथियों को बिना महावतों के महमूद की सेना की तरफ छोड़ दिया गया था, उन्हें तुर्कों ने महमूद की आज्ञा से या तो वश में कर लिया अथवा उन पर सवारी की, या एक ओर जाने के लिए बेवश कर दिया; जहां थोड़ी देर में वे काबू कर लिये गये। उसके बाद नन्दा ने हिन्दी कविताओं (लुगात–ए–हिन्द) में महमूद की प्रशंसाएं लिख भेजी, जिन्हें अपने साथ आए हुए कवियों और हिन्दुस्तान के अन्य विद्वानों को दिखकर सुल्तान महमूद बडा प्रसन्न हुआ और नन्दा को बधाइयां भेजी। साथ ही उसके अपनी ओर से अनेक उपहारों के साथ 15 किलो की किलेदारी का अधिकार दिया। नन्दा ने भी बहुमूल्य रत्नों सहित बहुत सी सम्पत्ति सुल्तान को भेंट स्वरूप भेजी। इस स्थान से सुल्तान विजयी होकर गजनी लौटा।

निजामुद्दीन का यह विवरण पिछले विवरण की भांति कुछ अंश तक परस्पर विरोधी तथ्यों से पूर्ण है तथापि कुछ बातें स्पष्ट हैं। प्रमुख बात यह है कि बहुत दिनों तक घेरेबन्दी के बाद भी महमूद उसे पराजित न कर सका। ऐसी स्थिति में विद्याधर के लिए यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं था कि वह महमूद की अधीनता मानने का विवश होकर 300 हाथियों की भेंट देता। स्मिथ जैसे कुछ आधुनिक इतिहासकार भी निजामुद्दीन की तरह ही महमूद की प्रशंसा में अपनी आंख बंद लेते हैं और यथातथ्य का विवेचन किए बिना ही कहते हैं कि विद्याधर ने राज्यपाल को तो उसकी कायरता के लिए मार डाला, किन्तु स्वयं भी उतना ही कायर निकला और इस्लाम के कठोर लड़ाकों के सामने अपना हृदय कठोर न कर सका। इस कथन का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। वास्तव में यह युद्ध विद्याधर को युद्ध में जीता नहीं सका। विद्याधर ने जिन 300 मतवाले हाथियों की महमूद की सेना की ओर बिना महावतों के छोड़ दिया, वह तो केवल तुर्कों की वीरता की परीक्षा लेने मात्र के लिए था। वास्तव में दोनों पक्षों ने एक–दूसरे की शक्ति का सही–सही अनुमान लगाकर आपस में संधि कर लेना ही अधिक ठीक माना, जो निजामुद्दीन के इस कथन से सिद्ध होता है कि दोनों ने एक–दूसरे को भेटें भेजी और प्रशंसायें की।

विजयपाल: विद्याधर के बाद उसका पुत्र विजयपाल सिंहासन पर बैठा। महोबा अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि विजयपाल का कलचुरि नरेश गांगेयदेव के साथ युद्ध हुआ था इस युद्ध में गांगेयदेव की पराजय हुई थी।

मूलदेव कच्छपघात वंश का राजा था और वह विद्याधर की अधीनता में शासन कर रहा था किंतु विजयपाल के शासन काल में उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और अपने को चंदेल वंश की अधीनता से मुक्त कर लिया। परमार नरेश भोजदेव को भी विद्याधर ने अपने अधीन कर लिया था। किन्तु दुबकुण्ड अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि भोजदेव ने दुबकुण्ड तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था सम्भवतः उसने चन्देल वंश की अधीनता को अस्वीकार कर दिया था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विजयपाल का काल चन्देल वंश के पतन का काल था और चन्देल साम्राज्य छिन्न–भिन्न होने लगा था लगभग 1050 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

देववर्मा: विजयपाल के बाद उसका पुत्र देववर्मा लगभग 1050 ई० में सिंहासन पर बैठा। उसके शासन काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना लक्ष्मीकरण का आक्रमण था जिसने उसे परास्त कर लिया था। विलहण ने अपने विक्रमाकदेव चरित में लक्ष्मीकरण को कालंजर नरेश के लिए मृत्यु तुल्य बतलाया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसने देववर्मन को परास्त कर दिया होगा। लगभग 1069 ई० में देववर्मन की मृत्यु हो गयी।

कीर्तिवर्मा: यह देववर्मा का छोटा भाई था। सम्भवतः उसने अपने बड़े भाई देववर्मा को सिंहासन से हटाकर राजपद प्राप्त किया था। उस समय चन्देल वंश बड़ी ही संकटपूर्ण स्थिति में था और वह पतन की ओर जा रहा था। इसलिए कीर्तिवर्मा का सर्वप्रथम दायित्व वंश की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना था। इस कार्य को उसने कलचुरि नरेश लक्ष्मीकरण के साथ सफलतापूर्वक संघर्ष करके किया। महोबा अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि उसने लक्ष्मीकरण को परास्त कर दिया था। अन्य साक्ष्यों से भी कीर्तिवर्मा की विजय तथा लक्ष्मीवर्मा की पराजय की पुष्टि हो जाती है। डा० आर.सी. मजूमदार के कथनानुसार पंजाब के मुस्लिम शासक महमूद ने कालंजर पर आक्रमण कर दिया था। किन्तु कीर्तिवर्मन के मंत्री वत्सराज ने देवगढ़ के पास पड़ोस के प्रदेशों पर अपने स्वामी की ओर से अधिकार स्थापित कर लिया था और वहां पर देवगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण करवाया था। लगभग 1100 ई० में कीर्तिवम्र की मृत्यु हो गयी।

सल्लक्षणवर्मा: कीर्तिवर्मा के उपरान्त उसका पुत्र सल्लक्षणवर्मा राजा बना। वह अपने पिता की भांति वीर योद्धा तथा सेनानायक था। साथ ही साथ वह बड़ा सहृदय तथा उदार भी था। मऊ अभिलेख उसे बड़ा ही उदार, दानी, विद्वान तथा कला प्रेमी नरेश बताता है। उसे अपने शासन काल में अनेक युद्ध करने पड़े थे। मऊ अभिलेख के अनुसार उसने अन्तर्वेदी पर आक्रमण कर दिया था और उसे विजय भी प्राप्त हो गयी थी किन्तु इस विजय से उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि गहड़वाल नरेश जयचन्द ने अन्तर्वेदी पर उसका अधिकार न होने दिया।

अजयगढ़ अभिलेख के अनुसार सल्लक्षण वर्मा ने मालवों तथा चेदियों की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया था। इन दिनों मालवा में परमार नरेश नरवर्मन शासन कर रहा था और चेदि वंश का शासक यशावर्ण था इसलिए इन्हीं दोनों राजाओं को परास्त कर उसने जयलक्ष्मी प्राप्त की होगी। 1115 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

जयवर्मा: सल्लक्षणवर्मा के उपरान्त उसका पुत्र जयवर्मा राजा हुआ। वह एक दुर्बल शासक प्रतीत होता है। गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्र ने सम्भवतः छत्रपुर का प्रदेश उससे छीन लिया था। कालंजर अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजकाज से ऊबकर उसने सिंहासन छोड़ दिया।

पृथ्वीवर्मा: जयवर्मा के सिंहासन छोड़ देने के उपरान्त उसका चाचा पृथ्वीवर्मा सिंहासन पर बैठा। उसके शासन काल की किसी भी महत्वपूर्ण घटना का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता।

मदनवर्मा: पृथ्वीवर्मा के उपरान्त उसका पुत्र मदनवर्मा सिंहासन पर बैठा। अनेक अभिलेखों में उसकी विजया का वर्णन किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि वह एक वीर विजेता तथा साम्राज्यवादी सम्राट था और उसने अपने वंश की प्रतिष्ठा की पुन स्थापना का प्रयास किया। मऊ अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि मदनवर्मा ने चदि नरेश, काशी नरेश, मालवा नरेश तथा अन्य नरेशों पर विजय प्राप्त कर उन्हें आतंकित कर दिया था। मदनवर्मा की मुद्राओं से स्पष्ट होता है कि उसने चेदिवंश से बघेलखण्ड को छीन लिया था। छतरपुर में 1147 ई० का मदनवर्मा का एक अभिलेख मिला है जिससे निष्कर्ष निकला गया है कि मदनवर्मा ने गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द से छतरपुर राज्य पुनः छीन लिया था। मदनवर्मा गहड़वाल नरेश विजयचन्द्र का भी समकालीन था।

'रंभा मंजरी' से हमें ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र के पुत्र जयचन्द्र ने मदनवर्मा को परास्त कर दिया था। सम्भवतः जयचन्द्र ने युवराज के रूप में यह युद्ध किया था और मदनवर्मा पर विजय प्राप्त की थी। इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्देल तथा गहड़वाल वंश में जो परम्परागत संघर्ष चला आ रहा था उसमें अन्त में गहड़वाल वंश को ही विजय प्राप्त हुई। सम्भवतः परमार नरेश लक्ष्मीवर्मन ने भीलसा का प्रदेश मदनवर्मा से छीन लिया था। मदनवर्मा को गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज से भी युद्ध करना पड़ा था। यद्यपि दोनों ही पक्ष अपनी–अपनी विजय का उल्लेख करते हैं किन्तु विभिन्न साक्ष्यों का अध्ययन करने के उपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि प्रारम्भ में चालुक्य नरेश जयसिंह को विजय प्राप्त हुई थी परंतु कालांतर में उसे परास्त होना पड़ा।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मदनवर्मा का काल युद्धों तथा संघर्ष का काल था, किन्तु उसने अपने शत्रुओं का बड़ा ही वीरता तथा साहस के साथ सामना किया और अपने राजवंश की मर्यादा तथा प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना के लिए उसने भगीरथ प्रयास किया।

चन्देल सत्ता का पतन: मदनवर्मा इस वंश का अन्तिम योग्य शासक था। उसके उत्तराधिकारी कमजोर हुए और वे उसकी विरासत को सम्भाल न सके। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी यशोवर्मा का शासन थोड़े ही दिनों का था। उसके बाद 1165 ई० में उसका पुत्र परमर्दिदेव राजगद्दी पर बैठा। यद्यपि उसने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' तथा 'परम माहेश्वर श्री कालिंजराधिपति' जैसी बड़ी उपाधियां धारण कर रखी थी तथा उसकी राज्य सत्ता का पतन शीघ्र ही बाहरी आक्रमणों के कारण आरम्भ हो गया। सबसे पहले तो चाहमान शासन पृथ्वीराज तृतीय ने उस पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और कुछ समय तक उसके कुछ प्रदेश पर हावी हो गया। इस आक्रमण की चर्चाएं चन्दबरदई कृत पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो और जगनिक कृत आल्हा खण्ड में प्राप्त होता है। इन सब में अनुश्रुतियों का काफी पुट है और कभी–कभी तो उसमें ऐतिहासिक तिथि–क्रम को भी गडबड कर दिया है किंतु कुछ बातों के ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं जैसे 1182 ई० में पृथ्वीराज परमर्दिन् के व्यवहार क्रुध होकर चन्देल क्षेत्रों पर आ धमका, रास्ते के शिकारगढ़ के किले पर मलखान नामक शासक बहादुरी से लड़ता हुआ मारा गया, महोबा में चन्देल सेनाओं का चाहमान सेनाओं से भीषण मुठभेड़ हुई। जिसमें बनारस के राजा जयचन्द के आल्हा उदल नामक बनाफर सरदार भी चन्देलों की ओर से लड़े थे किन्तु यह विवरण सही नहीं है कि कालंजर से परमर्दिन को पकड़कर पृथ्वीराज उसे दिल्ली लाया और उसे मार डाला। महोबा पर चाहमानों के अधिकार को प्रमाणित करने वाले 1182 ई० के पृथ्वीराज के दो–तीन अभिलेख मदनपुर से प्राप्त होते हैं। किन्तु पृथ्वीराज का महोबा पर यह अधिकार बहुत दिनों तक नहीं रह सका। वहां से 1183 ई० का परमर्दिन का एक अभिलेख मिला है जो पुनः उस पर चन्देलों के अधिकार को प्रमाणित करता है। सम्भवतः मुसलमानों के दबाव से चिंतित होकर पृथ्वीराज ने चन्देल क्षेत्रों को स्वयं ही छोड़ दिया।

किन्तु पृथ्वीराज के आक्रमण के प्रभाव से मुक्त होकर भी परमर्दिन सुखपूर्वक शासन नहीं कर सका। शीघ्र ही उसे मुसलमानों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। मुहम्मद गौरी के कुतुबद्दीन और अल्तमान नामक गुलामों ने 1202 ई० में चन्देलों पर आक्रमण कर दिया। हसन निजामी का कथन है कि कालंजर के किले में कुछ दिनों तक घिरे रहने पर विवश होकर परमर्दिन ने आत्मसमर्पण करते हुए उनकी अधीनता मान ली। किंतु उसका दीवान आत्मसमर्पण को तैयार नहीं था। किन्तु सूखे के कारण यह भी विवश हो गया। कालंजर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया, जिसे हजबरूद्दीन हसन अर्नाल के शासन में सौंप दिया।

चन्देलों पर कुतुबुद्दीन ऐबक का यह आक्रमण अत्यन्त भयावह सिद्ध हुआ। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि परमर्दिन 1202 ई० में स्वाभाविक रूप से मरा अथवा बिना किसी प्रतिरोध के ही मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर लेने पर क्रुद्ध होकर उसके मंत्री अजयदेव ने उसे मार डाला। जो भी हो कालंजर का किला मुसलमानों ने जीत लिया और जेजाकयुक्ति का एक छोटा प्रदेश ही अब परमर्दिन के वंशजों के हाथ में बचा रहा। परमर्दिन के उत्तराधिकारी भिलोक्यवर्मा थोड़े ही दिनों के लिए पुन कालंजर को अपने अधिकार में तो कर लिया किंतु तुर्क आक्रमण ने 1232 ई० में पुनः उसे लूटा। आगे भी कुछ चन्देल शासक बन रहे, किंतु राजनीतिक स्थिति इतनी नगण्य थी कि उसके वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है।

अध्याय-3

परमार वंश
The Paramaras

परमारों की उत्पत्तिः परमारों की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रकट किये गये हैं। इनमें से अधिकांश मतों का डी.सी. गांगुली ने अपनी पुस्तक 'परमारों का इतिहास' में उल्लेख किया है। इन सब मतों का अभिलेखों और साहित्य के साक्ष्यों के प्रकाश में परीक्षण करना आवश्यक है।

परमारों की उत्पत्ति के संबंध में प्रथम मत यह है कि वे गुर्जर थे। कैम्पवेल ने सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन किया था। वाप्सन द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के आधार पर कैम्पवेल मानते हैं कि चावड़ों की उत्पत्ति परमार वंश के विक्रमादित्य से हुई। वाटसन ने अपना यह मत एक गुजराती परम्परा पर आधारित किया है। जो किसी ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा समर्थित नहीं है। फिर भी कैम्पवेल चावड़ों को परमार मानते हुए कहते हैं कि एक संदर्भ के अनुसार चावड़ों को गुर्जर भी कहा गया है। इसलिए परमारों को गुर्जर माना जा सकता है। किन्तु किस साक्ष्य के आधार पर परमारों को गुर्जर कहा गया है व स्पष्ट नहीं है।

कैम्पवेल का दूसरा तर्क यह है कि गुर्जर ओसवाल परमार है। यह कहा जा सकता है कि ओसवाल को गुर्जर ओसवाल कहा जाता है तो इसमें केवल यही संकेतिक होता है कि वे गुर्जरत्रा प्रदेश में रह रहे थे। पूर्वी मारवाड़ किसी समय गुर्जर देश अथवा गुर्जरमा नाम से सम्बोधित किया जाता था। ओसियो से प्राप्त एक अभिलेख में यह सिद्ध हो जाता है कि ओसियां गुर्जर प्रतीहार राज्य के अन्तर्गत आता था। किंतु परमार इस काल में इस प्रदेश में निवास नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त 1811 ई० में हुई जनसंख्या में ओसवालों की 325 शाखाए गिनी गई जिनमें परमार का नाम नहीं है। लेकिन ओसवाल गुर्जर होने के कारण परमार हो सकते हैं।

भण्डारकर कैम्पवेल के मत का समर्थन करते हैं तथा हमारा ध्यान निम्न तथ्य की ओर आकृष्ट करते हैं। 'पंजाब के गुर्जरों की एक परम्परा है कि दक्षिण के धारा नगर (धार) से आए थे। धार में प्रारम्भ में ही परमारों का निवास था। अतः यह अत्यधिक सम्भावित है कि फिरोजपुर के गुर्जर उनकी एक शाखा थे।' वे आगे तर्क देते हैं कि क्षत्रियों की चार कुल यथा – चाहमान, चालुक्य, परमार तथा प्रतीहार यह दावा करते हैं कि वे अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सब एक ही उत्पत्ति से संबंधित थे। इसके अलावा राजोर पाषाण अभिलेख के आधार पर यह मानते हुए कि प्रतीहार निःसंदेह गुर्जर माने जा सकते हैं और चारों कुलों का एक उद्भव होने के कारण सभी गुर्जर माने जा सकते थे। हार्न ले भी इस मत का समर्थन करते हैं।

जहां तक फिरोजपुर के गुर्जरों का दक्षिण के धारानगर से आने का संबंध है, यह ध्यान रखने योग्य है कि यह क्षेत्र परमारों के हाथ में आने से पहले गुर्जरों के अधीन था अतः यह धारणा आवश्यक नहीं है कि वे परमारों की समानान्तर शाखा थे। जहां तक प्रतीहारों की गुर्जर उत्पत्ति का संबंध है, इस विषय में कहा जा सकता है कि जोजी नदी के चारों ओर गुर्जर अथवा जुज्र प्रदेश होना चाहिये। अतः प्रतीहारों की गुर्जर उत्पत्ति भौगोलिक है, प्रजातीय नहीं। कैम्पवेल पुनः इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं कि गुर्जर अपने महान राज्य बखतंग (469-500 ई०) के समय में भारत में स्थानान्तरित हो गये थे। किंतु यह मत पूर्णतः जोर्जियन परम्परा पर आधारित है। इसकी पुष्टि के लिए कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। अतः परमारों की गुर्जर उत्पत्ति मात्र पुरानी कथा है।

दूसरा मत यह है कि परमार हुणों की संतान हैं। टाड़ के अनुसार प्राचीन काल में एक राजा लूसा था जिसे परमार वंश का कहा गया है। इस मत को मानने में पहली आपत्ति तो यह है कि यह दन्त कथाओं पर आधारित है। दूसरी आपत्ति यह है कि टाड ने राजपूतों की 36 जातियों के नाम दिये हैं। जिनमें हुणों का नाम परमारों तथा अन्य जातियों से अलग दिया गया है। अतः इस मत को सही नहीं माना जा सकता।

तीसरा मत दैवी उत्पत्ति का है। कैम्पबल ने भाटों की दन्त कथाओं में से एक कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार इन्द्र ने एक समय पूर्वा घास की प्रतिभा बनाई, उस पर जीवन जल छिड़का और फिर उसे अग्निकुण्ड में फेंक दिया। इसके बाद संजीवन यंत्र को दोहराया। ऐसा करने पर अग्निकुण्ड से राजदण्डधारी आकृति 'मार–मार' चिल्लाते हुए निकली। उसे परमार नाम दिया गया और आबु धार और उज्जैन उनको धरोहर के रूप में सौंपे गये। खींची चौहान के भाट मूकजी के अनुसार पवार (परमार) की उत्पत्ति शिव के सार से हुई। यह दोनों साक्ष्य अन्तःविरोधी हैं और विश्वास के योग्य नहीं हैं।

चौथे मत के अनुसार परमारों की उत्पत्ति राष्ट्रकूटों से हुई। गांगुली के अनुसार सीयक द्वितीय के राज्यकाल का एक अभिलेख हरसोला (जिला अहमदाबाद, गुजरात) से मिला है जिसकी तिथि विक्रमी संवत 1005 अर्थात 948 ई० दी गयी है। यह इस वंश का प्रथम अभिलेख है इसमें कहा गया है कि "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर अमोघवर्ष देव पृथ्वीवल्लभ के चरणों का मनन करने इस राज्य के सुख्यात परिवार में राजा वप्पैयदेव का जन्म हुआ। जो अपराधों से निपटने में दक्ष था और जो अपनी शक्ति की अग्नि में अपने शत्रुओं को भष्म कर देता था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध वैरिसिंह था, जिसके बाद पिपक राय नाम का साहसी योद्धा और युद्ध में अपने शत्रुओं के लिए अजेय था।

डा० गांगुली आगे कहते हैं कि अकाल वर्ष जिसके परिवार में वप्पेराय का जन्म हुआ था, निश्चित ही राष्ट्रकूट वंश का अकालवर्ष कृष्णा तृतीय था जो कि मान्यवेद का राजा था। उसकी अन्तिम तिथि 951 ई० है।

दशरथ शर्मा डा० गांगुली के इस मत को नहीं मानते, उन्होंने इस मत के विरोध में अनेक तर्क दिये हैं–

(1) पदम गुप्त जो मुन्ज का समकालीन था ने अपने 'नवसहसांकचरित' में परमारों की उत्पत्ति राष्ट्रकूटो से न होकर अन्य स्रोत से बताई है।

(2) वप्पैराय और वैरिसिंह को कृष्ण तृतीय और सियक द्वितीय के बीच रखना कठिन है क्योंकि सीयक द्वितीय का राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय का समकालीन बताया गया है।

(3) व्याकरण की दृष्टि से प्रथम वंश के वर्णन के बाद कुछ विवरण छूट गया लगता है और यही भ्रम का कारण प्रतीत होता है।

(4) के.एल. दीक्षित और डी.वी. दिसालकर जो इस अभिलेख के सम्पादक हैं ने सुझाव रखा है कि सम्भवतः सीयक द्वितीय किसी राष्ट्रकूट राजकुमारी का पुत्र रहा होगा और उस राजकुमारी की उत्पत्ति संकेतिक करने के लिए यह विवरण अभिलेख में दिया गया होगा।

इन तथ्यों के आधार पर दशरथ शर्मा इन मत को नहीं मानते।

पांचवा मत लासन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार परमार एवं पंवार टालेमी द्वारा उल्लिखित पारूराई हैं टालेमी ने पोरूराई नामक एक स्थान और उसके वासियों का उल्लेख किया है। वर्गेडा इस समीकरण में दोष बताते हैं कि टालेमी के पारूराई जनजाति है, परमार के समान राजवंश नहीं है। आगे वह कहते हैं कि उनके नाम का कोई प्रदेश नहीं मिलता। गांगुली इन आपत्तियों को स्वीकार करते हैं इस संदर्भ में पाटनारायण के अभिलेख (विक्रमी संवत 1344 अर्थात 1281 ई०) की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें परमार जाति का उल्लेख है। पूर्ण पास का वसन्तगढ़ अभिलेख भी उल्लेखनीय है। इसमें पोराल उपपत्तिया नांदिया चमिया के कटपुर की वीरो का वर्णन मिलता है। यह नगर उस समय परमारों के अधीन था और क्योंकि उस स्थान के सभी भागों के लिए कहा गया है अतः परमारों के पौराल के अन्तर्गत सम्मिलित करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि टालेमी को पोरूराई सम्भवतः बाद में संस्कृत अभिलेखों का प्रागवार है जिस नाम को राजस्थान के एक व्यापारी वर्ग, परवार ने अपना लिया। अतः यह सम्भव है कि परमार टालेमी के पोरूराई रहे हों।

छटा मत यह है कि उनकी उत्पत्ति परमार से हुई जिसका जन्म वशिष्ठ के अग्निकुण्ड से हुआ था। यह सवप्रथम पद्मगुप्त ने अपने 'नवसहसांक चरित' में कहा था और तत्पश्चात अन्य लोगों ने इसका समर्थन किया। कुछ अभिलेखों के अनुसार अग्निकुण्ड से एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ उसका नाम धूमराज या धौमराज था। ओझा का मत हे कि पदमगुप्त ने अग्निकुण्ड की कल्पना (धूम का शेष) नाम के आधार पर की होगी। किन्तु अग्निकुण्ड उत्पत्ति का मात्र कल्पना नहीं कहा जा सकता, इसमें कुछ सत्य अवश्य होना चाहिए। यह क्रुक और स्मिथ के अनुसार इस कथा से विदेशी जातियों का शुद्धिकरण का ज्ञात होता है। बी.एन. रेऊ बिना किसी प्रमाण के यह मानते हैं कि अग्निकुण्ड की कथा में क्षत्रियों की एक जाति (जिसके पूर्वजों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था) का शुद्धिकरण संकेतिक है परमारों की अग्निकुंड उत्पत्ति के विषय में यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य हे कि भाटो की कथाओं में इन्हें अग्निवंशी अर्थात् अग्नि से उत्पन्न कहा गया है। चन्द्रवंशी क्षत्रियों के विषय में तो प्राचीन काल से ज्ञान था किन्तु यहां पहले बार अग्नि वंश क्षत्रियों का नाम सुनने में आता है और परमारों की गणना इन्हीं के अन्तर्गत होती है।

सातवां मत है कि परमार ब्रह्म–क्षत्र कुल अर्थात ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परिवार के थे। हलायुध जो पदमगुप्त का समकालीन था उसने अपनी 'पिंगल सुत्रवृत्ति' में परमार वंश के राजा भुंज का ब्रह्म–क्षत्र कुल का बताया है। बी.एन. रेऊ के अनुसार उसका अर्थ सम्मिलित ब्राह्मण और क्षत्रिय वंश है। उसी प्रकरण में उन्होंने परमारों को क्षत्रियों की एक शाखा बताया है जिसके पूर्वजों ने बौद्ध धर्म

अपनाया था अतः रेऊ के मत में अन्तर्विरोध है। गौरी शंकर ओझा ने यह मत व्यक्त किया है कि प्राचीन काल में ब्रह्म–क्षत्र शब्द का प्रयोग उन राजवंशों के लिए किया गया है जिनमें ब्रह्मत्व तथा क्षत्रत्व दोनों गुण थे अथवा जिनकी सन्तान पहले क्षत्रिय थी और बाद में ब्राह्मण बन गयी। हमें ऐसा कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ है जो यह संकेत करे कि कोई भी ब्राह्मण समुदाय परमारों से अपनी उत्पत्ति मानता है। अतः अब हमारे पास केवल दो विकल्प रह जाते हैं कि या तो परमारों में दोनों के गुण थे और बाद में क्षत्रिय बन गये। प्राचीन भारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय समान विषयों का अध्ययन करते थे। मनु के अनुसार आपातकालीन स्थिति में ब्राह्मण शस्त्र उठाकर युद्ध में भाग ले सकते थे। शुंग, सतवाहन, कदम्ब तथा पल्लव वंश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। यद्यपि क्षत्रिय वेदाध्ययन करते थे तथापि वे औरों के यज्ञों को सम्पन्न करने का अधिकार भी रखते थे। यदि उन्हें यह अधिकार मिल जाता तो वे ब्राह्मण स्वीकार कर लिये जाते थे। ऐसे उदाहरण हमें इक्ष्वांकु वंश के विष्णुवृद्ध हारीत तथा पुरू वंश के विश्वामित्र व उसकी अरिष्टषेण में मिलते हैं। किन्तु ऐतिहासिक काल में ऐसे कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होते। इससे हमें ज्ञात होता है कि यह प्रथा अप्रचलित हो गयी थी। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने अन्य उपर्युक्त वंशों की तरह शस्त्र ग्रहण किये।

लंसन द्वारा दिया भौगोलिक आधार पद्मगुप्त द्वारा वर्णीत अग्निकुण्ड उत्पत्ति तथा हलायुद्ध द्वारा उल्लिखित ब्रह्म क्षत्र उत्पत्ति में कोई परस्पर विरोध नहीं है। परमार सम्भवतः प्रागवार के निवासी थे तथा उनके निवास स्थान के नाम के आधार पर उन्हें पोराल कहा जाता था। अरावली पर्वत पूर्व (प्राक) के उनके निवास स्थान का रक्षक (व्रत) था। उनका केन्द्र अर्बुद (अबु) या उनके वंश का प्रथम व्यक्ति वशिष्ठ की यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुआ था उसका नाम परमार अथवा धूमराज अथवा धौमराज रखा गया। अंतिम दो नाम परमारों का अग्नि से संबंध और अधिक स्पष्ट करते हैं उनकी ब्रह्मक्षत्र उत्पत्ति की व्याख्या इस संदर्भ में इस प्रकार की जा सकती है कि परमार अग्नि वंश के वशिष्ठ गोत्र के ब्राह्मण थे जिन्होंने तत्पश्चात शस्त्र ग्रहण कर लिए।

बी.एन. पुरी की भी मान्यता है परमार अर्बुद प्रदेश के अग्निवंशी वशिष्ठ ब्राह्मण थे जिन्होंने शस्त्र ग्रहण करके अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक वध किया। विक्रम संवत 1099 अर्थात् 1042 ई० का वसन्तगढ़ अभिलेख भी इस मत की पुष्टि करता है। इस अभिलेख के अनुसार वशिष्ठ के क्रोध में एक युवक उत्पन्न हुआ जिसे वध करने में दक्षता प्राप्त हुई। विक्रमी संवत 1344 अर्थात 1287 ई० के पार नारायण के अभिलेख में भी अग्निकुण्ड से उत्पन्न व्यक्ति को दे दी। इससे यह मान्यता सिद्ध होती है कि पोरूराई नामक जन का निवास स्थान आबु के निकट था और वशिष्ट ब्राह्मण उसके अन्तर्गत आते थे। आपातकालीन स्थिति में उन्होंने शास्त्रों को त्यागकर शस्त्र ग्रहण किये और सेना का सेनापतित्व किया तथा इस प्रकार उन्होंने शत्रुओं का नाश करने में दक्षता प्राप्त थी।

यहां यह कहना आवश्यक है कि पवार एक भौगोलिक नाम है और अनेक जातियां इसका प्रयोग करती है चाहे वे हिन्दू हो या मुसलमान या कोई जनजाति। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पोरूराई अथवा पवार नाम भौगोलिक है इनमें से वशिष्ट गोत्र के ब्राह्मणों ने परमात्मा (शत्रु हनन में दक्षता) प्राप्त की तथा राजा बने। स्वाभाविक है कि उनकी सन्तान को राजपूत माना गया तथा राजपूतों की 36 जातियों में स्थान दिया गया।

वंश संस्थापकः हरसोला दान पत्रों के आधार पर परमार राजवंश का प्रथम नरेश बप्पैराज अथवा वाक्पतिराज प्रथम था। परन्तु परवर्ती काल के अभिलेख इस वंश के संस्थापक का नाम परमार बताता है। पदम्गुप्त के 'नवसाहसांकचरित' में परमार नरेश का प्रथम उल्लेख हुआ है जिसकी उत्पत्ति आबु शिखर पर वशिष्ठ ऋषि के अग्निकुण्ड से हुई थी। कुछ स्त्रोतों के आधार पर यह वंश अग्नि वंश भी कहलाता है।

परमार वंश के नरेश

उपेन्द्र (लगभग 740 से 818 ई): कृष्णराज अथवा उपेन्द्र परमार वंश का संस्थापक माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णराज उसका वास्तविक और उपेन्द्र उसका उपनाम अथवा उपाधि थी। उपेन्द्र प्रारम्भ में आबु पर्वत के सान्निकर ही रहता था। उसे राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय ने मालवा का शासक नियुक्त कर दिया और वह उसके सामन्त के रूप में वहां शासन करने लगा। किन्तु कुछ विद्वानों के विचार में यह कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार वंश का सामन्त था। कुछ भी हो इतना निश्चित है कि वह स्वतंत्र शासक न था और एक सामन्त के रूप में मालवा में शासन करना आरम्भ किया था।

वैरिसिंह प्रथम तथा सीयक प्रथम (लगभग 918 से 868 ई०): उपेन्द्र की मृत्यु के पश्चात वैरिसिंह प्रथम तथा सीयम प्रथम दो नरेश हुए। वैरिसिंह उपेन्द्र का पुत्र तथा सीयक प्रथम पौत्र था। इनके शासन काल की किसी महत्वूपर्ण घटना का ज्ञान नहीं है।

वाक्पति प्रथम (लगभग 893 से 918 ई): सीयक प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र वाक्पति प्रथम सिंहासन पर बैठा। इन दिनों राष्ट्रकूटों तथा प्रतीहारों में संघर्ष चल रहा था। डा० गांगुली के मतानुसार वाक्पति ने अपने स्वामी राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय क ओर से प्रतीहार

नरेश महीपाल के विरूद्ध किया था। उदपुर की प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि वाक्पति अपनी सनाओं क साथ गग क तीर पर गया था। वाक्पति के शासन काल की अन्य किसी घटना की जानकारी हमें प्राप्त नहीं हो सकी है।

वैरिसिंह द्वितीय (लगभग 919 से 945 ई): वाक्पति के पश्चात उसका पुत्र वैरिसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसक शासन क में प्रतीहार नरेश महीपाल प्रथम ने अपने कलचुरि वंशीय सामन्त मामन देव की सहायता से मालवा पर अधिकार स्थापित कर लिय परन्तु उदयपुर अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि वैरिसिंह द्वितीय ने पुनः मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया

हर्ष अथवा सीयक द्वितीय (लगभग 945 से 973 ई): वैरिसिंह द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हर्ष अथवा सीयक द्वितीय था मेरूतंग कृत एवं चिन्ताभाण में उसका नाम सिंहभट्ट अथवा सिंहनटभट्ट मिलता है। सीयत द्वितीय के शासनकाल क सबध म हमारी जानकारी का स्त्रोत 949 ई० का अहमदाबाद दानपत्र है। इसके अनुसार सीयक द्वितीय का शासनकाल 946 ई० स पूर्व आरम्भ हुआ था और 969 ई० तक वह अवश्य राज्य कर रहा था। उसने 'महामण्डलिक' की उपाधि धारण की। यह इस बात का द्योतक है कि उसने राष्ट्रकूट राज्यवंशीय नरेश कृष्ण तृतीय की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली थी। परन्तु आगे चलकर उसन महाराजाधिराज की उपाधि धारण की जो इस ओर संकेत देती है कि यह पूर्ण स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हो रहा था।

इसके तीनों दानपत्र गुजरात प्रदेश से प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि प्रतीहारों के प्रभुत्व विस्तार क कारण परमार को इस समय अपनी गतिविधियां गुजरात प्रदेश तक ही सीमित रखने का बाध्य होना पड़ा था। 'नवसाहसांकचरित' क अनुसार उसन युद्ध में एक हुण नरेश को पराजित किया था। हरसोला दान पत्र इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि उसने किसी गुर्जर नरेश के विरुद्ध छेडे गये अभियान के समय माडी के तट पर अपने पड़ाव डाले थे। योगराज की इस युद्ध में पराजय हुई थी। यह योगराज सम्भवतः हणहिलपाटल का चालुक्य वंशीय नरेश था।

इन विजयों और संघर्षों के अतिरिक्त हमें उदयपुर प्रशस्ति से यह सूचना प्राप्त होती है कि उसने खटिग नरश को सम्मान का स्थान अर्जित किया था। बूलर ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि यह खोटिग नरेश राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय का छोटा भाई था उत्तराधिकारी था। 972 ई० के लगभग यह घटना घटी होगी। हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि मालवा के लाग न मान्यखेट नगर को लूट लिया था। बांसवाड़ा के परमार नरेश चामुण्डराज के एक अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इसमें कहा गया है कि चामुण्डराज का एक पूर्वज ककदेव मालवा के नरेश हर्ष की ओर से कर्नाट नरेश की सेना को पराजित करते हुए नर्मदा के पुण्य तट पर वीरगति को प्राप्त हुआ था। यह हर्ष निश्चय ही परमार वंशीय हर्ष अथवा सीयक द्वितीय था।

इस संघर्ष से यह निश्चयपूर्वक सिद्व होता है कि परमार अब पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे और अब उन्हें कृष्ण तृतीय की मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों को अपना चक्षु बना लिया। परन्तु इस संघर्ष के परिणाम परमार वंशीय नरेश सीयक द्वितीय के उत्तराधिकारि के लिए गंभीर हुए।

मुंज अथवा वाक्पति द्वितीय (924 से 994 ई): यह सीयक द्वितीय का पुत्र तथा उत्तराधिकारी भी था। उसकी माता का नाम बड़ल देवी था। धर्मपुरी और उज्जैन अभिलेखों के अनुसार इसने अनेक उपाधियां धारण की थी। जिनमें अमोघवर्ष पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ मुख्य है। हेमचन्द्र का यह मत तर्कसंगत प्रतीत होता है कि ये समस्त उपाधियां राष्ट्रकूट नरेशो की उपाधियां थी और उनका वाक्पति द्वितीय द्वारा धारण किया जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात वाकपति द्वितीय ने यह सिद्ध कर दिया कि परमार राष्ट्रकूटों के वंशज थे और सम्भवतः वाक्पति द्वितीय अपने आपको राष्ट्रकूट नरश कृष्ण द्वितीय का वैधानिक उत्तराधिकारी समझता था।

इन उपाधियों के अतिरिक्त वाक्पति द्वितीय के अन्य नाम भी जिसमें उत्पलराज और उसका प्रसिद्ध नाम मुजराज भी है। मुजराज नरवर्मा की नागपुर प्रशस्ति में भी पाया जाता है। प्रबन्ध–चिन्तामणी के अनुसार वाक्पति का नाम मुंज इसलिए पड़ा क्योंकि वह सिंहदत्तभट्ट (सीयक द्वितीय) के द्वारा मुंज झाड़ियों के बीच पाया गया। वाक्पति द्वितीय अथवा मुंज इस वंश का प्रतापी नरेश था। यह न केवल एक विजेता शासक था बल्कि इसकी साहित्य में भी बहुत रुचि थी।

युद्ध और विजयें: उदयपुर प्रशस्ति के अनुसार वह कर्नाट, लाट, केरल और चोल नरेशों को परास्त करने में सफल हुआ था। उसन कलचुरि नरेश युवराज को भी पराजित किया था। और उसके सेनापतियों का वध किया था और त्रिपुरी में अपनी धाक जमाई थी। अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि वह युवराज त्रिपुरी का कलचुरि नरेश युवराज ही था। लाट पर तैलप के उत्तराधिकारी का शासन था और मुंज चाहता था कि चूंकि यह प्रदेश उसके पूर्वजों के आधिपत्य में था अतएव उस भाग पर अपना आधिपत्य पुनः स्थापित करना चाहिये। चोल और केरल के नरेशों के साथ इसके युद्ध और विजय के दावे को इतिहासकार स्वीकार

नहीं करते। हेमचन्द्रराय का मत है कि जब वह कर्नाट के नरेश तैल के साथ युद्धरत था तब उसका संघर्ष केरल और चोल प्रदेशों के नरेशों क साथ हुआ हो, ऐसी सम्भावना है।

मेरूतंग के प्रसिद्ध ग्रंथ प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार मुंज ने तैल को युद्ध में छः बार पराजित किया। साथ ही साथ मुंज की सेनाएं अणहिलपाटन के चालुक्य, नाडोल के चौहान, मेवाड़ के गुहिल, हभुन्डी के राष्ट्रकूटों के साथ संघर्षरत थी। बीजपुर अभिलेख के अनुसार राष्ट्रकूट नरेश धवल ने गुर्जर नरेश की सेनाओं को उस समय आश्रय प्रदान किया था जब परमार नरेश मुंज ने आधार नष्ट कर दिया था और सेनाएं भागने को विवश हो गयी थीं इस समय में मेवाड़ का नरेश गुहिल शक्तिकुमार होना चाहिये। चालुक्य नरेश जिसका संघर्ष मुंज के साथ हुआ सम्भवतः मूलराज होना चाहिये।

वाक्पति राज मुंज का अंतः परमार नरेश वाक्पति राज मुंज के अन्तिम क्षण दुखद थे। इस संबंध में मेरूतंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि प्रचुर प्रकाश डालती है। मेरूतंग के अनुसार तैलग देश का नरेश अपनी सेनाएं लेकर मुंजदेव को परेशान किया करता था। अतएव मुंज ने यह निश्चय किया कि तेलप्पदेव को पराजित करने हेतु निर्णायक युद्ध करना चाहिये। इस अभियान का पता उसके प्रधानमंत्री रूद्रादित्य को चला तो वह अत्यंत दुखी हुआ। उस समय वह बीमार था। तब भी उसने अपने स्वामी परमार नरेशा मुंज को संघर्ष की अनिवार्यता में यह परामर्श दिया कि वह अपने अभियान को गोदावरी के तट तक ही सीमित रखे। परंतु मुंज तैलप्प को हेय दृष्टि से देखता था। अतीत में उसने उसे छः बार पराजित किया था। इससे उसका आत्मविश्वास असीम था। उसने अपने मंत्री के परामर्श का तिरस्कार करते हुए गोदावरी पार कर ली और गोदावरी के उस पर अपना डेरा डाल दिया। जब यह समाचार रूद्रादित्य को मिला तो उसने भविष्य में होने वाली अनहोनी आशंका से चिंतित हो चिता में कूदकर अपने प्राण त्याग दिये। उधर तैलप्प नरेश ने मुंज की सेना को नष्ट कर दिया और उसे बन्दी बना लिया। वह एक लकड़ी के कटघरे में रखा गया और उसकी देखभाल का कार्य तैलप्प ने अपनी रूपवती बहन मृणाल को सौंपा। मृणाल और मुंज में प्रेम संबंध स्थापित हो गया और उन दोनों ने विवाह कर लिया।

इसी बीच मुंज के मंत्रीगण तैलप्प के प्रदेश में आ पहुंचे और उन्होंने एक गुप्त सुरंग बनाकर मुंज तक पहुंचने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मुंज इस समय मृणालवती के प्रेमपाश में था। उससे यह कैसे भागता। अतएव उसने अपनी सम्पूर्ण योजना अपनी प्रिय पत्नी मृणालवती को बता दी। मृणालवती के सामने यह भावात्मक संघर्ष था एक और उसकी राष्ट्रभक्ति का प्रश्न था और दूसरी ओर अपने पति मुंज के जीवन का इस भावनात्मक संघर्ष में मृणालवती के ऊपर अपने देश प्रेम में मुंज को हथकड़ी पहनाकर उसे घर–घर अपने भोजन के लिए भीख मांगने को बाध्य किया और उसका सिर काटकर अपने महल के आंगन में खूंटे से लटका दिया और उस पर बराबर मठा डालकर अपने क्रोध को संतुष्ट किया।

मेरूतंग कृत प्रबन्ध चिन्तामणि में वर्णित इस दुखान्त प्रेम कथा में कितना ऐतिहासिक सत्य है यह कहना कठिन है। परन्तु इस कथा की मूल बात सत्य है। वाक्पति का मंत्री रूद्रादित्य था और यह भी सत्य है कि वाक्पति ने अपने प्राण तैलप्प के साथ हुए संघर्ष में त्यागे। कल्याणी नरेश विक्रमादित्य षष्ट के दो अभिलेखों में इस बात की पुष्टि होती है कि तैलप्प द्वितीय ने वीर नरेश मुंज का वध किया था। आईने अकबरी में भी इस बात का उल्लेख है कि मुंज दक्षिण भारत के युद्ध में मारा गया था। बूलर ने इस घटना की तिथि 993 और 998 के बीच निश्चित की है।

मुंज न केवल एक वीर विजेता तथा साम्राज्य निर्माता का वरन् एक उच्चकोटि का विधानुरागी तथा साहित्यकारों का आश्रय दाता भी था और उसकी राजसभा अनेक मेधावी साहित्यकारों से अलंकृत थी। जिनकी अमर कृतियों ने उसके शासन काल को चिरस्मरणीय बना दिया था। वह स्वयं उच्चकोटि का विद्धान थां पदमगुप्त के अनुसार उसने सरस्वती का वास था। उदयपुर की प्रशस्ति से भी यही ज्ञात होता है कि उसे शास्त्र का बहुत बड़ा ज्ञान था उसने अनेक साहित्यकारों को आश्रम प्रदान कर रखा था। नवसाहसांक चरित का रचियता पदमगुप्त उसका राजकवि था। धनंजय जिसने दशरूपक की रचना की थी और धनिक जिसने दशारूपावलोक नामक ग्रंथ लिखा था, उसकी राज्यसभा के सदस्य थे। हलायुद्ध, अभितगति तथा शोभन भी उसके शासन काल के प्रसिद्ध विद्वान थे।

मुंज न केवल वीर विजेता तथा विद्यानुरागी था वरन् उसमें रचनात्मक प्रतिमा भी थी और वह बहुत बड़ा कला प्रेमी था। उसने उज्जैन, माहेश्वर धर्मपुरी आदि स्थानों पर अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया था। उसने बहुत से तालाबों तथा जलाशयों का भी निर्माण करवाया था। धारा में आज भी उसका बनवाया गया तालाब विद्यमान है जो मुंजसागर कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंज न केवल एक वीर विजेता था वरन् एक उच्चकोटि का साहित्यनुरागी तथा कलाप्रेमी भी था। डा० डी.सी. गांगुली उसके निधन पर दुख प्रकट करते हुए और उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं "इस प्रकार एक महान सम्राट का अन्त हुआ जो न केवल एक महान सेनानायक और एक महान कवि था वरन् साहित्य तथा कला का संरक्षक तथा प्रेमी भी था।"

सिंधुराज (लगभग 997 से 1010 ई०): मुंज का उत्तराधिकारी कौन हुआ, इस संबंध में कुछ मतभेद है। पदमगुप्त के अनुसार मुंज का उत्तराधिकारी सिन्धुराज मुंज के मरणोपरान्त परमार वंश का अधिपति हुआ। परंतु जैन ग्रथों में इस बात का उल्लेख है कि मुंज का उत्तराधिकारी सिन्धुराज नहीं बल्कि सिंधुराज का पुत्र भोज था। मेरूतंग कृत प्रबन्धचिन्मणि मे इस प्रकार का विवरण मिलता है कि मुंज का छोटा भाई सिन्धु था। उसने मुंज के आदेशों की अनेक बार अवज्ञा की। इस कारण मुंज सिन्धु को मालवा से निष्कासित करने को विवश हुआ और अनेक वर्ष तक निष्कण्टक राज्य किया। निष्कासन के उपरान्त सिन्धुल गुजरात में जाकर वहीं रहने लगा। वहां उसे एक प्रेत ने संदेश दिया कि मुंज का अंत निकट है और अब राज्यदण्ड का अधिकारी सिंधुल है। प्रेत से प्रेरित हो सिंधुल मालवा आया और उसे मुंज से एक सूबा प्राप्त हुआ। परन्तु सिंधुल के दुर्व्यहार से मुंज अप्रसन्न हो गया और उसकी आंखें निकलवाकर उसे कटघरे में डाल दिया। सिंधुल का एक पुत्र था जिसका नाम भोज था। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि मुंज का यह भतीजा भोज दक्षिणापथ और गौड़ पर पचपन वर्ष तीन माह दिन शासन करेगा। ज्योतिषियों की इस भविष्यवाणी के प्रति मुंज शंकालु था। उसे संदेह था कि यदि भोज जीवित रहा तो उसका स्वयं का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी नहीं बन सकेगा। अतः उसने बालक भोज के वध की आज्ञा दे डाली। ऐसा कहा जाता है कि जब बालक भोज को यह पता चला कि उसके वध की आज्ञा मुंज ने दी है तो उसने जल्लादों से कहा कि उसे मरने की कोई चिन्ता नहीं परंतु वह मुंज की एक कविता हर्षित मन से देना चाहता है। इधर जल्लादों ने इस मासूम सुन्दर बालक का वध तो नहीं किया परंतु यह कविता मुंज के पास पहुंचा दी। मुंज ने यह कविता पढ़ी तो वह फूट–फूट कर रोने लगा कि उसने ऐसे अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न बालक का वध करने का अपराध किया है। मुंज ने इस विलाप से द्रवीभूत होकर जल्लादों ने यह रहस्य उद्घाटित कर दिया कि उन्होंने बालक भोज का वध नहीं किया। इस पर मुंज ने खुशी के साथ भोज का युवराज पद पर अभिषित कर दिया। प्रबंधचिन्तमणि के अनुसार जब भोज को मुंज के दुखद वध का समाचार मिला तो तब उन्होंने भोज को सिंहान पर बिठा दिया।

परन्तु पद्मगुप्त 'परिमल' और उदयपुर प्रशस्ति से प्राप्त जानकारी के अनुसार मुंज का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई सिन्धुराज ही था। उदयपुर प्रशस्ति के अनुसार सिन्धुराज ने हुण नरेश को पराजित किया और अन्य विजय प्राप्त की। यह हुण राज्य कहां था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिन्धुराज की की राजनीतिक उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन हमें नवसाहसांक चरित से प्राप्त होता है उसका प्रारम्भ उज्जैन नगरी से प्रारम्भ होता है। फिर उस ग्रंथ का रचियता यह लिखता है कि सिन्धुराज ने नागराज शंखपाल की पुत्री नाग राजकुमारी शशिप्रभा के साथ विवाह किया। इस विवाह के लिए उसे ब्रजांकुश नामक असुर राजा का वध करना पड़ा और इस हेतु उसे विद्याधरी की सहायता प्राप्त की थी। प्रसिद्ध इतिहासकार बूलर ने इस कथा को ऐतिहासिक माना है। परन्तु किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पदमगुपत आगे लिखता है कि सिन्धुराज ने बागड़ मुरल लाट और कौशल के शासकों को और हुण नरेश को जीता। हुण और बागड़ का उल्लेख उदयपुर प्रशस्ति में भी हुआ है। हुण नरेश का राज्य कहां था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। परंतु बागड़ का प्रदेश बूलर के अनुसार डूंगरपुर राज्य व बांसवाड़ा का इलाका था। कौशल नरेश सम्भवतः कोकल द्वितीय था और लाट नरेश बारप्प का पौत्र था। मुरल सम्भवतः कलचुरि नरेश था परंतु उनके साथ उसका संघर्ष हुआ हो इसकी सम्भावना ऐतिहासिक आधार पर निश्चित नहीं की जा सकती।

सिन्धुराज का राज्य कब तक रहा, यह कहना बहुत कठिन है। उसके काल को कोई अभिलेख भी प्राप्त नहीं है इसलिए इसका कोई ठीक निर्धारण करना कठिन है। मुंज का शासन काल 994 से 997 ई० के बीच कभी समाप्त हुआ होगा। अतएव यह तिथि सिन्धुराज के राज्यारोहण की मानी जा सकती है और उसने सम्भवतः 1011 ई० तक शासन किया होगा। जो उसके पुत्र भोज की राज्यारोहण की मान्य तिथि है।

भोज (1011-1054 ई०): सिन्धुराज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र भोज था। भोज परमार वंश का सबसे प्रतापी और यशस्वी सम्राट था। लोकप्रियता में वह भारतवर्ष में आज भी बहुचर्चित और महान सम्राट माना जाता है। हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में भोज और विक्रम की अनेकों कहानियां आज भी सुनने को मिलती हैं।

भोज के समय के अनेकों अभिलेख मिले हैं और उनके आधार पर और अन्य समकालीन तथ्यों तथा घटनाओं के आधार पर भोज की राज्यारोहण तिथि निश्चित की जा सकती है। भोज के अनेकों अभिलेखों में तिथि का उल्लेख है और वे 1020 ई० से 1046 ई० तक के हैं। परन्तु उत्तराधिकारी जयसिंह के मान्यता दान पत्र के आधार पर जो 1112 विक्रमी संवत अर्थात 1055-56 ई० का है। कहा जा सकता है कि भोज की मृत्यु 1055-56 ई० में अथवा उससे कुछ समय पूर्व हुई होगी। परन्तु भोज ने कब राज्य प्राप्त किया यह निश्चित करना कठिन प्रतीत होता है। 1020 ई० में उसने कोकण विजय किया था। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिये कि वह 1020 ई० के पूर्व ही राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका होगा। 1005 ई० में पदमगुप्त परिमल ने अपने नवसाहसोक चरित की रचना की थी। उसमें भोजदेव का उल्लेखे नहीं है। अतएव यह सामान्य तौर पर भोजदेव के राज्यारोहण की तिथि लगभग 1010 ई० में मान सकते हैं। यही निष्कर्ष प्रायः सब इतिहासकारों का है।

भोज की उपलब्धियां: परमार राजवंश के समस्त अभिलेख अन्य समकालीन इतिहास की जानकारी इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं कि भोज अपने समय का सबसे प्रतापी और शक्तिशाली सम्राट था। उदय प्रशस्ति के अनुसार उसने राजा पृथु की तरह कैलाश से लेकर मलय तक राज्य किया, पूर्व और पश्चिम में उसकी सीमाएं उदयांचल और अस्तांचल तक थी। उसकी सेना ने कर्नाट, लाट, गुर्जर, तुरुक और चेदि नरेशों को जीता। इन्द्ररथ टोगल और भीम उसके सैन्य बल से ही परास्त हो गये थे। अर्जुन वर्मा की धारा प्रशस्ति के अनुसार भोज एक सार्वभौम नरेश था, जिसने त्रिपुरी के नरेश कलचूरी शासक गागेयदेव को पराजित किया था।

यद्यपि इन प्रशस्ति वर्णनों में अतिश्योक्ति की झलक स्पष्टतः दिखाई देती है तथापि भोज की इन अनेक विजयों ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित मानना पड़ेगा।

कर्नाट के साथ युद्ध: कर्नाट के साथ भोज का संघर्ष सहज ही संभाव्य था। वहां के तैलप द्वितीय ने जो दुर्व्यवहार मुंज के साथ किया वह भोज की स्मृति में बिल्कुल ताजा था परन्तु भोज की कर्नाट नरेश के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए गुजरात के चालुक्य नरेश भीम के विशेष दूत डामर ने उकसाया था। इस संबंध में मेरूतुंग ने अपने प्रबन्धचिन्तामणि में लिखा है कि एक रात्रि को जब भोज डामर के साथ नाटक देख रहे थे तब डामर ने देखा कि तैलप द्वितीय महाराज भोज के बंदीगृह में दिखाए गए हैं। इस दृश्य को देखकर डामर ने व्यंग किया कि तैलप के परिचय के लिए मुंज का सिर एक खूंटे पर लटकाया जाना चाहिये। इस कथन में भोज की प्रतिहिंसा की भावना भड़क उठी और तत्काल तैलप के विरुद्ध आक्रमण के लिए कूच कर दिया। ऐसी ही कथा भोज चरित में मिलती है जिसके अनुसार भोज ने तैलप को बंदी बना लिया और उसी तरह अपमानित किया जिस तरह तैलप ने मुंज का अपमान किया था और अंत में उसका वध कर दिया। इस संबंध में इतिहासकारों में मतभेद है। आर.जी. भण्डारकर का विचार है कि भोज के राज्यारोहण से पूर्व ही तैलप की मृत्यु हो चुकी थी और सम्भवतः भोज ने चालुक्य नरेश विक्रमादित्य को मारा था। फिर भी इतना तो निश्चित है कि भोज को इस अभियान में सफलता मिली। इस बात की पुष्टि बलगावे अभिलेख से भी परोक्ष रूप में होती है।

परन्तु भोज की यह विजय स्थाई नहीं रह सकी। विक्रमांकदेव चरित का लेखक बिल्हण लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने धार पर आक्रमण करके परमारों की राजधानी को तहस–नहस कर दिया और भोज को राजधानी छोड़कर भागने के लिए विवश कर दिया था। नरवर्मा की नानपुर प्रशस्ति इस बात का रहस्याद्घाटन करती है कि कर्नाट राजा की यह विजय कलचुरि नरेश कर्ण के सहयोग से सम्भव हो सकी। चेदीश्वर कर्ण का उल्लेख उदयपुर प्रशस्ति में ही गुर्जर नरेश का उल्लेख है जो सम्भवतः भीम प्रथम था।

मेरूतुंग ने भोज और भीम के अनेकों संघर्षों का उल्लेख किया है वह लिखता है कि एक समय जब भीम राजधानी से बाहर था तब भोज के सेनापति दिगम्बर कुलचन्द्र ने चालुक्य राजधानी पर आक्रमण किया और अपनी विजय के प्रतीक स्वरूप महल के पास कौड़िया बिछा दी। इस अपमान का बदला लेने के लिए भीम ने बार धारा नगरी पर उस समय हमला किया जब भोज धारा नगरी के निकट कुलदेवी की पूजा कर रहा था। जैन ग्रन्थ इस तथ्य को उद्घाटित करते हैं कि भोज की पराजय और मृत्यु कलचुरि नरेश कर्ण और चालुक्य नरेश भीम प्रथम के मध्य हुई संधि के परिणामस्वरूप हुई थी। भोज के शत्रुओं का जो त्रिदलीय संघ बना था उसके चालुक्य नरेश भीम प्रथम, कलचुरि नरेश कर्ण और कल्याणी के चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रमुख थे। यह भी सम्भव है कि इस महासंगठन का साथ लाट नरेश त्रिलोचर पाल ने भी दिया है। परंतु भोज चतुर राजनीतिज्ञ था। इस गठबंधन के विरुद्ध उसने चन्देल और कच्छपघात नरेशों से मित्रता स्थापित कर ली ऐसी मिराशी की विचारधार है। परंतु यह मैत्री भी अधिक स्थायी नहीं हो सकी और कच्छपघात नरेश कीर्तिराज ने एक बार चन्देल नरेश विद्याधर की सहायता से भोज सेनाओं को परास्त किया। किन्तु विद्याधर के मरने के बाद कच्छपघातों को अपने मातहत रखने में सफल हुआ। विक्रमसिंह के डुबकुण्ड अभिलेख से इस बात की पुष्टि होती है। भोज ने महमूद गजनबी की सेनाओं को भी हराया था। इस बात का भी संकेत मिलता है। उसने पाश्चमोतर भारत में नाडोल के चौहानों और मेवाड़ के गुहिलों को भी अपने दबदबे में रखा। चिरवा अभिलेख के अनुसार चित्रकूट (चित्तौड़) गढ़ पर पर भी भोज का अधिपत्य था जहां उसने त्रिभुवन नारायण का मन्दिर बनवाया।

परंतु मुंज की तरह भोज का अन्त भी दुखद था। भोज को अपने तीन शक्तिशाली शत्रुओं के संघ के द्वारा पराजय का मुख देखना पड़ा, जिसमें गुजरात के चालुक्य नरेश भीम, कलचुरि नरेश करण और कल्याणी के चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रमुख थे। इस संघर्ष की परिणति उस समय हुई जब कलचुरि नरेश करण की सेनाओं ने धार को तहस–नहस कर दिया और भोज इस संघर्ष में वीरगति को प्राप्त हुआ।

यहां एक बात उल्लेखनीय है कि भोज की लोकप्रियता उसे रण कौशल पर नहीं बल्कि उसके अपार विद्या अनुराग पर अवलम्बित है। सरस्वती की उस पर विशेष कृपा थी और वह अपनी विलक्षण प्रतिभा और पाण्डित्य के लिए विख्यात था। उसका ज्ञान घोष बड़ा ही व्यापक तथा अगाध था। उसे राजनीति, ज्योति, दर्शन, वास्तु, काव्य, व्याकरण, चिकित्सा शास्त्र आदि का अच्छा ज्ञान था।

इन विभिन्न विषयों पर उसने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। वह स्वयं उच्चकोटि का विद्वान तथा कवि था। इसी [illegible] प्रशस्ति में कविराज कहा गया है। बड़े–बड़े विद्वानों ने उसकी विद्वषता की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

भोज स्वयं उच्चकोटि का विद्वान तथा कवि तो था ही वह विद्वानों तथा साहित्यकारी का आश्रय दाता भी था। वह उनका सहयोग करके और उन्हें पुरस्कार देकर साहित्य सेवा के लिए प्रोत्साहित करता रहता था। धनपाल तथा उवट उसकी राजसभा के उच्चकोटि के विद्वान थे। अपने साम्राज्य में अनेक विद्यालयों की स्थापना करके उसने शिक्षा के प्रसार का भगीरथ विद्यालयों की स्थापना करके उसने शिक्षा के प्रसार का भगीरथ प्रयास किया था। न केवल स्वयं उच्चकोटि का विद्वान था वरन् उसकी [illegible] भी उच्चकोटि की विदूषी थी। एक श्लोक में कहा गया है कि भोजराज के प्रलोकवासी हो जाने से धारा नगरी निराधार हो गयी [illegible] बिना किसी अवलम्ब के हो गयी है और सभी पण्डित खण्डित हो गये हैं।

वीर विजेता तथा विद्यानुरागी होने के साथ–साथ भेज में रचनात्मक प्रतिभा भी थी और उसने अनेक निर्माण कार्य भी किये थे। उसने अपने नाम पर भोजपुर नगर का निर्माण करवाया था। उसने अनेक मन्दिरों का भी निर्माण करवाया और इनमें मूर्तियों की स्थापना करवायी। उसने अनेक जलाशयों तथा तालाब खुदवाए जिनमें भोजसर सबसे अधिक प्रसिद्ध था।

भोज में उच्चकोटि की धर्म परायणता भी थी। वह शैव धर्मावलम्बी था और शैव धर्म के सिद्धातों पर उसने तत्वप्रकाश नामक ग्रंथ की रचना की थी। उसने अपने साम्राज्य के विभिन्न भगों में शिव मन्दिरों का निर्माण करवाया था और उनमें मूर्तियां स्थापित करवायी।

यद्यपि भोज स्वयं शैव धर्मावलम्बी था परंतु भोज का धार्मिक दृष्टिकोण दार्शनिक था उसमें संकीर्णता तथा धार्मिक असहिष्णुता के कोई स्थान नहीं था। वस्तुतः वह धार्मिक तत्व जिज्ञासु था और अपनी इस धार्मिक ज्ञान पिपासा को शात करने के लिए धार्मिक मनन तथा चिन्तन करता था। इस प्रकार वह धर्म का सच्चा पारखी था।

जयसिंहः भोज की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र जयसिंह सिंहासन पर बैठा। जयसिंह के शासन काल की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना यह थी कि कल्याणी के चालुक्य वंश तथा मालवा के परमार में जो वंशानुगत संघर्ष चला आ रहा था उसका उसने अंत कर दिया। उसने चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम के साथ एक संधि कर ली और उसके साथ मैत्रीपूर्ण सबंध स्थापित कर लिया। सोमेश्वर प्रथम ने अपने पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ को जयसिंह की सहायता के लिए भेज दिया।

कर्ण तथा भीम से युद्धः जयसिंह के पिता भोज के शासन काल में कलचुरि नरेश कर्ण तथा चालुक्य नरेश भीम ने एक संयुक्त सेना बनाकर उससे युद्ध किया था। विक्रमादित्य षष्ठ ने जयसिंह की सहायता की और इन दोनों नरेशों को परास्त करके इनसे मालवा का प्रदेश छीन लिया। इस सहायता ने जयसिंह तथा विक्रमादित्य की मैत्री को अत्यन्त प्रबल बना दिया।

पूर्वी चालुक्य पर आक्रमणः जयसिंह अपने मित्र विक्रमादित्य का इतना कृतज्ञ हो गया कि जब विक्रमादित्य ने पूर्वी चालुक्यों की राजधानी वेंगी पर आक्रमण किया तब जयसिंह ने भी उसकी सैनिक सहायता की और दोनों ने वेंगी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु कुछ ही समय उपरान्त पूर्वी मालवा के चालुक्यों ने वीर राजेन्द्र चोल की सहायता से आक्रमणकारियों को मार भगाया और पुनः उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

कल्याणी के चालुक्य से पुनः शत्रुताः सोमेश्वर के शासन काल में जयसिंह के साथ जो मैत्री तथा गठबधन हुआ था वह सोमेश्वर द्वितीय के शासन काल में समाप्त हो गया। सोमेश्वर प्रथम के उपरान्त उसका बड़ा पुत्र सोमेश्वर द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसका अपने भाई विक्रमादित्य के साथ सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। चूंकि जयसिंह विक्रमादित्य का मित्र था अतएव सोमेश्वर द्वितीय ने उस पर भी आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में सोमेश्वर द्वितीय को चालुक्य नरेश करण से भी सहायता मिली थी और दोनों ने मिलकर जयसिंह को परास्त कर दिया। युद्ध में जयसिंह मारा गया और मालवा पर सोमेश्वर द्वितीय तथा कर्ण का अधिकार हो गया।

उदयादित्यः जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त उदयादित्य शासक हुआ जो सम्भवतः जयसिंह का चाचा था। उसके मुख्य उद्देश्य मालवा को शत्रुओं के अधिकार से मालवा को मुक्त करवाना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने शाकम्भरी के चौहान नरेश विग्रहराज तृतीय के साथ संधि कर ली और उसकी सहायता से उसने सोमेश्वर द्वितीय तथा कर्ण को परास्त करके मालवा से मार भगाया और उस पर पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उदयादित्य ने भीलसा में स्थिति उदयपुर नामक नगर में कण्ठेश्वर नामक मन्दिर का निर्माण करवाया था जिससे स्पष्ट होता है कि वह शैव धर्मालम्बी था।

लक्ष्मदेवः उदयादित्य के पश्चात उसका पुत्र लक्ष्मदेव शासक हुआ। डा० गांगुली के मतानुसार उसका दूसरा नाम [illegible] था। वह बड़ा ही वीर तथा साहसी व्यक्ति था और उसने अनेक राजाओं के साथ युद्ध किया था। उसने अंग गौड तथा कलिंग [illegible] आक्रमण

किया किन्तु इन आक्रमणों में सम्भवतः उसे कोई लाभ नहीं हुआ। उसके शासन काल में पंजाब के मुस्लिम शासक महमूद ने उज्जैन पर आक्रमण कर दिया था किंतु लक्ष्मदेव ने उसे परास्त कर दिया। उसने कलचुरि नरेश यश कर्ण तथा चालुक्य नरेश कर्ण को भी युद्ध में परास्त कर दिया था। यद्यपि अभिलेख में यह कहा गया है कि उसने पाण्ड्य देश तथा लंका पर भी विजय प्राप्त कर ली थी परंतु यह कथन अतिरंजित तथा अविश्वसनीय है। लक्ष्मदेव ने चक्रदुर्ग, मलहर तथा आंध्रप्रदेश के राजाओं को भी नतमस्तक किया था। लक्ष्मदेव द्वारा समुद्र के होयसल राजा एरेयंग पर भी आक्रमण किया किन्तु इस अभियान में उसे असफलता का आलिंगन करना पड़ा। लगभग 1094 ई० में लक्ष्मदेव ने सिंहासन त्याग दिया और उसके स्थान पर उसका भाई नरवर्मन राजा बन गया।

नरवर्मनः लक्ष्मदेव के उपरान्त नरवर्मन शासक हुआ। उसका शासन काल परमार वंश के पतन का काल था। वह एक निर्बल शासक प्रतीत होता है क्योंकि वह अपने शत्रुओं का सफलतापूर्वक सामना न कर सका। शाकम्भरी के चाहमान नरेश अजयराज ने उज्जैन पर आक्रमण कर दिया और नरवर्मन ने सेनापति को पराजित करके उसे बन्दी बना लिया। अजयगढ़ अभिलेख में अंकित मिलता है कि कलचुरि नरेश सल्लक्षण वर्मन ने मालवा की लक्ष्मी छीन ली थी। यह मालवा नरेश सम्भवतः नरवर्मन ही था। गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज ने भी मालवा पर आक्रमण कर दिया और नरवर्मन को परास्त करके उसे बन्दी बना लिया। किंतु थोड़े ही दिनों के उपरान्त नरवर्मन ने फिर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। नरवर्मान का शासन काल 1033 ई० तक माना गया है।

यशोवर्मनः नरवर्मन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र यशोवर्मन राजा बना। वह भी एक निर्बल शासक था और परमार वंश को पतन से बच न सका। चन्देल नरेश मदनवर्मन ने मिलसा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया जो नरवर्मन के अधिकार में था। विजयपाल नामक एक व्यक्ति ने मालवा में अपने एक स्वतंत्र नरेश जयसिंह सिद्धराज यशोवर्मन पर आक्रमण कर दिया ओर उसे परास्त कर बन्दी बना लिया। जयसिंह ने सम्पूर्ण मालवा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

जयवर्मनः यह यशोवर्मन का पुत्र था, इसने जयसिंह सिद्धराज से पुनः मालवा छीन लिया था किन्तु कालान्तर में चालुक्य नरेश जगदेकमल्ल तथा होयसल नरेश नरसिंह प्रथम ने जयवर्मन पर आक्रमण कर दिया और उसके स्थान पर बल्लाल नामक व्यक्ति को राजा बना दिया। बल्लाल भी अधिक दिनों तक शासन न कर सका क्योंकि गुजरात के चालुक्य नरेश कुमारपाल ने मालवा पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया।

विन्ध्यवर्मनः यह जयवर्मन का पुत्र था। इसने गुजरात के चालुक्य नरेश मूलराज को परास्त करके मालवा पर पुनः अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। विन्ध्यवर्मन ने दक्षिण के होयसल राज्य पर भी आक्रमण कर दिया किंतु वहां के नरेश बल्लाल द्वितीय ने उसे पराजित होना पड़ा। यादव नरेश चिल्लम ने भी इसी संकट काल में मालवा पर आक्रमण कर दिया और विन्ध्यवर्मन को परास्त कर दिया। लगभग 1093 ई० में विन्ध्यवर्मन की मृत्यु हो गयी।

सुमरवर्मनः विन्ध्यवर्मन के बाद उसका पुत्र सुमरवर्मन शासक बना। उसने चालुक्य वंश से लाट छीन लिया। उसके उपरान्त उसने गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ा पर आक्रमण कर दिया और उसे बुरी तरह लूटा किन्तु अंत में गुजरात नरेश भीम द्वितीय के मंत्री लवण प्रसाद ने उसे परास्त कर दिया और गुजरात से मार भगाया। यादव नरेश जैतुगी ने भी सुमरवर्मान पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर दिया। 1210 ई० में सुमरवर्मन की मृत्यु हो गयी।

अर्जुनवर्मनः सुमरवर्मन के उपरान्त अर्जुनवर्मन ने मालवा की लड़खड़ाती हुई शक्ति को बचाने का प्रयत्न किया परन्तु वह अधिक दिनों तक स्वतंत्र न रह सका। 1234 ई० में इल्तुतमिश ने और 1212 ई० में अलाउद्दी खिलजी ने मालवा को खूब लूटा और उसकी स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया।

अध्याय-4

शाकम्भरी का चाहमान वंश
The Chahamanas of Shakambhari

हर्ष की मृत्यु के उपरान्त जो राजनीतिक विखंडन की प्रक्रिया आरम्भ हुई उसी के फलस्वरूप भारत के विभिन्न भागों में नूतन राजनीतिक वंशों का उदय हुआ था। इन्हीं राजपूत राजवंशों में चाहमान वंश भी था। मुस्लिम आक्रमणों के समय जिन राजपूत राजवशों की महत्वपूर्ण भूमिका रही इनमें चाहमान वंश भी एक है।

उत्पत्तिः चाहमान राजवंश की उत्पत्ति के बारे में भी विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न धारणाओं में से कौन सी सत्य है यह निर्णय प्रचलित मान्यताओं के आलोचनात्मक अध्ययन के पश्चात ही किया जा सकता है।

अग्नि कुल उत्पत्ति का सिद्धांतः राजस्थानी चारणी और भाटों के अनुसार चौहानों का जन्म अग्निकुण्ड से हुआ है। पृथ्वीराज रासो का लेखक चन्दबरदई इस मान्यता का प्रवर्तक है। उसने रासों के चौहानों की उत्पत्ति से सम्बन्धित जिस कथा का उल्लेख किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है- विश्वामित्र गौतम और अगस्त आदि ऋषियों ने आबु पर्वत पर एक महायज्ञ किया। दैत्य इस यज्ञ का सदैव ही विरोध करते थे अतः उन्होंने मांस, मदिरा, मलमूत्र आदि द्वारा यज्ञ को अपवित्र कर बाधा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वशिष्ट ने ऋषियों की सहायता के लिए इस कुण्ड से प्रतीहार, परमार, तथा चालुक्य नामक तीन योद्धाओं को उत्पन्न किया। यह तीनों योद्धा दैत्यों के सामन असफल रहे। अतः अग्निकुण्ड से रक्त वर्ण के मुंहवाला प्रचण्ड, सेनापति के रूप में, चाहमान प्रकट हुआ। इस वीर धनुर्धर चाहमान ने यज्ञ की रक्षा की और इसी वंश में प्रतापी पृथ्वीराज का जन्म हुआ।

रासो की यह कथा कहीं-कहीं थोड़े परिवर्तनों सहित अनेक अन्य साधनों से दोहराई गई है। पृथ्वीराज के समकालीन कश्मीरी पण्डित जयनाक कृत पृथ्वीराज विजय से ज्ञात होता है कि मलेच्छो ने पवित्र यज्ञ स्थलों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अतः ब्रह्मा द्वारा असुर वध के लिए प्रेरित पुरुष (विष्णु) का अवतार हुआ। वही पुरुष चाहमान नाम से प्रसिद्ध हुआ। बदला के चौहानों के 'सेसानाभिलेख' जोधराज कृत हमीर रासो आदि में भी अग्निकुल उत्पत्ति सम्बन्धी कथा का वर्णन विद्यमान है।

इस सिद्धांत के अनेक विद्वानों ने खुलकर आलोचना की हे उनका मानना है कि इतिहास कवल एक सत्य घटना का लेखा तारीख होता है और चौहानों की उत्पत्ति से सम्बन्धित अग्नि कुल कथा इतनी चमत्कार पूर्ण है कि इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

दूसरे अग्निकुल उत्पत्ति का वर्णन सर्वप्रथम पृथ्वीराज रासो में किया गया है। बाद के लेखकों ने सम्भवतः रासो के लेखक का ही अनुसरण किया है। रासो स्वयं ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण तथा अविश्वसनीय ग्रंथ है। और जयचन्द्र विद्यालंकार ने तो उसमें अंकित तथ्यों का मूल्य चण्डूखाने की गप्पों से अधिक नहीं माना है।

तीसरे रासो में अंकित तथ्यों के ऐतिहासिक विश्लेषण के पश्चात विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पृथ्वीराज रासो का चन्द पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से नहीं हुई थी। जबकि रासो के तथाकथित चारो अग्नि वंश राजवशों का इतिहास इससे लगभग चार हजार पुराना है।

चौथे रासो में उल्लिखित चारो राजवंशों में से केवल परमार ही अपने वंश को अग्निवंश मानते हैं शेष तीनों नहीं। प्रतीहार व चौहान शासकों ने अपने को सूर्यवंशी व चालुक्य लेखों में उन्हें चन्द्रवंशी माना है।

वास्तव में अग्नि उत्पत्ति कथा का उल्लेख चौहान इतिहास के अन्य साधनों में नहीं किया गया है। सोमेश्वर के 1170 ई० के बिजोलिया अभिलेख पृथ्वीराज विजय तथा नपचन्द्रसुरी के हमीर महाकाव्य में अग्निकुल उत्पत्ति कथा का अभाव कथा की ऐतिहासिकता में संदेह तो उत्पन्न करता ही है साथ ही यह भी सिद्ध है कि चौहानों के सभी समकालीन लेखक इस कथा से पूर्णतया अपरिचित थे वस्तुतः इसीलिए कथा उस समय अस्तित्व में भी न थी।

विदेशी उत्पत्ति का सिद्धांतः कर्नल जेम्स टाड ने सर्वप्रथम चौहानों को विदेशी बताने का प्रयास किया था और चौहानों का सम्बन्ध अनार्य तक्षकों से जोड़ा। स्मिथ ने क्रुक के सिद्धांत को स्वीकार कर चौहानों को विदेशी माना। इसी प्रकार भण्डारकर ने चौहानों का संबंध विदेशी खजर जाति से स्थापित किया है। चौहानों को विदेशी बताने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं वे इस प्रकार हैं-

(1) टाड ने सामान्य रूप से राजदूतों की अनेक प्रथाओं का सीथियनों में प्रचलित प्रथाओं से साम्य स्थापित कर चौहानों सहित सभी राजपूतों को विदेशी बताने का यत्न किया।

(2) इतिहासकार क्रूक तथा स्मिथ चौहानों को विदेशी बताने के लिए पृथ्वीराज रासो में वर्णित अग्निकुण्ड उत्पत्ति संबंधित कथा का आश्रय लेते हैं। उनकी मान्यता है कि पृथ्वी राज रासो की कथा इतनी चमत्कारपूर्ण और अविश्वसनीय है कि सत्य नहीं हो सकती, फिर चन्दरबरदाई को एक कल्पित कथा का संबंध राजपूतों की इन चार जातियों से स्थापित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी। सम्भवतः इसीलिए कि यह चारों जातियां विदेशी थी। और भारत प्रवेश के पश्चात शनै–शनै भारतीय क्षत्रियों में मिल गई। फिर इन्होंने अनेक गौरवशाली कार्य किए जिनसे प्रभावित हो चन्दबरदाई ने उनका भारतीयकरण किया। अर्थात रासो में अंकित अग्निकुंड तथा केवल राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति पर पर्दा डालने हेतु रची गयी है।

(3) भण्डारकर ने चौहानों को विदेशी खजर जाति का सिद्ध करने के लिए एक मुद्रा का आश्रय लिया है जिस पर अंकित 'वासुदेव वहमन' का समीकरण उन्होंने शाकम्भरी चौहान शाखा के संस्थापक वासुदैव से किया है। वे मुद्रा पर अंकित 'वेहमन' को चहमन तथा चौहान मानते हैं।

बहुत से विद्वान विदेशी उत्पत्ति सम्बन्धी इन तर्कों में विश्वास नहीं रखते और इसको अस्वीकार करते हुए निम्नलिखित तर्क देते हैं।

(1) टाड केवल कुछ प्रथाओं के साक्ष्य के आधार पर ही चौहानों को विदेशी मानते हैं। जबकि केवल कुछ प्रथाओं में समानता से रक्त संबंध होना आवश्यक नहीं। सिन्धु, नील दजला और फरात की समकालीन सभ्यताओं के निवासियों की काफी बातें एक सी थी, आवश्यक नहीं है कि उन्होंने सभी बातें एक–दूसरे से सीखी हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समान प्रथाओं का विकास स्वतंत्र रूप से हो सकता है उसके लिए रक्त संबंध होना आवश्यक नहीं। फिर चौहानों सहित अन्य सभी राजपूतों की केवल चन्द्र प्रथाएं ही सीथियनों से मिलती हैं जबकि वैदिक आर्यों की सहस्त्रों प्रथाएं राजपूतों में विद्यमान हैं अतः कसौटी के आधार पर भी राजपूत विदेशी नहीं ठहरते।

(2) अग्निकुण्ड उत्पत्ति संबंधी कथा को आधार बनाकर ही चौहानों को विदेशी ठहराना उचित नहीं। स्मिथ और क्रुक का यह तर्क भी केवल उनकी अपनी कल्पना की उपज है। इतिहास का इतना महत्वपूर्ण निर्णय केवल एक कल्पना के बल पर अन्य किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में उचित नहीं माना जा सकता।

(3) दशरथ शर्मा ने भण्डारकर की मान्यता को अस्वीकार किया है। उनका तर्क है कि मुद्रा पर अंकित नाम ससैनियन लिपि में हैं जिसमें 'व' व 'च' में बहुत अधिक भेद है। अतः उस पर अंकित वासुदेव चौहान होने की सम्भवना बिल्कुल नहीं है।

ब्राह्मण होने संबंधी मतः सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख 1170 ई० में चौहानों को विप्रः या ब्राह्मण कहा गया है। क्याम खाँ रासो के लेखक जान ने भी इसी विचार को पुष्ट किया है और चौहान को वत्स का वंशज बताया है। चौहानों के गोत्राचार में भी उनहें वत्स गोत्री कहा गया है। जलौर के चौहानों का सून्धापर्वत पर उत्कीर्ण लेख तथा चन्द्रावली के चौहानों का अलेश्वर लेख भी वत्स ऋषि से उनका संबंध स्थापित करता है। शर्मा ने चौहानों को ब्राह्मण स्वीकार करते हुए लिखा है कि पल्लव, कदम्ब व गुहिलों की भांति परिस्थितियां वश चौहानों ने भी ब्राह्मणत्व त्यागकर श्रगित्व ग्रहण कर लिया।

गौरी शंकर ओझा राजपूतों को ब्राह्मण मानने से इन्कार करते हैं। उन्होंने राजपुताना के इतिहास में क्षत्रियों के गोत्र शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात लिखा है – राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्र के ही सूचक हैं और वे अब अलग–अलग जगह जा बसे। तब वहां जिसको पुरोहित माना, उसी का गोत्र वे धारण करते रहे। शिलालेख में क्षत्रियों के गोत्रों के जो नाम मिलते हैं, व प्राचीन प्रणाली के अनुसार उनके संस्कार कराने वाले पुराहित के ही गोत्र के सूचक हैं न कि उनके मूल पुरूषों के।

चौहान क्षत्रिय थेः चौहानों को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानने के लिए भी पर्याप्त प्रमाण दिये जा सकते हैं। पृथ्वीराज के समकालीन कश्मीरी पं० जयानक द्वारा लिखित पृथ्वीराज विजय में अनेक स्थानों पर चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है। चौहान शासक विग्रहराज बीसलदेव द्वारा अजमेर में स्थापित सरस्वती मन्दिर में एक बहुत बड़ी शिला पर किसी अज्ञात कवि के बनाए गए चौहानों के इतिहास में काव्य का प्रारम्भिक अंश खुदा है। इसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी ही लिखा है। वि०सं० 1450 अथवा 1393 के आसपास ग्वालियर के तंवर राजा वीरभ के दरबार में प्रतिष्ठा पाए हुए जैन विद्वान नयचन्द्रसूरी ने हमीर महाकाव्य नामक चौहानों के इतिहास का ग्रंथ रचा, इसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी बताया गया है। चन्द्रशेखर द्वारा अकबर के समय में रचित कृति सुर्जनचरित में भी चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है। पृथ्वीराज तृतीय का बादला अभिलेख तथा हमीर महाकाव्य भी इसी धारण की परिपुष्टि करता है।

चौहानों को चन्द्रवंशीय क्षत्रिय बताने वाले साक्ष्यों का भी अभाव है। गौत्राचार में उन्हें सोमवंशी (चन्द्रवंशी) ही कहा गया है। चन्द्रावती के चौहान वंशी शासक लुन्तिगदेव के आबु उत्कीर्ण लेख के अनुसार चौहान चन्द्रवंशी ही थे।

जिस शौर्य और साहस से अर्सोराज, विग्रहराज वीसल देव और पृथ्वीराज तृतीय ने तुर्कों से युद्ध किए थे वे युद्ध ही उनके क्षत्रिय होने का पर्याप्त प्रमाण हैं। वास्तव में ब्राह्मण ग्रंथों में क्षत्रियों के लिए वर्णित आदर्शों का पूर्ण पालन करने वाले चौहान क्षत्रिय भी कुछ हो ही नही सकते।

मूल स्थानः चाहमानों की अनेक शाखाएं थी जिनका भारत के विभिन्न भागों में उदय हुआ। एक अनुश्रुति के अनुसार इसकी सर्वप्रधान शाखा का उदय नर्मदा नदी पर स्थित महिष्मति नामक स्थान पर हुआ था। चाहमानों की अनेक शाखाओं में से एक ने सातवीं शताब्दी शाकम्भरी अर्थात सम्भर में अपनी राज संस्था स्थापित की थी। शाकम्भरी अजमेर के उत्तर में सांभर झील के निकट स्थित था। शाकम्भरी का चाहमान वंश कहलाया। शाकम्भरी प्रदेश में सवा लाख गांव थे। इसी से इसे सपादलक्ष कहते थे। डा० भण्डारकर ने मूल से सपादलक्ष का समीकरण शिवालिक प्रदेश से किया है और इसी को चाहमानों का उत्पत्ति स्थल बतलाया है।

इस वंश की अन्य शाखाओं तथा राज्य धौलपुर, रणथम्भोर तथा आबु पर्वत के निकट स्थित नदहुल में भी था। इसी वंश के कुछ सरदार उज्जैन के शासक के सामन्त के रूप में शासन कर रहे थे किंतु चाहमानों की कोई अन्य शाखा इतनी सुविख्यात तथा महत्वपूर्ण नहीं सिद्ध हुई जितनी शाकम्भरी की चाहमान शाखा। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

प्रारम्भिक शासकः शाकम्भरी चाहमान शाखा का संस्थापक वासुदेव माना गया है किन्तु उसके शासन काल की घटनाओं का हमें ज्ञान प्राप्त नहीं है। हमीर विजय में इसे असुरों के नाश करने वाला विष्णु का अवतार कहा गया है। वासुदेव के उत्तराधिकारी क्रमशः सामन्तराज, नरदेव, जयराज, विग्रहराज प्रथम, चन्द्रराज, और गोपेन्द्र राज ने शाकम्भरी पर शासन किया किन्तु ये ख्याति प्राप्त न कर सके।

दुर्लभराज प्रथमः इस वंश का प्रसिद्ध शासक दुर्लभराज प्रथम था। उसके पिता का नाम चन्द्रराज प्रथम। दुर्लभराज स्वतंत्र शासक न था वरन् वह प्रतीदार नरेश वत्सराज के सामन्त के रूप में शासन कर रहा था। उसने गौड़ नरेश धर्मपाल के विरुद्ध अपने स्वामी वत्सराज की सहायता की थी और पृथ्वीराज विजय के अनुसार उसने अपनी तलवार को गंगा तथा समुद्र के सगम में स्नान करवाया था।

गूवक प्रथमः दुर्लभराज के पंचत्व प्राप्त कर जाने के उपरान्त उसका पुत्र गूवक प्रथम, जिसे गोविन्दराज प्रथम भी कहते हैं सिंहासन पर बैठा। अपने पिता की भांति वह भी एक स्वतंत्र शासक न था वरन् प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय के सामन्त के रूप में शासन कर रहा था। उसे नागभट्ट की सभा में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसने अपनी बहन का विवाह कन्नौज नरेश के साथ कर दिया था जो सम्भवतः नागभट्ट द्वितीय ही था। उसने मुसलमानों के विरुद्ध अपने स्वामी नागभट्ट द्वितीय की सहायता की थी और उन्हें परास्त कर दिया था।

चन्द्रराज द्वितीय तथा गूवक द्वितीयः गूवक प्रथम के उपरान्त चन्द्रराज द्वितीय तथा गूवक द्वितीय क्रमशः सिंहासन पर बैठे किन्तु उनके शासन काल की किसी भी महत्वूपर्ण घटना की जानकारी हमें नहीं है।

चन्दनः गूवक द्वितीय के पश्चात उसका पुत्र चन्दन सिंहासन पर बैठा। इससे कुछ दिनों पूर्व से ही चाहमान वंश तथा दिल्ली के तोमर वंश में शत्रुता चल रही थी। चन्दन के शासन काल में यह शत्रुता और अधिक तीव्र हो गयी। चन्दन का तोमर नरेश रुद्रसेन के साथ भीषण संघर्ष हुआ जिसमें रुद्रसेन परास्त हुआ और मार डाला गया।

वाक्पतिराज प्रथमः चन्दन की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी वाक्पतिराज सिंहासन पर बैठा। उस समय तक चाहमान वंश पर्याप्त रूप से शक्तिशाली हो गया था। वाकपतिराज ने अपने स्वामी प्रतीहार नरेश का विरोध करना आरम्भ किया और इसप्रकार उसने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना का बीजारोपण किया वह सम्भवतः शैव धर्मावलम्बी था क्योंकि उसने पुष्कर में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था।

सिंहराजः वाकपतिराज के उपरान्त उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी सिंहराज सिंहासन पर बैठा। वह चाहमान वंश का सर्वप्रथम स्वतंत्र शासक था क्योंकि उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी जो स्वतंत्र शासक की उपाधि हुआ करती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पिता ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना का जो बीजारोपण किया था उसे उसने अंकुरित तथा प्रस्फुटित किया और प्रतीहार नरेश के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। 973 ई० हर्ष अभिलेख से ज्ञात होता है कि सिंहराज ने नाम-

शासक सलवन को परास्त किया था और उनकी राजकुमारों तथा सामंतों को बंदी बना लिया था। सिंहराज ने हर्षनाथ के मन्दिर को कई गांव दान में दिये थे। जिससे उनकी उदारता तथा दानशीलता का परिचय मिलता है।

विग्रहराज द्वितीय: सिंहराज की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र विग्रहराज द्वितीय सिंहासन पर बैठा। वह चाहमान वंश का एक वीर और प्रतापी शासक प्रतीत होता है। उसने गुजरात के चालुक्य नरेश मूलराज प्रथम पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और सारस्वत मण्डल तथा लाट को रौंदता हुआ वह नर्मदा नदी के किनारे पर पहुंच गया। विवश होकर मूलराज को विग्रहराज द्वितीय के साथ संधि करनी पड़ी विग्रहराज ने नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ नामक स्थान पर आशापुरी देवी का मन्दिर बनवाया।

दुर्लभराज: विग्रहराज की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई दुर्लभराज सिहांसन पर बैठा। चाहमान वंश की एक शाखा आबु पर्वत के सन्निकर स्थित नद्दूल में शासन कर रही थी। इस समय इस शाखा का राजा महेन्द्र था। दुर्लभराज ने महेन्द्र पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और रासोशिन्तन मण्डल को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

गोविन्दराज द्वितीय: दुर्लभराज के उपरान्त उसका पुत्र गोविन्दराज द्वितीय शासक हुआ। इसी के शासन काल में महमूद गजनवी के आक्रमण हुए थे।

वाक्पतिराज द्वितीय: गोविन्दराज द्वितीय के उपरान्त वाक्पतिराज द्वितीय शासक हुआ किन्तु उसके काल की किसी उल्लेखनीय घटना का में पता नहीं है।

वीर्यराज: वाकपतिराज के उपरान्त वीर्यराज शासक बना। उसका चाहमान वंश की नद्दुल शाखा के नरेश अणहिल्ल से युद्ध हुआ था जिसमें वीर्यराज परास्त हो गया। परमार नरेश भोज ने वीर्यराज पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला।

चामुण्डराज, सिंहधार तथा दुर्लभराज तृतीय: वीर्यराज के उपरान्त चामुण्डराज, सिंहधार, तथा दुर्लभराज तृतीय क्रमशः सिंहासन पर बैठे। इनमें से प्रथम दो नगण्य शासक थे। दुर्लभराज द्वितीय भी निर्बल शासक था और मातंगों से युद्ध करते हुए मारा गया।

वीरसिंह तथा विग्रहराज तृतीय: दुर्लभराज द्वितीय के उपरान्त वीरसिंह तथा विग्रहराज तृतीय क्रमशः सिंहासन पर बैठे। विग्रहराज ने चालुक्य नरेश कर्ण के विरुद्ध परमार नरेश उदयादित्य की सहायता की थी।

पृथ्वीराज प्रथम: विग्रहराज तृतीय के उपरान्त उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी पृथ्वीराज प्रथम सिंहासन पर बैठा। वह 1105 ई० में शासन कर रहा था।

अजयराज: पृथ्वीराज प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र अजयराज शासक हुआ। वह अपने समय का बड़ा ही प्रतापी राजा था। उसने अज्यमेरू अर्थात अजमेर नगर की स्थापना की थी। इसने मालवा पर आक्रमण कर दिया और परमार नरेश नरवर्मन ने सेनापति को परास्त कर बन्दी बना लिया। उसने उज्जैन तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त की।

अर्णोराज: अजयराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र अर्णोराज सिंहासन पर बैठा। उसे अपने शासन काल में कई युद्ध करने पड़े। गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज ने अर्णोराज के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उसने उसे युद्ध में परास्त कर उसके राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया किन्तु बाद में उसने अपनी पुत्री कंचन देवी का विवाह अर्णोराज के साथ कर दिया और उसे उसका राज्य लौटा दिया। इस वैवाहिक संबंध के होते हुए भी अर्णोराज का जयसिंह के पुत्र कुमारपाल के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में अर्णोराज बुरी तरह से घायल हुआ और विवश होकर कुमारपाल के साथ संधि करनी पड़ी। अर्णोराज ने अपनी पुत्री जल्हण का विवाह कुमारपाल के साथ कर दिया। अर्णोराज ने कुशवरण के राजा पर एक विजय प्राप्त कर ली थी और मुसलमानों के साथ भी उसने सफलतापूर्वक संघर्ष किया था। 1753 ई० में जुत्रदेव नामक उसके एक पुत्र ने उसकी हत्या कर दी और स्वयं सिंहासन पर विग्रहाज चतुर्थ ने उससे सिंहासन छीन लिया और स्वयं राजा बन गया।

विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव: अर्णोराज के दो विवाह हुए थे। एक मरूदेश के योधेय राजकुमारी सुधवा से और दूसरा गुजरात के चालुक्य शासक सिद्धराज की पुत्री कांचन देवी से। सुधवा से जगदेव विग्रहराज (बीसल) और देवदत्त नामक पुत्र और कांचन देवी से सोमेश्वर का जन्म हुआ। यही सोमेश्वर इतिहास प्रसिद्ध पृथ्वीराज का पिता था। जगदेव ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य का उत्तराधिकारी था किंतु अर्णोराज के दीर्घशासन लगभग 1133 से 1152 ई० ने उसे निरुत्साहित कर दिया और वह राज्य प्राप्ति की अधिक प्रतीक्षा न कर सका। गुजरात के शासक कुमारपाल के हाथों अर्णोराज की पराजय और अपमान ने जगदेव की पितृहत्या जैसा जघन्य अपराध करने की प्रेरणा दी होगी। पृथ्वीराज विजय में इस अपराध का विवरण इस प्रकार दिया है। उसने अपने पिता की वही सेवा की जो परशुराम ने अपनी माता की की थी। यानि उसने अपने पिता का वध कर दिया था।

पितृहन्ता जगदेव अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। अर्णोराज के सामन्त जगदेव के विरोधी बन गये। सामन्तों ने अर्णोराज के छोटे भाई विग्रहराज बीसल का साथ दिया। सम्भवतः कुमारपाल ने चौहानों की इस गृह कलह में कुछ भाग लिया हो। युद्ध में जगदेव मारा गया और बीसल विग्रहराज चतुर्थ की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा। बीसल देव इस वंश का महान प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसने शीघ्र ही अर्णोराज के अन्तिम दिनों में चौहान शक्ति पर लगे घावों को भर दिया। वह रणदक्ष विजेता तथा कुशल कवि भी था।

स्वयं बीसलदेव के दस अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो उसके शासन और व्यक्तित्व के वास्तविक मूल्यांकन में सहायक हैं। इनमें से तीन दिल्ली शिवालिक स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण है। यह वही स्तम्भ है जिस पर महान मौर्य सम्राट अशोक का लेख अंकित है। विक्रम संवत 1211 अर्थात 1154 ई० का एक अभिलेख मेवाड़ के लाहौरी गांव में उपलब्ध हुआ है। अभिलेखों में उसके अरबों से संघर्ष, धार्मिक और साहित्यिक कार्य, शासन की अवधि (1153 से 1164 ई०) तथा अन्य समकालीन राजवंशों से उसके संबंध तथा उसके साम्राज्य की सीमाओं के निर्धारण में सहायता मिलती है।

विग्रहराज चतुर्थ के प्रतिशोधात्मक अभियानः विग्रहराज के मन में अपने पिता के शत्रुओं से प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही थी। उसकी इस ज्वाला का प्रथम शिकार उसका भाई जिसने उसके पिता की हत्या की थी जगदेव बन चुका था। अब वह उन सभी विरोधियों को दण्ड देना चाहता था जिन्होंने कुमारपाल के साथ उसके पिता का अपमान किया था। बिजोलिया अभिलेख सर्वप्रथम उसके चित्तौड़ अभियान का उल्लेख करता है। चित्तौड़ पर अधिकार करने की चौहानी इच्छा पहले से थी। चौहान शासक गूवकेन्द्रराज के पुत्र वाकपतिराज द्वितीय ने गुहिल राजा अम्बाप्रसाद पर आक्रमण कर उसे मौत के घाट उतारा था। किंतु तब सम्भवतः चालुक्यों की बढ़ती शक्ति ने चौहान लक्ष्य की पूर्ति में बाधा पहुंचाई। बीसल का जन्म ही मानो उसके पूर्वजों द्वारा इच्छित गौरव की पूर्ति हेतु हुआ था। चित्तौड़ आक्रमण का एक सीधा लक्ष्य था अपने पिता के परम शत्रु कुमारपाल को चुनौती देना, उसकी शक्ति पर आघात करना। गुजरात के चालुक्य कुमारपाल ने मालवा के शासक बल्लाल को पराजित कर चित्तौड़ पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। चित्तौड़ में उसने सज्जन नामक अपना एक प्रांतपति नियुक्त कर दिया था। विग्रहराज ने इसी सज्जन पर आक्रमण करके उसे मौत के घाट उतार दिया। चित्तौड़ अभियान की सफलता ने स्पष्ट कर दिया कि अर्णोराज की पराजय ने चौहान बल पर जो आघात किया था वह घातक सिद्ध नहीं हुआ, चौहान अब भी शक्तिमान थे। उत्तरी मेवाड़ को चौहान साम्राज्य में मिला लिया गया और बिजोलिया, माण्डलगढ़ और जहाजपुर पर अब शाकम्भरी सत्ता स्थापित हो गयी।

नाडोल और जालोर के शासक भी कुमारपाल के माण्डलिक थे और उन्होंने अर्णोराज के विरुद्ध कुमारपाल की सहायता की थी। बिजोलिया अभिलेख सूचित करता है कि विग्रह राज ने नाडोल के कुन्तपाल को हराया और नाडोल को सरकण्ड के खेत में परिणत किया, जालौर को ज्वालाओं का नगर बनाया और पल्लिका में परिणीत किया।

कुमारपाल ने अपने एक के बाद दूसरे माण्डलिकों को ध्वस्त होते देख प्रतिक्रिया रूप में चौहानों के प्रमुख नगर नागौर को घेर लिया था किंतु उसे असफल होकर लौटना पड़ा। चौहान प्रशस्ति के अनुसार विग्रहराज ने कुमारपाल को 'करवालपाल' बना दिया। प्रबंध कोष के अनुसार 'करवालपाल पाल' भी प्रतीहार कुन्तपाल और खड्गपाल बराबर का पद था। अनय पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यदि इसे पराजय भी माना जा सकता है तब भी यह निश्चित है कि कुमारपाल का अभियान असफल रहा।

अन्य अभियानः बीसलदेव का सैनिक गौरव केवल उसके प्रतिशोधात्मक युद्धों के कारण नहीं है उसने अनेक नवीन विजयें भी की थी। उसके सैनिक जीवन की सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि उसका दिल्ली पर अधिकार जमाना है। इस विजय ने इसे समूचे भारत के सार्वभौम सम्राटों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। दिल्ली के तोमरों की दशा बिगड़ी हुई थी। तोमर निरन्तर मुसलमानों, चौहानों और गहड़वालों के आक्रमणों से परेशान थे। अतः विग्रहराज को उन्हें परास्त करने में अधिक कठिनाई न हुई होगी। दिल्ली विजय के पश्चात चौहान अखिल भारतीय शक्ति बन गये और अब उनके कंधे पर भारत की रक्षा का भार आ पड़ा। विग्रहराज ने कब दिल्ली विजय की तिथि के बारे में अनेक मत हैं। हरविलास शारदा ने इस विजय का समय 1153 से 1163 ई० के बीच माना है। बिजोलिया अभिलेख से वर्णित विग्रहराज की दिल्ली विजय की सूचना से एक अन्य ऐतिहासिक मूल का भी सुधार होता है। यह अनुश्रुति प्रचलित है कि दिल्ली को पृथ्वीराज के नाना अनंगपाल ने अपने दोहित्र पृथ्वीराज को दिया था। वास्तव में बिजोलिया लेख व दिल्ली शिवालिक स्तम्भ लेख विग्रहराज के दिल्ली विजेता होने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

दिल्ली विजय से समस्त उत्तरी भारत की मुस्लिम आक्रमणों से रक्षा का भार बीसल के कधों पर आ गया। इस उत्तरदायित्व को उसने वीरता से निभाया, वैसे मुसलमानी आक्रमणों का विरोध करने का बल उसे अपने पूर्वजों अजयराज और अर्णोराज के कृत्यों से भी अवश्य मिला होगा। दिल्ली शिवालिक स्तम्भ लेख में उसे सर्वत्र कहा गया है कि मलेच्छों का उच्छेदन कर उसने आर्यावर्त को सही अर्थ में आर्यावर्त बना दिया। विग्रहराज के गजनियों से प्रथम युद्ध का वर्णन सोमदेव कवि की रचना ललित विग्रहराज नाटक

में उपलब्ध है। गजनवी सेना आधुनिक जयपुर में खेतड़ी से छः मील दूर स्थित बव्वेरा गांव तक आ पहुंची। वह सेना या तो सुयुक्तगीन के अंतिम वंशज खुसरो मलिक की थी जो 1160 ई० में पंजाब आया और जिसे 1186 ई० में मुहम्मद गौरी ने मौत के घाट उतारा अन्यथा यह सेना इसी खुसरो मलिक के पिता खुसरोशाह की थी जो 1150 ई० में गजनी का सुल्तान बना। गजनवी की सेना का जो भी सेनापति रहा हो बव्वेरा पहुंचकर उसने विग्रहराज को लिखा कि वह उसकी अधीनता स्वीकार कर ले। विग्रहराज के संलाकहारों ने उसे दोनों ही तरह की सलाह दी किंतु उसने युद्ध करना ही उचित समझा। उसके लिए यें सब बातें असह्य थी कि उसकी महा अपकीर्ति हो। उसे मित्रों को अभय देने का व्रत छोड़ना पड़ा, तीर्थो, ब्राह्मणों और सत पुरुषों का ध्वंस हो और शक्ति का लोप हो अतः इन सबको अंगीकृत करने के स्थान पर उसे प्राणोत्सर्ग को ही उचित समझा। यही सलाह उसके मामा सेनापति सिंहबल ने उसे दी। नाटक (ललित विग्रहराज) की अन्तिम शिला अप्राय होने के कारण इस आक्रमण के बारे में अधिक कहना सम्भव नहीं है परंतु विजय सम्भवतः विग्रहराज की ही हुई थी। और उसके बाद भी विग्रहराज ने तुयपकों को पराजित किया होगा तभी तो वह कह सकता था कि उसने आर्याव्रत को अपने सच्चे अर्थ में आर्याव्रत बना दिया।

बिजोलिया अभिलेख में बीजल की भादानकों पर विजय का उल्लेख भी करता है। राजशेखर के काव्य मीमांसा भादानक देश की स्थिति मरू (थार रेगिस्तान) और टक्क (पंजाब) निकट ही बताई है। स्कन्धपुराण के अनुसार भादानक या भंजनक देश में सवा लाख गांव सम्मिलित थे। दशरथ शर्मा ने भादान कोई के क्षेत्र की पहचान शेखावटी के निकट अहीरवाटी (भिवानी, अलवर, गुड़गांवा के त्रिकोण क्षेत्र) से की है। अहिरों में भी बीसलदेव और पृथ्वीराज तृतीय से अहिरों के युद्ध सम्बन्धी परम्पराएं प्रचलित हैं।

इस प्रकार बीसलदेव ने सैनिक बल से सर्वत्र अपने वंश का गौरव स्थापित किया। उसका राज्य हिमालय की तराई से विंध्य तक फैला हुआ था। ललित विग्रहराज नाटक में उसकी सैनिक शक्ति का विवरण उपलब्ध था। उसकी महान विजयीनी सेना में एक हजार हाथी, एक लाख अश्वारोही और कई लाख पैदल थे।

विग्रहराज की व्याप्ति का स्त्रोत केवल उसकी विजय ही नहीं है। वह एक महान निर्माता तथा कला तथा साहित्य का पोषक भी था। अजमेर में उसने सरस्वती मन्दिर नामक एक विद्यालय का निर्माण किया था। कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा यह मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया और अब अढाई दिन का झोंपड़ा कहलाता है। कर्नल टाड तथा कनिंघम ने इसकी कलात्मक बहुत प्रशंसा की है और इस हिन्दु वास्तुकला का सुन्दर चिन्ह स्वीकार किया है। बीसलदेव ने अनेक नवीन नगरों और दुर्गों का भी निर्माण किया। अपने साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में उसे जिन नवीन नगरों की स्थापना की उन सभी का नाम बीसलपुर रखा। गिरवर पर्वत श्रृंखलाओं के दक्षिण–पश्चिमी छोर पर टोडा सात मील दक्षिण में एक बीसलपुर अब भी विद्यमान है और उसके पास ही चौहानों के राजमहल हैं जो बनास नदी पर स्थित हैं और वह स्थान अब भी राजमहल नाम से प्रसिद्ध है। अजमेर में उसने बीसलसर नामक एक झील का निर्माण भी करवाया जो अब बिसलिया कहलाती है। झील लगभग ढाई मील क्षेत्र में फैली हुई है। इसके बीच राजप्रसाद भी बने हुए हैं।

पृथ्वीराज विजय के अनुसार वह अपने जीवन काल में कवि बान्धव कहलाता था। स्वयं वह उच्चकोटि का कवि था। उसकी राजसभा में कवि सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज' नामक एक उच्चकोटि का ऐतिहासिक नाटक लिखा। स्वयं विग्रहराज ने दरकेली नामक एक नाटक की रचना की थी।

वह शिव का परम भक्त था किन्तु उसमें असहिष्णुता नाममात्र को भी नहीं थी। अपने पूर्वजों की भांति उसने जैनियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया। एकादशी के दिन पशुवध को स्वीकृति किसी को भी नहीं थी। वह जैनियों के धार्मिक उत्सवों तक में भाग लिया करता था। बीसलदेव का शासन काल निःसंदेह सपालदक्ष का स्वर्णयुग था।

अपरगांगेय तथा पृथ्वीराज द्वितीयः विग्रहराज चतुर्थ के बाद उसका पुत्र अपरगांगेय सिंहासन पर बैठा किंतु थोड़े ही दिन उपरान्त उसका स्वर्गवास हो गया और उसके स्थान पर पृथ्वीराज द्वितीय राजा बना। उसने मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न किया इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उसने अपने मामा गुहिल किल्हण को पंजाब में आशिका प्रांत में नियुक्त किया। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज द्वितीय ने 1168 से लेकर 1190 तक शासन किया था।

सोमेश्वरः पृथ्वीराज द्वितीय के उपरान्त उसका चाचा सोमेश्वर सिंहासन पर बैठा। वह अर्णोराज का पुत्र था और उसकी माता चालुक्य राजकुमारी कांचनदेवी थी। यही कारण है सोमेश्वर कुछ दिनों तक चालुक्यां की राजसभा में रह चुका था। उसका विवाह त्रिपुरी के कलचुरि अचलराज की पुत्री कर्पुरदेवी से हुआ था।

पृथ्वीराज तृतीय अथवा राय पिथौरा: 1177 ई० में सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र पृथ्वीराज तृतीय जिसे राय पिथौरा या पिथौराराय भी कहते हैं शासक बना। पृथ्वीराज जब शासक बना तब उसकी आयु केवल 11 वर्ष की थी। अतः उसकी माता कर्पुरदेवी ने राजकार्य संभाला। वह अत्यंत योग्य संरक्षिका सिद्ध हुई। चौदह वर्ष की किशोर अवस्था में ही स्वयं पृथ्वीराज ने कार्यभार सभाल लिया।

उत्तराधिकार युद्ध: उत्तराधिकार युद्ध चौहानों की आवश्यक परम्परा सी बन गयी थी और पृथ्वीराज तृतीय को भी राजगद्दी के अन्य दावेदार का सामना करना पड़ा। दशरथ शर्मा ने इस गृह कलह का वर्णन इस प्रकार किया है "राज्यकाल के आरम्भ से ही पृथ्वीराज को युद्धों में लिप्त रहना पड़ा। अपरगांगेय के अतिरिक्त विग्रहराज के नागार्जुन नामक एक और पुत्र था। सम्भव है कि विग्रहराज की मृत्यु और सोमेश्वर के सिंहासनरोहण के समय नागार्जुन की आयु कुछ अधिक न हुई हो। इसी कारण राज्य पर इसके अधिकार के बारे में कुछ अधिक विचार न किया गया हो। किंतु अब नागार्जुन व्यस्क हो चुका था। जिस राज्य पर उसके पिता ने राज्य किया था उसका वह भी अधिकारी था। सम्भवतः कुछ ऐसे ही विचारों से उसने गुडपुर (गुड़गांवा) के दुर्ग को युद्ध के लिए सजाया हो। कई राजपूत सरदारों ने उसका साथ दिया। पृथ्वीराज के पास भी खबर पहुची। आशा की जाती है कि वह अपने सेनापतियों के लिए प्रतीक्षा करेगा, किंतु पृथ्वीराज अपने बाल्यकाल में ही क्षत्रिय गुणों से सम्पन्न हो चुका था। उसके लिए यह सह्य न था कि शत्रु थोड़े समय के लिए भी राजभूमि पर अधिकार कर सके।

पृथ्वीराज विजय काव्य में गुडपुर की चढाई करने वाली विजयवाहिनी का वर्णन है। जिसने आगे बढकर गुडगांवा को घेर लिया' क्षात्रधर्म तो यही था कि नागार्जुन युद्ध करे। उसे सहायता देने के लिए बहुत से लोग भी थे किंतु वह उन सबको छोड भागा। देवभट्ट आदि ने यह खबर कुछ समय तक छिपाए रखी। किंतु यह प्रसिद्ध कहावत है 'स्वामी–रहित पुरुष शिरोविहिन होता है' शत्रुओं के सिर काटकर पृथ्वीराज ने यह प्रवाहपूर्ण तथा सत्य कर दिया। नागार्जुन की मां व वधु दानों ही कैद कर ली गई। जो सिपाही पृथ्वीराज के विरूद्ध युद्ध करते रहे वे सब मार डाले गये। उनके सिरों की एक माला पृथ्वीराज की राजधानी (अजयमेरू) के फाटक पर लटकाई गई।

पृथ्वीराज के अभियान: विग्रहराज ने जिन भादानकों को जीता था, पृथ्वीराज ने भी उन्हें हराया और पूर्ण तथा कवल भादानक प्रदेश में गुडगांवा, अलवर राज्य का कुछ भाग तथा हरियाणा में हिसार तथा भिवानी सम्मिलित थी। समस्त भादानक क्षेत्र अब चौहान साम्राज्य का ही अंग बन गया।

भविष्य पुराण और पृथ्वीराज रासो से पृथ्वीराज और चन्देल शासक परमर्दी के बीच बैर तथा युद्ध का वर्णन मिलता है। दशरथ शर्मा की मान्यता है कि सं० 1239 के कुछ समय बाद ही पृथ्वीराज ने बुन्देलखण्ड पर फिर आक्रमण किया। इस बार लड़ाई ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया। महोबा खण्ड, परमालरासो के वर्णन शायद इसी महायुद्ध की समृति पर आधारित है। चन्देल शासक परमाल को दो और सहायता मिली बताई जाती है। बनाफर सामन्त आल्हा और ऊदल कुछ समय पूर्व परमाल के सामन्त थे किंतु परमाल के दुर्व्यवहार से अप्रसन्न होकर उन्होंने कन्नौज के महाराजा होते हुए भी वे माता के अनुरोध से पृथ्वीराज का सामना करने चल पड़े। जयचन्द ने भी कुछ हिचकिचाहट के बाद अपनी सेना भेजी। परम्परागत वर्णन सर्वथा सत्य न हो तब भी यह माना जा सकता है कि चन्देल राजा बुरी तरह पराजित हुआ। बनाफर उदल युद्ध में धाराशायी हुआ और जयचन्द्र की सेना भी पर्याप्त संख्या में नष्ट हुई। युद्ध में पृथ्वीराज विजयी अवश्य हुआ लेकिन चन्देल राज्य को चौहान साम्राज्य मे न मिला जा सका। परमर्दी के महोबा और कालंजर अभिलेख से पता चलता है कि वह स्वतंत्र शासक के रूप में राज्य करता रहा।

पृथ्वीराज की गुजरात के चालुक्य भीम द्वितीय से शत्रुता थी। जैन साहित्य में भी इस युद्ध का उल्लेख मिलता है सम्भवतः इस युद्ध के समय उसने आबु के परमार शासक धारावर्ष पर, जो चालुक्यों का सामन्त था, रात्रि में आक्रमण किया। चालुक्य के विरुद्ध पृथ्वीराज को विशेष सफलता नहीं मिली।

पृथ्वीराज का सबसे सबल प्रतिद्वंद्वी कन्नौज का गहड़वाल नरेश जयचन्द्र था। दोनों ही महत्वाकांक्षी थे और उत्तरी भारत के प्रभुत्व की इच्छा रखते थे अतः विरोध होना स्वाभाविक था। पृथ्वीराज रासो के आधार पर कुछ विद्वान पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का साहसपूर्ण हरण दोनों नरेशों में प्रतिद्वंद्विता का तत्कालीक धारणा मानते हैं। किन्तु इस धारणा का असत्य साबित करने के लिए निम्न तर्क दिया जाता है। चौहानों और गहड़वालों के इतिहास के समकालीन साधनो में संयोगिता के नाम का उल्लेख नहीं है। जयचन्द्र द्वारा लिखित हमीर महाकाव्य मेरूतुंग के प्रबन्धचिंतामणि, राजशेखर के प्रबन्धकोष और नयचन्द्र कृत रम्भामंजरी सभी साधन इस संबंध में मौन हैं। यद्यपि नयचन्द्र सुरि के 1403 ई० में लिखित नाटक रम्भामंजरी का नायक गहड़वाल जयचन्द्र है पर इस नाटक में भी संयोगिता का उल्लेख तक नहीं है। अतः संयोगिता स्वयंवर तथा पृथ्वीराज के साथ विवाह प्रमोन्माद का आख्यान मात्र है

पृथ्वीराज के विभिन्न युद्धों के समकालीन नरेशों में अपनी महता स्थापित कर ली थी। उसने भादानकों, चन्देलों, आबु के परमारों को परास्त किया। दिल्ली व हरियाणा के तंवर विग्रहराज के समय में ही परास्त हो चुके थे और इस पर चौहानों का सीधा शासन स्थापित हो चुका था।

पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी: उत्तर पश्चिमी भारत में धीरे–धीरे गजनवियों का स्थान गौरी शासक ले रहे थे। 1175 ई० तक सुल्तान मुहम्मद गौरी मुल्तान तथा उच्च पर अधिकार जमा चुका था। 1178 ई० में उसने गुजरात के चालुक्यों पर आक्रमण किया। इस अवसर पर यदि पृथ्वीराज अपने संकीर्ण विचारों को त्याग, भारतवर्ष की रक्षा के आदर्श को सामने रख चालुक्यों से सहयोग करता तो सम्भवतः इतिहास की दिशा कुछ और होती। उसके एक सलाहकार मंत्री कदम्बवास ने उसे सलाह दी थी वह युद्ध से दूर रहे। चालुक्य और गौरी दोनों ही चौहानों के शत्रु थे। अतः दोनों आपस में लड़कर थक जायेंगे और उनका बल टूट जायेगा। कदम्बवास की इसी सलाह का पृथ्वीराज ने अनुसरण किया भी, वह युद्ध में केवल तटस्थ दर्शक ही बना रहा। गौरी की सेनाएं किराडू और नडोल को विजय करती हुई गुजरात की ओर बढ़ी। आबु पर्वत के नीचे मूलराज द्वितीय की चालुक्य सेना से उसका मुकाबला हुआ जिसमें विजयश्री चालुक्यों के साथ रही और मुहम्मद गौरी को भागना पड़ा।

चालुक्य के हाथों पराजय भी मुहम्मद गौरी के भारत विजय के स्वप्न को न भुला सकी। पंजाब में अपने दृढ़ केन्द्र स्थापित कर उसने सन् 1189 ई० में सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज स्वयं अपनी विजयीनी सेना ले किले को वापिस लेने पहुंचा तो तराईन के मैदान में उसकी मुहम्मद गौरी की सेना से मुठभेड़ हुई। घमासान युद्ध में पृथ्वीराज के दिल्ली के माण्डलिक गोविन्दराज के यद्यपि दो दांत टूट गये किंतु वीरता से युद्ध करते हुए उसने मुहम्मद गौरी पर भाले से इतना भीषण वार किया कि मुहम्मद गौरी घायल हो गया। एक खिलजी युवल घायल सुल्तान को युद्ध क्षेत्र से भगाकर उसकी प्राण रक्षा की। पराजित गौरी की सेना युद्ध क्षेत्र से भाग गई। पृथ्वीराज ने सरहिन्द के दुर्ग पर अधिकार कर लिया।

पृथ्वीराज तृतीय के हाथों 1191 ई० में तराईन में पराजय से मुहम्मद गौरी को बहुत ग्लानि हुई। फरिश्ता ने लिखा है 'बदला लेने का निश्चय कर उसने नींद और आराम को अपने लिए हराम नाम दिया।' उसने नये सैनिक भर्ती किये और लगभग एक लाख बीस हजार घुड़सवारों की अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित सेना तैयार की और अगले ही वर्ष 1192 ई० में पुनः आ धमका। फरिशता के अनुसार पृथ्वीराज अपनी तीन लाख घुड़सवारों और तीन हजार हाथियों से युक्त सेना तथा एक सौ पचास माण्डलिकों सहित युद्ध क्षेत्र में पहुंचा। मुहम्मद गौरी ने चालाकी से यह सूचना चौहानों तक पहुंचा दी कि अभी युद्ध करने का उसका इरादा नहीं है और वह केवल अपने भाई के वापस लौटने संबंधी आदेश की प्रतीक्षा मात्र कर रहा है। राजपूत उसके भुलावे में आ गये और गौरी के आश्वासन के पश्चात निश्चित थे कि युद्ध अभी नहीं होगा। लेकिन यह वह मुहम्मद गौरी की एक चाल थी और वह चौहान सेना को भुलावे में डालने में सफल रहा। भोर होते–होते जब उसकी सेना ने राजपूतों पर आक्रमण किया तब अनेक राजपूत सैनिक सोये थे और अन्य शौचादि के लिए जा रहे थे। यद्यपि यह आक्रमण धोखे से किया गया था किन्तु फरिश्ता और निजामी ने लिख है कि राजपूत सेना शीघ्र ही युद्ध के लिए तैयार हो गयी।

पृथ्वीराज का अन्त किस प्रकार हुआ यह बहुत ही उलझा हुआ और गूढ़ प्रश्न है। एक मान्यता के अनुसार वह युद्ध क्षेत्र से भागने में सफल हो गया किन्तु सरस्वती के निकट पकड़ लिया गया और मार दिया गया। एक अन्य धारणा यह है कि वह युद्ध क्षेत्र में लड़ता हुआ मारा गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वह बन्दी बनाया गया और अधीनता स्वीकार कर लेने पर पुनः उसे अजमेर का राज्य सौंप दिया गया किंतु उसमें मनःविरोध की प्रवृति दिखाई पड़ी अतः उसे मार डाला गया। पृथ्वीराज रासो में लिखा है कि बन्दी बनाकर गजनी ले जाया गया जहां उसने चन्दबरदाई की सहायता से मुहम्मद गौरी को तीर से मार डाला और उसके पश्चात चन्दबरदाई और पृथ्वीराज ने एक दूसरे की जीवन लीला समाप्त कर दी।

पृथ्वीराज का अन्त चाहे जैसी भी रहा हो यह निर्विवाद है कि उसका अन्त न केवल चौहान पराभव का ही कारण बना बल्कि इस पराजय ने इतिहस को बदल डाला।

पृथ्वीराज की पराजय के कारण: यह प्रश्न अस्वाभाविक नहीं हैं कि वह रणबांकुरी चौहान विजयवाहिनी जिसने अनेक बार शत्रु के छक्के छुड़ाए थे तराडिन के 1192 ई० के युद्ध में कैसे धराशायी हुआ। देश में उस समय उत्साह की कमी नहीं थी, राजपूत एक आदर्श की प्राप्ति, स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध कर रहे थे तथा उनकी संख्या यदि शत्रु सेना से बहुत अधिक नहीं थी तो निश्चित रूप से कम भी न थी। ऐसी परिस्थिति में असफलता के कारण जानना सरल तो नहीं है किन्तु आवश्यक जरूर हैं–

(1) पृथ्वीराज सम्भवतः अपनी युवा अवस्था के कारण आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी था। सभी समसामयिक नरेश उसके

शत्रु थे। आबु के परमार, गुजरात के चालुक्य, महोबा के चन्देल, और कन्नौज के गहड़वाल तथा जम्मू का विजयराज पक्ष उसके विराधी थे, उसने कभी एक से युद्ध किया तो कभी दूसरे से छेड़खानी।

(2) 1178 ई० में मुहम्मद गौरी के गुजरात के चालुक्य पर आक्रमण के समय पृथ्वीराज ने अपनी मंत्री कदम्बवास की सलाह मान देश की स्वतंत्रता की अर्थी बांध दी। कदम्बवास के परामर्श की अवहेलना कर यदि इस समय पृथ्वीराज चालुक्य की सहायता करता तो सम्भवतः गौरी की सेना की ऐसी दुर्दशा होती कि वह पुनः आक्रमण करने योग्य तो क्या रहती मुहम्मद गौरी व उसकी सेना व उसके नाम के समाचार तक गजनी न पहुंच पाते।

(3) तराईन के पहले युद्ध में मुहम्मद गौरी को परास्त कर उसका सर्वनाश न करना भी एक घातक भूल हुई। यह भूल या राजपूत आदर्शों के अनुकरण हेतु हुई हो या पृथ्वीराज की अदूरदर्शिता से।

(4) तराईन के पहले और दूसरे युद्ध के बीच के समय का लेखा–जोखा विशेषकर दोनों विरोधियों की उस समय की गतिविधियां अंतिम निर्णय की ओर स्पष्ट संकेत करती है। फरिश्ता तराईन के पहले युद्ध के पश्चात मुहम्मद गौरी की रवानगी का वर्णन इस प्रकार करता है "बदला लेने का निश्चय कर उसने नींद और आराम अपने लिए हराम बना दिया और थोड़े से समय में ऐसी फौज एकत्रित की जो बहादुर और निपुण थी।" फरिश्ता के माध्यम से मुहम्मद गौरी के इन शब्दों का पता चलता है जो उसने दूर आक्रमण के लिए निकलते समय कहे थे, मैं स्त्री संग से दूर रहा हूं, मैंने जिस्म के कपड़े नहीं बदले हैं और साल को गमी खेद और उदासी में बिताकर मैंने गौर, खल्ज और खुरामान के अमीरों को अपने दरबार में नहीं आने दिया है।"

इसके ठीक विपरीत दिनचर्या पृथ्वीराज की थी। तराईन की विजय के पश्चात वह विलास में डूब गया। राजा विलासी है यह सोचकर प्रजा और सामन्त शत्रु की चढ़ाई से चिंतित थे। दिल्ली भर में कोलाहल मच गया। राजगुरू पृथ्वीराज के महल पर जाकर प्रजा के साथ पुकार की – "आपकी भूमि में (भूमि राजा की पत्नी होती है) गौरी अनुरक्त है और आप इधर गौरी (स्त्री) में अनुरक्त हैं।"
राजगुरू ने पृथ्वीराज की विलासिता देख पूर्व घोषणा कर दी थी "भम्मी आय नरिंद" अर्थात भूमि आय से विदा होती है

(5) 1191 ई० में तराईन के युद्ध में विजयी पृथ्वीराज अदान्ध हो गया उसे अपने समकालीन राजाओं से विरोध समाप्त कर आने वाले युद्ध के खतरों का मुकाबला करने में तैयारी आरम्भ करनी चाहिये थी। किन्तु पुराने वैर को शांत करना तो दूर रहा अपने नये शत्रु पैदा कर लिये। संयोगिता हरण यदि ऐतिहासिक सत्य है, तराईन के पहले युद्ध के पश्चात ही किया गया होगा। संयोगिता हरण की ऐतिहासिकता में यदि संदेह हो तब भी इतना निश्चित है तराईन के दो युद्धों के बीच के समय में चौहानों और गहड़वालों के बीच की खाई अधिक गहरी हो गयी। जम्मू के शासक विजयराज तथा गहड़वाल जयचन्द पर तो पृथ्वीराज के विरुद्ध गौरी की सहायता करने या उसे निमंत्रण देने अथवा उसके पास गुप्त सूचनाए भेजने तक के आरोप लगाए जाते हैं। पृथ्वीराज में यदि थोड़ी भी सूझ होती तो वह प्रथम तराईन युद्ध के पश्चात अपने निजी मतभेद समाप्त कर समकालीन राजपूत नरेशों की सद्भावना एवं सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करता।

(6) रणक्षेत्र में दक्ष कही जाने वाली चौहान सेना पराक्रमी और शौर्यवान भले ही रही हो रणनीति में अकुशल ही सिद्ध हुई तराईन की दूसरी मुठभेड के लिए मुहम्मद गौरी और पृथ्वीराज की सेनाएं कुछ समय तक आमने–सामने पड़ी रही। गौरी की इस सूचना पर कि उसके भाई से समाचार मिलने पर ही वह युद्ध करेगा या वापस लौट जाएगा, राजपूत निश्चिन्त हो गये। उसी रात जब राजपूत निश्चिंत थे गौरी ने आक्रमण किया। आक्रमण के समय स्वयं पृथ्वीराज गहरी नींद में था और अनेक राजपूत शौचादि जा रहे थे। युद्ध की आशंका तक उनके पास नहीं थी। रण क्षेत्र में पहुंचकर इतना बेखबर हो जाना, शत्रु के एक छोटे से छलावे में आ जाना, भयंकर भूल नहं तो और क्या कहा जा सकता है।

(7) तराईन के दूसरे युद्ध में मुहम्मद गौरी ने जिस कुशलता से सैन्य संचालन किया वह प्रशसनीय था। इतिहासकार हसन निजामी लिखता है कि सुल्तान ने अपनी सेना का मध्य और हाथी आदि कई मील पीछे छोड़कर घुड़सवार और कुछ पैदल सेना लेकर आगे बढ़ा। इस सेना के भी चार भाग कर दिये। जिससे वह शत्रु सेना के साथ चार जगह भिड़ सके और दाएं–बाएं, सामने और पीछे की ओर से दस–दस हजार धनुर्धर घुड़सवार युद्ध कर सके। युद्ध करते–करते जब अग्रिम सेना और राजपूत सेना भी थकने लगी तभी पीछे से सुरक्षित सेना का आक्रमण हुआ। अगली तुक सेना में पर्याप्त उत्साह से दुगने जोश में लड़ने लगी और थकी–हारी राजपूत सेना पस्ते होने लगी। राजपूत रणनीति में समझदार ही न था किन्तु इस युद्ध में तो उन्होंने किसी कुशल पद्धति का अनुसरण नहीं किया।

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त चौहानों की पराजय के उत्तरदायी कुछ अन्य कारणों का उल्लेख भी किया जा सकता है, जैसे अच्छे घोड़ों का अभाव हाथियों को आगे रखकर युद्ध करने की आत्मघाती विधि किसी धनुर्धर सेना का अभाव, दूत भेजकर शत्रु की दुर्बलताओं का पता लगाने का अभाव इत्यादि।

युद्ध का महत्व: भारतीय इतिहास में तराईन अथवा तरावड़ी के युद्ध का बहुत बड़ा महत्व है। इसके फलस्वरूप दिल्ली और अजमेर पर मुहम्मद गौरी का प्रभुत्व स्थापित हो गया और भारत में मुस्लिम राज्य स्थापित करने का द्वार खुल गया। कालान्तर में मुहम्मद गौरी के सेनापति कुतुबुद्दीं ऐबक ने दिल्ली में मुस्लिम राज्य की स्थापना की जो इतिहास में दिल्ली सल्तनत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पृथ्वीराज की इस पराजय से राजपूतों को ऐसी भयंकर क्षति पहुंची जिसकी पूर्ति वे फिर कभी न कर सके और उत्तरोत्तर अथवा उनका पतन होता गया। इसमें संदेह नहीं कि उनका मंद गौरव उनके पतन की अंधकारमय रजनी में पत्र तत्र जुगनू की भांति शताब्दियों तक प्रकाशित रहा किंतु उनके अतीत के गौरव का प्रचण्ड प्रकाश पुनः कभी देदिप्यमान न हुआ।

डॉ० वी.ए. स्मिथ ने इसके महत्व को बतलाते हुए लिखा है कि यह एक निर्णायक युद्ध था जिसमें मुसलमानों की अंतिम सफलता निश्चित हो गयी। डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "यह राजपूत शक्ति पर घातक आघात था। भारतीय समाज के सभी अंगों का नैतिक पतन इससे आरम्भ हो गया और राजपूतों में कोई ऐसा नहीं रह गया जो मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के लिए दूसरे राजाओं को अपने झण्डे के नीचे इकट्टा करता।"

डा० डी.सी. गांगुली ने इस युद्ध के परिणाम की ओर इंगित करते हुए लिखा है "तराईन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय से न केवल चाहमानों की सार्वभौम शक्ति का विध्वंस हो गया वरन् सम्पूर्ण भारत पर संकट आ खड़ा हुआ। राजकुमारों तथा जनता का नैतिक बल भंग हो गया और सम्पूर्ण देश पर आतंक छा गया। अधिकांश लोग शांतिमय जीवन व्यतीत करने के पक्ष में थे अपने परिवार के साथ दक्षिण की ओर पलायन कर गये।"

पृथ्वीराज के उत्तराधिकारी: पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन हुआ और सिंहासन किसे मिला? इस पर विद्वानों में मतभेद है। हमीर महाकाव्य तथा विरुद्धविधि विध्वंश के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरांत उसका भाई हरिराज सिंहासन पर बैठा किन्तु हसन निजामी के कथनानुसार मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र को अजमेर के सिंहासन पर बैठाया था। इन विरोधी मतों की स्थिति में यह अनुमान लगाया गया है कि मुहम्मद गौरी के चले जाने के उपरान्त हरिराज ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया किंतु मोहम्मद गौरी के सेनापति कुतबुद्दीन ने उसे परास्त कर दिया और पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर के सिंहासन पर बैठा दिया किंतु जब कुतबुद्दीन अजमेर से दिल्ली वापस चला गया तब हरिराज ने पृथ्वीराज के सेनापति स्कन्द की सहायता से अजमेर पर आक्रमण कर दिया और पृथ्वीराज के पुत्र को पदच्युत कर दिया और स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। जब कुतबुद्दीन को उसकी सूचना मिली तो हरिराज ने दण्डित करने के लिए उसने अजमेर पर आक्रमण कर दिया। हरिराज को जब आत्मरक्षा की कोई आशा न रही तो उसने अपने आपको सपरिवार अजमेर के दुर्ग के भीतर जलती हुई अग्नि के समर्पित कर दिया। अजमेर पर कुतबुद्दीन का प्रभुत्व स्थापित हो गया और लगभग 1194 में चाहमान वंश का दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

अध्याय-5

गहड़वाल वंश
The Gahadavalas

कन्नौज से प्रतीहार साम्राज्य की छिन्न–भिन्न होते ही समूचे मध्यप्रदेश में अराजकता हो गई। कलचुरियों, चन्देलों, परमारों और पंजाब के गजनबियों के निरन्तर आक्रमण बनारस, कन्नौज ओर प्रयाग पर होने लगे। इस प्रकार मध्यप्रदेश जब निरन्तर विध्वंसक आक्रमणों से आक्रान्त था, तब गहड़वाल कुल के चन्द्रदेव का उदय हुआ। उसने प्रजा के दुख का अन्त किया। गहड़वालों ने न केवल भयंकर अराजकता से उत्तर भारत की रक्षा की बल्कि लगभग सौ वर्षों तक उसे भारत की अग्रणी राज्य बनाए रखा।

गहड़वाल नाम क्यों पड़ा: प्रतीहार वंश के उन्मूलन के उपरान्त कन्नौज में जिस नये राजवंश का उदय हुआ उसका गहड़वाल नाम क्यों पड़ा इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। सी.वी. वैद्य ने यह धारणा व्यक्त की थी कि सम्भवतः इस वंश का नाम किसी स्थान विशेष से संबंधित होने के कारण गहड़वाल पड़ा। उनकी यह भी धारणा है कि गहड़ नामक स्थान दक्षिण भारत में कहीं स्थित था। डा० आर.सी. मजूमदार भी गहड़वालों का मूल स्थान 'गवभर्द' नामक स्थान को मानते हैं जो दक्षिण भारत में स्थित है तथा जिसका उल्लेख 1076 ई० के कन्नड़ भाषा के लेख में उपलब्ध है।

कई विद्वान सम्भवतः रामकर्ण आसीया आदि की इस धारणा से प्रभावित थे कि गहड़वालों का संबंध राष्ट्रकूटों से था सम्भवतः इसीलिए उन्होंने गहड़वालों का आदि स्थान की दक्षिण में मैसूर के इर्द–गिर्द ही कहीं ढूंढने का प्रयास किया। किन्तु अब जबकि रमाशंकर त्रिपाठी व रोमा नियोगी ने अनेक सबल प्रमाणों के आधार पर राष्ट्रकूट संबंधी धारणा को अमान्य प्रमाणित कर दिया है तब दक्षिण में गहड़वालों का आदि स्थान ढूंढना व्यर्थ का प्रयास ही कहा जाएगा। यदि इस धारणा को मानना आवश्यक ही हो कि गहड़वाल नामकरण इस वंश के आदि स्थान के नाम से संबंधित है तब हमें वह स्थान भी उत्तर प्रदेश में कांशी के निकट ही ढूंढना होगा। क्योंकि गहड़वालों के 63 लेख कांशी तथा उसके समीपस्थ स्थानों से ही प्राप्त हुए हैं।

गहड़वाल नामकरण के संबंध में एक अन्य अनुश्रुति का उल्लेख इतिहासकार क्रूक ने दिया है। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में स्थित कान्तित के शासक अपने को गहड़वाल बताते हैं। इस वंश के चारण भाटो के पास एक अनुश्रुति सुरक्षित है। इनके अनुसार ययाति के सबसे छोटे पुत्र के वंश में देवदास नामक एक शासक हुआ, जो बनारस का शासक था। देवदास के सद्गुण के क्रोधित हो शनि ने उसके मार्ग में बाधाएं उपस्थित करने का प्रयत्न किया। देवदास अडिग रहा। शनि पर विजय प्राप्त कर देवदास 'ग्रहवार' कहलाया। ग्रहवार का अर्थ है शनिनायक पापग्रह का विजेता। इसी 'ग्रहवार' उपाधि के कारण देवदास के वंशज गहरवार और कालांतर में गहड़वाल कहलाये।

क्रुक ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि गहड़वाल शब्द की उत्पत्ति 'गह्वर' या 'गिरिगह्वर' से हुई जो पुराणों के अनुसार गुफाओं में रहने वाली एक जाति थी।

रेउजी ने गहड़वाल या गहड़वाल को एक उपाधि माना है जो इस वंश के शासकों द्वारा धारण की गई 'बलवान' उपाधि के समान थी। वैसे गाहड़ या गाड़ का अर्थ बल होता है। अतः गहड़वाल का शाब्दिक अर्थ भी बलवान ही हुआ। परन्तु उनका दक्षिण भारत से आना किसी अभिलेख, साहित्य अथवा तवारीख से प्रकट नहीं होता है। अतः केवल नाम साम्य के आधार पर उन्हें दक्षिण से निर्गत नहीं कहा जा सकता। सी.वी. वैद्य का गहड़ केवल कल्पना प्रस्तुत है जिसका किसी अभिलेख अथवा भूगोल जिक्र नहीं है और आर.सी. मजूमदार द्वारा इंगित गवभर्द शब्द से गहड़वाल शब्द नहीं बन सकता। ग्रहवार से गहड़वाल शब्द की उत्पत्ति अज्ञान का का द्योतक है और गाड़वाल उपाधि का कोई साक्ष्य नहीं है। इन सबके रामकर्ण आसीया का यह मत ही समचीन लगता है कि गाहरवाल अथवा गाहड़वाल शब्द की उत्पत्ति 'गाधिपुर' शब्द से हुई है। प्राकृत में गाधिपुर का स्वरूप गाडिहर होता है और गाडिहर का अपभ्रंश गाहिर अथवा गाहर हुआ। भाषा के सम्बन्ध में सूचन करने के लिए 'वाला' प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे धनवाला, कांशीवाल, मथुरावाला आदि और वाला के स्थान में वाल भी बोला जाता है जैसे गयावाला। वैसेही गाधिपुर से संबंध रखने वाला वंश गाहरवाल अथवा गाहड़वाल कहलाया।

उत्पत्ति: सभी राजपूत राजवंशों के समान गहड़वालों की उत्पत्ति भी विद्वानों क मध्य विवाद का विषय है। रमाशंकर त्रिपाठी ने गहड़वालों की उत्पत्ति संबंधी समस्या को अन्य राजपूत राजवंशों की उत्पत्ति संबंधी समस्या से अधिक उलझा हुआ निकट

समस्या बताया है। गहड़वालों का उदय इतना आकस्मिक था तथा उनके इतिहास के साधन इतने कम हैं कि उनकी उत्पत्ति के संबंध में किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। अन्य समकालीन राजवंशों के इतिहास में भी गहड़वालों की उत्पत्ति निश्चित करने में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। स्वयं गहड़वाल लेखों में उन्होंने अपना सम्बन्ध अन्य राजवंशों की भांति सूर्य तथा चन्द्रमा से नहीं जोड़ा है बल्कि यशोविग्रह के वंशज बताए गए हैं। लेखों में यशोविग्रह के नाम के साथ विशेष उपाधियां भी नहीं लगायी गयी है। अतः ऐसा प्रतीत होता है वह एक साधारण व्यक्ति ही था। हार्नले ने गहड़वालों का संबंध बंगाल के पालों से जोड़ा है किंतु सी.वी. वैद्य तथा रामकरण असोया व विश्वेश्वर नाथ रेउ ने गहड़वालों को राष्ट्रकूटों की एक शाखा माना है। इस मान्यता के समर्थन में अग्रलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये हैं–

(1) अनुश्रुतियों का आधार पर मारवाड़ के राठौड़ सीहाजी के वंशज थे और सीहाजी कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पाते थे।

(2) उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में स्थित मान्डा–बीजपुर क शासक राठौड़ हैं और वे अपने को मानिकचन्द्र का वंशज मानते हैं। यह मानिकचन्द्र कन्नौज के राजा जयचन्द्र का भाई था।

(3) पृथ्वीराज रासो के रचियता चंदबरदाई ने 'जयचन्द्र' को कमधज उपाधि से विभूषित किया है। यही मारवाड़ के राष्ट्रकूट नरेशों की उपाधि थी।

(4) पृथ्वीराज रासो में जयचन्द्र कहीं कहीं राठौड़ (राष्ट्रकूट) कहा गया है।

(5) कल्हण द्वारा लिखित राजतरंगिणी में 36 राजवंशों के नाम उत्कीर्ण है किंतु उसमें गहड़वाल वंश का नाम सम्मिलित नहीं है।

(6) पृथ्वीराज रासो में 36 राजपूत वंशों की जो सूची उपलब्ध है उसमें राठौड़ों (राष्ट्रकूटों) को तो सम्मिलित किया गया है किंतु गहड़वालों को नहीं।

राजवंशों की सूची कल्हण तथा चन्दबरदाई ने गहड़वाल राजवंश का स्वतंत्र उल्लेख इसलिए नहीं किया है क्योंकि यह कोइ अलग वंश न होकर राष्ट्रकूट वंश की ही एक शाखा था।

(7) इस बात का प्रमाण उपलब्ध है कि संयुक्त प्रान्त में गहड़वालों के उत्कर्ष से पूर्व राष्ट्रकूटों की सत्ता स्थापित थी। त्रिलोचन पाल के 1157 ई० के सूरत दानपत्र से कन्नौज में राष्ट्रकूट की सत्ता होने का प्रमाण मिलता है।

(8) गहड़वालों के वंशज अपने को सूर्यवंशी कहते हैं और राष्ट्रकूट भी सूर्यवंशी ही थे।

(9) लखनपाल नामक राष्ट्रकूट शासक के बदायूं से प्राप्त अभिलेख में उसके चन्द्र नामक पूर्वज का उल्लेख है और चन्द्रदेव नामक व्यक्ति ने ही सर्वप्रथम कन्नौज पर गहड़वालों की सत्ता स्थापित की थी। रामकर्ण असोपा तथा विश्वेश्वरनाथ रेउ बदायूं अभिलेख के चन्द्र राष्ट्रकूट तथा गहड़वालों के आदि पूर्वज चन्द्र गहड़वाल को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

रोमा नियोगी तथा रमाकांत त्रिपाठी गहड़वालों को राष्ट्रकूट बताने हेतु दिये गये प्रमाणों से संतुष्ट नहीं है उनके अनुसार–

(1) स्वयं गहड़वालों के अनेक लेख उपलब्ध है किन्तु उनमें से एक में भी उन्होंने अपने आप को कमधज या राठौड़ या राष्ट्रकूट नहीं कहा है। मारवाड़ में हथूंडी के 997 ई० के लेख से यह स्पष्ट है कि मारवाड़ में राष्ट्रकूटों का प्रवेश गहड़वाल जयचन्द्र से बहुत पहले हो चुका था। गहड़वालों तथा राष्ट्रकूटों के लेखों से पता चलता है कि दोनों भिन्न गोत्रों के थे। गहड़वालों का गोत्र गौतम था जबकि राठौड़ों (राष्ट्रकूटों) ने अपने आपको कश्यप गोत्री कहा है। गहड़वाल गोविन्दचन्द्र की महारानी कुमारदेवी का एक अभिलेख सारनाथ से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में उसने अपने पति को गहड़वाल तथा राष्ट्रकूटों को दो अलग जातियों में उल्लेख कर यह निश्चित कर देता है कि दोनों भिन्न जातियां थी। गहड़वालों तथा राष्ट्रकूटों में आपस में शादी–ब्याह भी होते थे अतः दोनों का एक ही वंश का होना असम्भव है।

(2) भाण्डा बीजापुर राठौड़ शासक अपने को राष्ट्रकूट मानते हैं किंतु उनकी इस मान्यता की पुष्टि हेतु कोई प्रमाण नहीं है।

(3) पृथ्वीराज रासो सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना है अतः इसके उत्कीर्ण तथ्य जब तक अन्य सबल साधनों से पुष्ट न हो ऐतिहासिक नहीं माने जा सकते। रासो ने स्वयं पृथ्वीराज से संबंधित अनेक भयंकर भूले हैं अतः जयचन्द्र से संबंधित तथ्य होना आवश्यक नहीं।

(4) पृथ्वीराज रासो तथा राजतरंगिणी की 36 कुलों की सूची में गहड़वालों का उल्लेख न होने से उनके अलग अस्तित्व

को मिटाना उचित नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक इसे एक नकारात्मक तर्क के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कर्नल जेम्स टाड ने मोघजी नामक चारण की सहायत से राजवंशों की जो सूची प्राप्त की थी उसमें राष्ट्रकूट तथा गहड़वालों को दो पृथक राजवंश बताया है।

(5) रमाशंकर त्रिपाठी की मान्यता है कि गहड़वालों से पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कन्नौज में राष्ट्रकूटों का सत्ता स्थापित होना यह सिद्ध नहीं करता कि उनका गहड़वालों से कुछ संबंध था।

(6) रोमा नियोगी गहड़वालों को सूर्यवंशी मानने को तैयार नहीं हैं। जिस श्लोक के आधार पर माना जाता है वह श्लोक 62 गहड़वाल लेखों में उपलब्ध है। इनमें से 39 लेखों में वंश–जात तथा क्षमापाल के बीच मे विर्ग का प्रयोग नहीं किया गया है। बिना विसग्र के इस श्लोक का अर्थ होगा एक सूर्यवंश के विनपट होने के पश्चात गहड़वाल शासक बने। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि स्वयं गहड़वाल सूर्यवंशी थे। एक धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि गहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र के दान पत्रों से स्पष्ट अंकित है कि सूर्यवंश व चन्द्रवंश के नष्ट होने के बाद गहड़वालों ने सत्ता प्राप्त की।

गहड़वाल सत्ता के संस्थापक चन्द्रदेव के दान पत्र भी इसी धारणा की परिपुष्टि करते हैं। इन दान पत्रों में उल्लेख है कि देवापाल के वंशजों के विनाश के पश्चात क्षात्र वंश गहड़वाल ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) का प्राप्त किया। हम जानते हैं कि यह देवापाल कोई अन्य नहीं बल्कि प्रतीहार वंशी शासक देवपाल था और प्रतीहार अपने को सूर्यवंशी मानते थे। अतः स्पष्ट है कि जिस पाठान्तर के बल पर गहड़वालों को सूर्यवंशी मानने का प्रयास किया गया है वह त्रुटिपूर्ण है।

(7) तिथि क्रम संबंधी धारणाएं इस तथ्य के भी विरुद्ध हैं कि बदायूं अभिलेख का राष्ट्रकूट चन्द्र ही गहड़वाल चन्द्रदेव था। रमाशंकर त्रिपाठी उपलब्ध साम्रगी के तर्कयुक्त विश्लेषण के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दोनों चन्द्र नामक शासकों के बीच कम से कम पचास वर्ष का अंतर अवश्य ही था।

इस प्रकार गहड़वालों के नामकरण और उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न धारणाएं प्रचलित हैं। ऐसा दिखलाई देता है कि गहड़वाल भी अन्य समकालीन राजवंशों के समान क्षत्रिय थे। उन्होंने अपने लेखों में स्वयं का छात्र (क्षत्रिय) कहा है। प्राप्त 62 गहडवाल अभिलेखों में से 39 में वंश–जात और क्षमापाल के बीच विसर्ग नहीं है, और 20 लेख विसर्ग युक्त हैं और अन्यों के बारे में छापे उपलब्ध नहीं हैं। जो 20 लेख जिनमें उल्लिखित श्लोों में आशीत द्युति वंशजातः विसर्ग के कारण गहडवालों को सूर्यवंशी क्षत्रिय प्रमाणित करती है। अन्य समसामयिक क्षत्रिय राजवंशों से हुए उनके वैवाहिक संबंध भी इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। जिस वीरता से गहड़वाल सम्राटों ने आक्रमणकारियों से तीर्थों की रक्षा की, उससे भी यही सिद्ध होता है कि वे क्षात्रिय ही थ। गहड़वालों को क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण का बताने के लिए एक भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः अधिक सम्भावना यही है कि वे क्षत्रिय थे। अंत में उत्पत्ति संबंधी तर्क–वितर्क को दूर रखकर यह कहा जा सकता है कि क्षत्रियत्व की वास्तविक कसौटी तलवार थी और वह लगभग एक शताब्दी से भी अधिक समय तक गहडवालों के हाथों में मजबूती से पकड़ी हुई थी।

गहड़वाल वंश का प्रारम्भिक इतिहासः गहड़वाल लेखों में इस वंश के आदि पूर्वज का नाम यशोविग्रह मिलता है। उत्तर प्रदेश के चन्द्रावली नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि यशोविग्रह के क्षात्र वंश ने राजा देवपाल के नष्ट होने के पश्चात कान्यकुब्ज पर अधिकार स्थापित किया। जितने गहड़वाल क्षेत्रों में सका नाम उपलब्ध है उनमें से एक भी यशोविग्रह के नाम के साथ राजकीय उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है अतः स्पष्ट है कि वह कोई स्वतंत्र राजा नही थ। यशोविग्रह का काल ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है और उस समय कन्नौज तथा उसके आसपास के क्षेत्र पर सम्भवतः कलचुरि शासक लक्ष्मीकर्ण (लगभग 1042-1070 ई०) का राज्य था। यशोविग्रह सम्भवतः इसी कलचुरि शासक के अधिनस्थ शासक था। गहड़वाल लेखों में यशोविग्रह का उत्तराधिकारी महीचन्द्र बताया गया है। इसके नाम के साथ लेखों में नृप शब्द का प्रयोग बताता है कि वह भी कोई स्वतंत्र शासक नहीं था बल्कि अपने पिता यशोविग्रह के समान ही कलचुरि शासक लक्ष्मीकर्ण के अधिनस्थ था। एक गहड़वाल अभिलेख में कहा गया है कि उसकी कीर्ति समुद्र पार तक फैल गयी थी। उसकी यश कथा स्वतंत्र राजा के रूप में तो फैली नहीं होगी अतः उसने अवश्य ही कलचुरि लक्ष्मीकर्ण के साथ सामन्त के रूप में युद्धों में भाग लिया होगा। यह भी सम्भव है कि लक्ष्मीकर्ण के उत्तराधिकारी यशःकर्ण के साथ युद्धों में रहा हो। वह किस अर्थ में 'नृप' था निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु गहड़वालों के आरम्भिक अभिलेख काशी के आस्पास मिलने से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वह काशी का ही शासक रहा होगा।

चन्द्रदेव: चन्द्रदेव महीचन्द्र का पुत्र तथा उत्तराधिकारी का चन्द्रदेव का पहला अभिलेख 1089 ई० का है। अतः इसका शासन काल का आरम्भ 1089 के आसपास ही हुआ होगा। चन्द्रदेव गहड़वाल वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक था। लेखों में उसे परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम–महेश्वर कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि उसके कलचुरि प्रभुत्व समाप्त कर काशी में ही स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। लगभग सभी गहड़वाल लेखों में उसे 'अपनी भुजाओं से कान्यकुब्ज में अपने वंश की सत्ता स्थापित करने वाला' कहा गया है। चन्द्रदेव ने काशी से इन्द्रप्रस्थ के बीच के क्षेत्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। उसने वाराणसी, कान्यकुब्ज, अयोध्या व इन्द्रप्रस्थ के तीर्थ स्थनों की पवित्रता की रक्षा की। सम्भव है कि उसने पंजाब के गजनबियों के उत्तरप्रदेश पर होने वाले आक्रमणों को पस्त किया हो। उसके चन्द्रावली लेख से पता चलता है कि उसने नरपति, गजपति, गिरीपति और त्रिशकुपति का विजित किया। यह कौन से नृपति थे यह ठीक से नहीं कहा जा सकता किंतु नरपति और गजपति नामक उपाधियों का प्रयोग कलचुरि वंशों के शासकों के लिए किया जाता था, अतः चन्द्रावली लेख में उत्कीर्ण उसकी यह विजय उसके द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु कलचुरि शासकों से किये गये संघर्ष की ओर संकेत करती है। वह दानी शासक था। उसने अनेक बार 'तुलापुरूष महादान' किया था। वह देव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा वेद ध्वनि की रक्षा करने वाला शासक था उसके अंतिम लेख की तिथि 1104 ई० है और यही उसके उत्तराधिकारी मदनपाल की प्रथम तिथि है। अतः चन्द्रदेव ने 1089 ई० से 1104 ई० के बीच ही शासन किया।

मदनपाल: चन्द्रदेव का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मदनपाल बना जिसे कहीं–कहीं मदनचन्द्र भी कहा गया है। उसके उत्तराधिकारी गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी के सारनाथ से प्राप्त अभिलेख में उसे 'चण्डभूपालचूड़ामणि' (अर्थात राजाओं में श्रेष्ठ और प्रचण्ड) तथा सम्पूर्ण देश का एकछत्र अधिपति और इन्द्र से भी अधिक तेजस्वी बताया गया है। सम्भव है कि इन्द्र से अधिक तेजस्वी बताने का आशय यह रहा हो कि जिन देव मूर्तियों की रक्षा इन्द्र भी नहीं कर सका उन्हें मदनपाल ने तुर्क आक्रमणों से बचाया। एक समकालीन मुस्लिम इतिहासकार सुलेमान ने गजनी के शासक मलूद की हिन्दुस्तान पर चढ़ाई का उल्लेख करते समय लिखा है कि गजनी की सेना ने हिन्दुस्तान की राजधानी कन्नौज पर आक्रमण कर वहां के शासक मल्हीर को बन्दी बनाया। मल्हीर के पास अनेक योद्धा, बहुत सा धन, शस्त्र और अनेक हाथी थे। सुलेमान द्वारा वर्णित कन्नौज के इस शासक की पहचान लगभग सभी इतिहासकार मदनचन्द्र गहड़वाल से करते हैं। इसने कन्नौज में गजनवीयों को पराजित कर दिया। 'महाराज पुत्र गोविन्दचन्द्र ने अपने पिता के शासन काल में बंगाल के शासक रामपाल को परास्त किया।' मदनपाल या मदनचन्द्र ने 1104 ई० से 1113 ई० तक शासन किया। मदनचन्द्र के शासन में गहड़वाल साम्राज्य की चाहे वृद्धि न भी हुई हो तब भी इतना निश्चित है कि अपने पिता चन्द्रदेव से प्राप्त राज्य को ज्यों का त्यों बनाए रखा उसे अपनी यशस्वी पुत्र गोविन्दचन्द्र को सौंपने में वह समर्थ बना रहा।

गोविन्दचन्द्र: गोविन्दचन्द्र का शासन काल गहड़वाल शासन का चरमोत्कर्ष था। यह न केवल गहड़वाल सत्ता के विस्तार का युग ही था बल्कि मुस्लिम आक्रमणों से भी भारत की रक्षा चुड़ान्त साहित्यिक उन्नति का युग भी था। गोविन्दचन्द्र की गणना न केवल अपने वंश के सफलतम शासक के रूप में की जाती है वरन् उसे समस्त बारहवीं शताब्दी का सर्वाधिक पराक्रमी और महत्वपूर्ण नरेश भी माना जाता है।

गोविन्दचन्द्र के राज्यारोहण की निश्चित तिथि तो ज्ञात नहीं है किन्तु उसके पिता मदनपाल की अन्तिम तिथि 109 ई० है और स्वयं गोविन्दचन्द्र की शासक के रूप में प्रथम तिथि 1114 ई० है। इसलिए इतना तो निश्चित है कि उसका राज्याभिषेक इन दोनों तिथियों के बीच कभी हुआ था। शासक बनने से पूर्व अपने पिता के राजत्वकाल में ही गोविन्दचन्द्र ख्याति अर्जित कर चुका है। इस रूप में उसकी तुलना गुप्तवंशी शासक स्कन्दगुप्त के साथ की जा सकती है जिसने अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अन्तिम दिनों में राज्य का भार सम्भाला व हूण आक्रमणकारियों को पराजित किया। गोविन्दचन्द्र ने युवराज के रूप में अपने पिता के शत्रु पाल वंशीय शासक को पराजित किया और तुरूपक हमीर (अमीर–शासक) को पराजित किया। रहन अभिलेख में बताया गया है कि उस राजपुत्र (गोविन्दचन्द्र) ने दशरथ पुत्र राम के समान यश कमाया।

गोविन्दचन्द्र के इतिहास के साधनों का अभाव नहीं है। उसके दीर्घ शासन काल (1114 से 1154 ई०) के पचास से अधिक लेख उसके साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं। उसके महासांधिविग्रहिक (युद्ध व शान्तिमंत्री) लक्ष्मीधर द्वारा लिखित धर्मशास्त्र ग्रंथ 'कृत्याकल्पतरू' की राजप्रशस्ति इतिहास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। परन्तु जयचन्द्र द्वारा 1403 ई० में लिखित रम्भामंजरी नाटक जिसमें जयचन्द्र को नाटक का नायक मानकर दो सौ वर्ष बाद लिखा गया है। इतिहास के स्त्रोत के रूप में अधिक महत्व नहीं है।

गोविन्दचन्द्र के इतिहास के साधनों में उसकी राजनैतिक घटनाओं का जो ब्यौरा उपलब्ध है वह अध्ययन की सुविधा के लिए

निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है–

(1) पूर्वी भारत पर विजय (2) कलचूरियों से संघर्ष (3) चन्देलों के सम्बन्ध

(4) मालवा विजय (5) तुरूपक संघर्ष (6) राजनैतिक संबंध

पूर्वी भारत पर विजयः गोविन्दराज के दरबारी लक्ष्मीधर द्वारा रचित 'कृत्यकल्पतरू' और गहड़वाल अभिलेख निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि गोविन्द चन्द्र ने पूर्वी भारत पर भी विजय प्राप्त की थी। इस समय बंगाल और बिहार के पाल वंशी शासकों के निरन्तर आपसी युद्धों के कारण अव्यवस्था फैली हुई है। यद्यपि गोविन्दचन्द्र का विवाह गौड़ शासक रामपाल के मामा मंथनदेव की पौत्री कुमार देवी से हुआ था, किन्तु दोनों राजवंशों के मधुर संबंध स्थाई न रह सके। सम्भवतः गौड़ वंश की बिगडी दशा व स्वयं गोविन्दचन्द्र की बढ़ी–चढ़ी महत्वाकांक्षाओं ने उसे पूर्वी क्षेत्र पर विजय की प्रेरणा प्रदान की हो। इस प्रकार बंगाल और बिहार के अनेक क्षेत्र जीतकर वहां गहड़वाल सत्ता स्थापित की थी, इस तथ्य की पुष्टि हेतु निम्न साक्ष्य उपलब्ध है–

(क) गोविन्दचन्द्र के मंत्री लक्ष्मीधर द्वारा लिखित कृत्यकल्पतरू की राज प्रशस्ति में गौड़ विजय का उल्लेख किया गया है। गोविन्दचन्द्र को इसमें गौड़ों के गरजते हाथियों से उत्पन्न भय को रोकने वाला स्तम्भ कहा गया है। लक्ष्मीधर ने एक अन्य स्थान पर लिखा है– गोविन्दचन्द्र द्वारा हंसी खेल में डराने जाने पर गौड़ों को भय हो गया था।

(ख) बिहार के मगध के निकट क्षेत्र को गोविन्द चन्द्र ने जीता था इसका प्रमाण विक्रमी संवत 1183 अर्थात 1126 ई० का लेख है। इस लेख में जो पश्चिमी बिहार में मानेर नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है, बताया गया है कि गोविन्द चन्द्र ने गया जिले का पडली नामक गांव गणेशवर्मन नामक एक ब्राह्मण को दान में दिया था। यह दानाल्लेख निश्चित रूप से प्रकट करता है कि मगध सहित पश्चिमी बिहार गोविन्द चन्द्र के साम्राज्य में सम्मिलित था। यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि गोविन्दचन्द्र के पिता मदनपाल के समय यह पूर्वी प्रदेश गहड़वाल साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था और उसका राज्य केवल काशी से इन्द्रप्रथा तक विस्तृत था। अतः बिहार को गहड़वाल साम्राज्य में निश्चित रूप से गोविन्दचन्द्र के प्रताप से सम्मिलित किया गया था।

(ग) मगध से भी अधिक पूर्व की और गोविन्दचन्द्र की विजय का साक्ष्य वह लेख प्रस्तुत करता है जिसकी तिथि 1146 ई० है। यह लेख नाट नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। इसमें कहा गया है कि जब गोविन्दचन्द्र का शिविर मुदगगिरि (बिहार में मुंगेर नामक स्थान) में था तब गंगा स्नान के पश्चात अक्षय तृतीया के अवसर पर उसने ठक्कुर श्रीधर नामक किसी ब्राह्मण को पोटाचावड़ नामक एक गांव दान में दिया था।

(घ) रहन अभिलेख में गोविन्दचन्द्र के पराक्रम की प्रशंसा की गयी है और उसे गौड़ सेना को परास्त करने का श्रेय प्रदान किया गया है।

कलचूरियों से संघर्षः कलचुरियों तथा गहड़वालों में परम्परागत शत्रुता थी। सम्भवतः यशोविग्रह तथा महीचन्द्र नामक प्रथम दो गहड़वाल नरेश कलचुरियों के अधीन थे किंतु तीसरे गहड़वाल शासक चन्द्रदेव ने कलचुरियों से संघर्ष कर न केवल स्वतन्त्रता ही प्राप्त कर ली बल्कि कन्नौज की सत्ता भी सम्भवतः उससे छीन ली। परम पराक्रमी गोविन्दचन्द्र ने भी अपने वंशानुगत शत्रु कलचुरि शासकों से लोहा लिया, उसने कलचुरियों को परास्त कर यमुना के दक्षिण मंअदनी सत्ता स्थापित की। 1120 ई० के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि यमुना के दक्षिण में कलचुरि शासक यशःकर्ण द्वारा अपने गुरू रुद्रशिव को दान दिये गये एक गांव की गोविन्दचन्द्र ने ठक्कुर वशिष्ट नामक एक–दूसरे व्यक्ति को दान दिया था। इसी दान में गोविन्दचन्द्र ने अश्वपतिगजपति नरपति राजगयाधिपति उपाधि धारण की है। यह कलचुरि शासकों की उपाधि थी अतः निश्चित है कलचुरियों के विजेता होने के कारण ही गोविन्दचन्द्र ने यह उपाधि धारण की होगी। विक्रम संवत 1117 ई० के पूर्व के एक भी अभिलेख में इन उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है जबकि इस तिथि के पश्चात न केवल गोविन्दचन्द्र के सभी लेखों में इस उपाधि का प्रयोग है बल्कि उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस उपाधि को धारण किया था; इससे यह सिद्ध होता है कि 1120 ई० में गोविन्दचन्द्र ने कलचुरियों को पराजित किया था, साथ ही यह प्रकट होता है कि यह विजय अत्यंत ही महत्वपूर्ण थी, इस विजय के पश्चात ही इन्होंने अपने सिक्कों में गोविन्द चन्द्र के कलचुरि शासकों द्वारा निर्मित मुद्राओं का अनुशरण कर, अपने नाम से अनेक मुद्राएं भी ढलवाई।

चन्देलों से संघर्षः गोविन्दचन्द्र के चन्देलों से संघर्ष की सम्भावना रमाशंकर त्रिपाठी ने व्यक्त की है। सकलकीर्तन नामक चन्देल शासक के मउ से प्राप्त अभिलेख में उसके गोविन्दचन्द्र के साथ अन्तर्वेदी में लड़े गये युद्ध का संकेत है। अभिलेख इतना खण्डित अवस्था में उपलब्ध है कि उसे कोई विस्तृत सूचना नहीं मिलती। अतः इस युद्ध के परिणाम के बारे में निश्चित

रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किंतु गोविन्दचन्द्र के अन्य अभिलेखों को देखकर यह अनुमान लगाना उचित नहीं होगा कि उसने चन्देलों पर भी अपनी धाक जमाई होगी।

मालवा विजयः गहड़वाल शासक जयचन्द्र को नायक मानकर जयचन्द्र द्वारा लिखित 'रम्भामंजरी' नाटक में गोविन्दचन्द्र द्वारा दर्शाण या पूर्वी मालवा के जीतने का उल्लेख है। नाटक में यह कहा गया है कि जयचन्द्र के दादा गोविन्दचन्द्र द्वारा जिस दिन दर्शाण विजय किया गया उसी दिन जयचन्द्र का जन्म हुआ था। इस विजय के उपलक्ष्य में गोविन्दचन्द्र ने अपने पौत्र का नाम जयचन्द्र रखा था। रोमा नियोगी ने लिखा है कि इस समय मालवा में परमारों की स्थिति बिगड़ी हुई थी और ऐसी दशा में गहड़वालों द्वारा उस पर आक्रमण किये जाने की काफी संभावना थी। किंतु गहड़वाल इतिहास के किसी अन्य साधन द्वारा इस विजय की पुष्टि नहीं होती है। रम्भामंजरी नाटक स्तुतिपरक अधिक है और बहुत बाद के समय का है इसलिए गोविन्दचन्द्र की मालवा विजय संदिग्ध है।

तुरूपक संघर्षः इस काल में पश्चिम की ओर से उत्तर भारत पर तुरूपक आक्रमणों की मानो एक परम्परा सी चल रही थी। पंजाब के गजनवियों के अनेक आक्रमण गहड़वाल शासकों के समय भी हुए थे और सम्भवतः मदनपाल के समय उन्हें कुछ सफलता मिली थी। किन्तु गोविन्दचन्द्र न केवल इन आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोका ही बल्कि तुरूपकों पर विजय भी प्राप्त की। उसकी रानी कुमार देवी के सारनाथ लेख में कहा गया है कि मात्र वही (गोविन्दचन्द्र) वाराणसी और संसार की रक्षा करने में कुशल था। दुष्ट तुरूपक सिपाहियों से काशी को बचाने के लिए शंकर भगवान के कहने पर विष्णु ने यहां फिर अवतार लेकर गोविन्दचन्द्र का नाम ग्रहण किया।

महारानी कुमारदेवी के इस लेख के अतिरिक्त लक्ष्मीधर लिखित कृत्यकल्पतरू में भी गोविन्दचन्द्र की तुरूपक विजय का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि उसने युद्ध में तुरूपक नेता हमीर को परास्त किया था।

रहन दान पत्र में भी गोविन्दचन्द्र की तुरूपक सेनानी हमीर पर विजय का उल्लेख किया गया है। दान पत्र में युवराज के रूप में गोविन्दचन्द्र के पराक्रम का वर्णन है। उसमें कहा गया है कि महाराज पुत्र गोविन्दचन्द्र ने तुरूपक नेता हमीर को शत्रुता छोड़ने पर विवश किया।

बदायूं अभिलेख में भी तुरूपक विजय का वर्णन मौजूद है। इस लेख के अनुसार बदायूं के सामन्त शासक ने युद्ध में गोविन्दचन्द्र की सहायता की थी। लेख में कहा गया है कि उसके पराक्रम के कारण ही हमीर के गंगा तट पर आने की कथा फिर नहीं सुनाई दी'।

उपलब्ध साक्ष्यों के बल पर कहा जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र ने गहड़वाल सम्प्रदाय को तुरूपक आक्रमणों से बचाया और अपनी शक्ति से पश्चिमी सीमा को सुरक्षित रखा। वे तुरूपक आक्रमणकारी कौन से थे, जो गोविन्दचन्द्र के हाथों परास्त हुए थे, इसकी जानकारी उपर्युक्त गहड़वाल साधनों में नहीं मिलती। सम्भवतः हमीर व्यक्ति विशेष का नाम भी नहीं था यह केवल एक पद था जिसका समीकरण अमीर या सेनानायक से किया जाता है। रमाशंकर त्रिपाठी की मान्यता है कि गोविन्दचन्द्र से संबंधित तुरूपक आक्रमण गजनी के सुल्तान मसूद तृतीय (1098-1115 ई०) के शासन में हुआ। गजनवी सेना कन्नौज पहुंची और वहां के शासक मल्हीर को पराजित कर बन्दी बना लिया। इस मल्हीर की पहचान गोविन्दचन्द्र के पिता मदनपाल से की गयी है। तबकाते नासिरी नामक ग्रंथ में भी इस आक्रमण का उल्लेख है और इसमें मसूद तृतीय के कन्नौज पर आक्रमण करने वाले सेनापति का नाम हजीब तुगहातीगीन बताया गया है। त्रिपाठी की मान्यता है कि गोविन्दचन्द्र ने इसी हबीब तुगाहातीमिन को परास्त किया था। आरम्भ में तुरूपक सेनापति को कुछ सफलता मिली व उसने मदनपाल की बन्दी बना लिया किंतु महाराज पुत्र गोविन्दचन्द्र ने बदायूं के सामंत की सहायता से तुगहातीगीन को बुरी तरह से पराजित किया और मदनपाल को मुक्त करवाया। गोविन्दचन्द्र की इस विजय का उल्लेख रहन दानपत्र में है जिसमें कहा गया है कि उसने तुरूपक अमीर को बैर त्यागकर संधि करने के लिए विवश किया था। क्योंकि गहड़वालों का बदायूं स्थित सामन्त शासक भी तुगाहीतीगीन के विरुद्ध लड़े गये युद्ध गोविन्दचन्द्र के साथ था इसलिए बदायूं लेख में उसने लिखा– उसके पराक्रम के कारण ही अमीर के गंगा तट पर आने की कथा फिर नहीं सुनाई दी। सम्भवतः तुगाहीतीगीन की पराजय इतनी भीषण थी कि लम्बे समय तक तुरूपक पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं कर सके। इसी कारण महारानी कुमार देवी ने अपने पति गोविन्दचन्द्र की प्रशंसा सारनाथ लेख में इस प्रकार की एकमात्र वह ही वाराणसी और संसार की रक्षा करने में कुशल था। दुष्ट तुरूपक सिपाहियों से काशी की रक्षा हेतु शंकर भगवान के कहने पर विष्णु ने यहां फिर अवतार लेकर गोविन्दचन्द्र नाम ग्रहण किया। लक्ष्मीधात ने कृत्यकल्पतरू में जिस अमीर पर गोविन्दचन्द्र की विजय का वर्णन किया वह यही तुगहातीगीन रहा होगा।

एच.सी. रे की मान्यता है कि गोविन्दचन्द्र के शासन में परवर्ती यामिनियों द्वारा धावा किया गया था। इस आक्रमण का मुख्य भी इतिहास में कोई पता नहीं चलता।

मोतीचन्द्र इस आक्रमण का संबंध शेख सलार मसूद गाजी से जोड़ते हैं जिनके अब भी पूर्वी उत्तर प्रदश म लाग गाजी मिया के नाम से जानते हैं। मसूद सलार गाजी का मजार बहराईच में है। गाजी मियां शहीद माने जाते हैं और जेठ के महीने के पहले इतवार को उनका मेला लगता है। मोतीचन्द्र की मान्यता है कि सुल्तान बहराम बिन मसूद गजनवी (1118-1152 ई०) के शासन के आरम्भ में गजनी से एक सेना हिन्दुस्तान विजय के लिए आई थी। सालार मसूद इसी अभियान के सेनानायक थे। सालार मसूद ने 1118 ई० के आसपास गोविन्दचन्द्र के राज्य पर चढ़ाइ की। उसकी सेना बयाना जीतकर आगे बढ़ी और गोविनदचन्द्र की राजधानी बनारस के पास पहुंच गयी। गोविन्दचन्द्र ने इस सेना का डटकर मुकाबला किया और शायद सालार मसूद इस युद्ध में मारे गये।

यद्यपि इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र ने दो बार तुरूपक आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया होगा, एक बार युवराज के रूप में जिसका वर्णन रहन व बदायूं अभिलेख में मिलता है और दूसरा सम्राट के रूप में। जिसका उल्लेख कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख तथा लक्ष्मीधर लिखित कृत्यकल्पतरू में किया गया है। किंतु मोतीचन्द्र की मान्यता तो ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि–

(1) मसूद सालार गाजी को अनुश्रुतियां महमूद गजनवी का भांजा मानती है और महमूद की मृत्यु 1021 ई० में हो गयी थी। गोविन्दचन्द्र का शासन ही 1113 ई० में आरम्भ हुआ इसलिए दोनों के समकालीन होने की भी कोई सम्भावना नहीं है।

(2) मुगल सम्राट ने 'मीरात–ए–मासूदी' नामक ग्रंथ ने मसूद सालार गाजी के संबंध में जो तथ्य लिखे हैं माता चन्द्र ने उनकी पूर्ण अवहेलना की है। इसी लेखक मासूद सालार की मृत्यु हिजरी संवत 424 अर्थात 1085 ई० में बताई है।

(3) इतिहास में गाजी मियां को पराजित करने वाला शासक सहुदेव माना जाता है गोविन्दचन्द्र नहीं।

कूटनीतिज्ञ संबंधः गोविन्दचन्द्र एक सफल विजेता ही नहीं बल्कि एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। इस दृष्टि से उसकी तुलना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से की जा सकती है। उसने अपने समकालीन नरेशों से वैवाहिक तथा मैत्रीपूर्ण सबध स्थापित किये उसके अपने पड़ोस के लगभग सभी महत्वूपर्ण शासकों से उसके मैत्रीपूर्ण संबंध थे। वास्तव में इन बुद्धिमतापूर्ण राजनीतिक संबंधों से उसकी मान प्रतिष्ठा में तो वृद्धि हुई ही साथ ही ये संबंध उस साम्राज्य विस्तार में भी सहायक रह होंगे जिसने बंगाल के शासक रामपाल के मामा मंथनदेव की पौत्री कुमारदेवी से विवाह किया। इस विवाह से भले ही कुछ समय के लिए सही, दोनों राजवंश पाल व गहड़वाल में सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित हो गये। अपने साम्राज्य की पूर्वी सीमा के सुरक्षित हो जाने से उसे दक्षिण में कलचुरियों के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिए अवसर मिला होगा। अपने परम्परागत शत्रु कलचुरियों के एक सामन्त जाज्जलदेव को गोविन्दचन्द्र ने उनके विरुद्ध विद्रोह करने में सहायता की। इस सहायता के बल पर जाज्जल देव ने कलचुरियों से विद्रोह कर स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इससे कलचुरियों की शक्ति को आघात तो पहुंचा ही, साथ ही गोविन्दचन्द्र को कलचुरि राज्य पर आक्रमण के समय जाज्जल देव की सहायता मिली हो तो आश्चर्य नहीं।

चन्देल वंश से भी गोविन्दचन्द्र के मैत्रीपूर्ण संबंध थे। उसके समकालीन चन्देल शासक मदनवर्मन थे। मउ से प्राप्त अभिलेख से दोनों वंशों के अच्छे संबंध का पता चलता है। रोमा नियोगी का विचार है कि त्रिपुरी का कलचुरि वंश इन दोनों राजवंश का शत्रु था अतः दोनों में मैत्री होना स्वाभाविक ही था। नयचन्द्र लिखित 'रम्भामंजरी' में गोविन्दचन्द्र द्वारा पूर्वी मालवा विजय किये जाने का उल्लेख है। चन्देल राज्य गहड़वाल और मालवा के मध्य स्थित था अत चन्देल शासक की सहायता से ही मालवा विजय सम्पन्न हुई होगी। गोविन्दचन्द्र न केवल आस–पड़ोस के शासकों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किये हो ऐसा नहीं था, सुदूर दक्षिण के चोल वंशी शासकों से भी उस राजनयिक संबंध स्थापित किये थे। कुलोतुंग नामक चोल शासक के एक अभिलेख गंगईकीण्ड चोलपुरम नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। चोल शासक द्वारा उत्कीर्ण इस अभिलेख में यशोविग्रह से लेकर चन्द्रदेव तक गहड़वालों की वंशावली दी गयी है। यह चोल शासक गोविन्दचन्द्र का समकालीन था। एच.सी. रे ने लिखा है कि चोल शासकों की उत्तर की ओर विस्तार की महत्वकांक्षाओं ने उन्हें कलचुरि शासकों का शत्रु बना दिया। गहड़वाल कलचुरियों के परम्परागत शत्रु थे अतः शत्रु का शत्रु मित्र कहावत चरितार्थ हुई। सम्भवतः चोल अभिलेख में गहड़वालों की वंशावली किसी गहड़वाल राजकुमार की चोल साम्राज्य में सद्भावना यात्रा के समय उत्कीर्ण करवाई होगी। दोनों राजवंश की मैत्री का एक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध है। गोविन्दचन्द्र के विक्रमी संवत 1176 के एक अभिलेख में चोल देश के एक भिक्षु

तथा उत्कल देश के एक भिक्षु की प्रार्थना पर उसके द्वारा दान देने का वर्णन है। अतः चोल देश तथा उत्कल दोनों से ही गोविन्दचन्द्र के अच्छे संबंध रहे होंगे।

'राजतरंगिणी' से पता चलता है कि कश्मीर के शासक से भी गोविन्दचन्द्र के अच्छे संबंध थे। गोविन्दचन्द्र ने अपने दरबार के सुहल नामक एक विद्वान को कश्मीर भेजा था। कश्मीर के जयसिंह नामक शासक के अलंकार नामक एक मंत्री की आज्ञा से कश्मीरी विद्वानों और राज्याधिकारियों का जो सम्मेलन हुआ था उसी में भाग लेने हेतु सुहल को भेजा गया था। इस सांस्कृतिक आदान प्रदान से कश्मीर और काशी की मित्रता अवश्य बढ़ी होगी। गुजरात के चालुक्य शासक जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल से भी गोविन्दचन्द्र ने राजदूतों के माध्यम से अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये थे।

अपने अनेक समकालीन महत्वपूर्ण शासकों से मैत्री संबंध स्थापित किये थे। रोमा नियोगी ने उसके कूटनीतिक संबंधों की प्रशंसा करते हुए लिखा है– गोविन्दचन्द्र की सफलता का कारण उसके पड़ोसी राजवंशों से न्यायिक और कूटनीतिक संबंध थे।

कार्यों का मूल्यांकनः गोविन्दचन्द्र गहड़वाल वंश का सबसे अधिक प्रतापी तथा शक्तिशाली शासक था। उसके युद्ध अभियानों के आधार पर उसकी गणना सफल सेनापतियों तथा विजेताओं एवं साम्राज्य निर्माताओं में की जानी चाहिये। उसने अपने रण कौशल तथा युद्ध अभियानों से अपने पूर्वजों के साम्राज्य में बड़ी वृद्धि कर ली थी और उसकी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर ली थी। अपने युद्ध अभियानों में उसने सर्वत्र जयलक्ष्मी का ही आलिंगन किया।

वह एक महान विजेता के साथ–साथ बड़ा ही कुशल राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ भी था। अपने अनेक पड़ोसी राज्यों के साथ उसने मैत्रीपूर्ण तथा कूटनीतिज्ञ संबंध स्थापित किये जिनसे उसे यदा–कदा साम्राज्य विस्तार में सहायता मिली और अपने राज्य को सुरक्षित रखने में भी इस मैत्रीपूर्ण संबंध से बड़ा योगदान मिला।

गोविन्दचन्द्र एक वीर और महान विजेता होने के साथ–साथ सहित्यकारों का संरक्षक और स्वयं भी प्रकाण्ड विद्वान था। उसके लगभग सभी लेखों में उसे विविधविद्याविचार वाचस्पति बताया गया है। उसके महासंधीविग्रहिक लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरू नामक ग्रंथ की रचना की थी। कुमारदेवी द्वारा लिखवाए गये सारनाथ लेख का लेखक आठ भाषाओं का ज्ञाता था। गोविन्दचन्द्र ने अपने सुहल नामक एक विद्वान को कश्मीर में हुई विद्वत सभा में भाग लेने हेतु भेजा था। उसकी सभा में अन्य विद्वान भी थे। गोविन्दचन्द्र विद्वानों की उचित सलाह का आदर करता था। तभी तो उसके दरबारी विद्वान अच्छी सलाह से ही गोविन्दचन्द्र सत्यमार्ग पर चले और उन्होंने दूसरे राजाओं पर अपना सिक्का जमाया। अतः स्पष्ट है कि गोविन्दचन्द्र के दरबार में साहित्यकारों और विद्वानों को मान सम्मान मिलता था, उन्हें उच्च राजकीय पद दिये जाते थे स्वयं सम्राट उनसे विचार विमर्श कर उनके परामर्श को मानता था और उसके विद्वानों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने तथा सुदूर प्रांतों में विद्वत गोष्ठियों में भाग लेने के अवसर उपलब्ध थे।

गोविन्दचन्द्र में धार्मिक सहिष्णुता कूट–कूट कर भरी हुई थी। उसकी कुमारदेवी तथा बसंती देवी नामक दो रानियां बौद्ध थी और पटरानी गौसल्लदेवी वैष्णव थी। स्वयं सम्राट ने बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया था। उसकी रानी कुमार देवी ने एक बड़े विहार का निर्माण करवाया था।

गोविन्दचन्द्र महान विजेता, कुशल राजनीतिज्ञ एवं विद्यानुरागी के साथ–साथ एक योग्य शासक भी था। अपने 40 वर्षों के दीर्घकालीन शासन में उसने गहड़वाल वंश को चरमोन्नति पर पहुंचा दिया और उसकी गौरव गरिमा में अभिवृद्धि कर दी उसके अपने 37 लेख उपलब्ध हैं जिनमें उसके सम्राज्य की समृद्धता तथा वैभव का पता लग जाता है। उसकी सोने, चांदी तथा तांबे की बहुसंख्यक मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। इससे भी उसके साम्राज्य की समृद्धता का परिचय मिलता है। चूंकि अपने साम्राज्य को धन सम्पन्न बनाकर और उसमें शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित करके उसने अपनी प्रजा को सुखी तथा समृद्ध बना दिया था इसलिए उसकी गणना गहड़वाल वंश के महान सम्राटों में की जानी चाहिये।

विजयचन्द्रः गोविन्द्रचन्द्र की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र विजय चन्द्र उसका उत्तराधिकारी बना। सम्भवतः विजयचन्द्र को राज्य पर निर्विरोध अधिकार नहीं हो सका और उसे उत्तराधिकार का युद्ध लड़ना पड़ा। इस धारणा का आधार निम्न तथ्य हैं–

1. गोविन्द्रचन्द्र की अंतिम ज्ञात तिथि 1154 ई० है और विजयचन्द्र की प्रथम ज्ञात तिथि 1168 ई० है। बीच में तेरह वर्षों की लम्बी अवधि है। सामान्यतः गहड़वाल वंश के एक राजा की मृत्यु तिथि के तुरन्त पश्चात ही उसके उत्तराधिकारी के लेख मिल गये हैं। फिर गोविन्दचन्द्र की मृत्यु और विजयचन्द्र की प्रथम ज्ञात तिथि के बीच यह लम्बी अवधि क्यों?

2. गोविन्दचन्द्र के कुल तीन पुत्र थे युवराज आस्फोटचन्द्र देव, महाराज पुत्र राज्यपाल देव और गोविन्द चन्द्र [illegible] है गोविन्दचन्द्र की मृत्यु के बाद राज्य के लिए तीनों भाईयों में युद्ध हुआ हो।

अपने शासन काल में उसे अनेक युद्ध अभियान करने पड़े जिनका संक्षिप्त विवर इस प्रकार है–

गजनवियों से युद्धः इन दिनों पंजाब के कुछ भाग पर गजनवियों की सत्ता स्थापित हो गयी थी और लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर ये शासन कर रहे थे। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र ने संसार को व्यर्थ में पीड़ित करने वाले हमीर की स्त्रियों के नेत्रों से बहने वाली मेघधारा से संसार के ताप को धो दिया था। विद्वानों ने हमीर का समीकरण एक मुसलमान शासक के साथ किया है। जो सम्भवतः सुल्तान खुसरो शाह या खुसरो मलिक रहा होगा और जो लाहौर में शासन कर रहा था क्योंकि ये दोनों ही विजयचन्द्र के समकालीन थे। अभिलेख के काव्यात्मक वर्णन से [illegible] गया है कि विजयचन्द्र ने गजनवियों को परास्त कर दिया था।

सेन वंश के साथ संघर्षः जिस समय विजयचन्द्र पश्चिम में मुसलमानों से लोहा लेने में संलग्न थे उन्ही दिनों परिस्थितियों का लाभ उठाकर गौड़ के सेन वंशीय नरेश लक्ष्मण सेन ने उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग पर आक्रमण कर दिया था। इस युद्ध में लक्ष्मण सेन की विजय हुई और इस विजय के उपलक्ष्य में उसने प्रयाग और वाराणसी में अपने विजय स्तम्भ स्थापित किए। किन्तु इस विजय के उपरान्त क्या हुआ यह ठीक–ठाक ज्ञात नहीं है। कमोली अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि वाराणसी पर विजयचन्द्र का अधिकार था। बोधगया अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त वहाँ प्रान्त पर उसके पुत्र जयचन्द्र का अधिकार स्थापित था।

उपर्युक्त दोनों साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि या तो लक्ष्मणसेन अपनी विजय के उपरान्त वापस चला गया था या विजयचन्द्र ने उसे परास्त कर अपने खोए हुए प्रदेशों पर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस प्रकार पूर्व में अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाए रखने में विजयचन्द्र सफल रहा।

तोमर वंश का विद्रोहः तोमर वंश दिल्ली में विजयचन्द्र की अधीनता में शासन कर रहा था। पृथ्वीराज रासो से इस ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र ने तोमर नरेश अनंगपाल को परास्त किया था ऐसा प्रतीत होता है कि तोमर वंश ने विद्रोह करके अपने को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया था किन्तु विजयचन्द्र ने तोमर वंश को परास्त कर दिया था और दिल्ली में अपना प्रभुत्व बनाए रखने में सफल रहा।

दिल्ली पर चौहानों का अधिकार हो जानाः 1164 ई० के दिल्ली शिवालिक स्तम्भ लेख से यह ज्ञात होता है कि इस समय तक चौहान नरेश विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। 1170 ई० के बिजोलिया अभिलेख से भी यही सिद्ध होता है कि दिल्ली पर चौहान वंश के एक दसरे नरेश सोमेश्वर का अधिकार था। इन साक्ष्यों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चौहानों ने तोमन वंश को परास्त कर दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था इस प्रकार गहडवाल साम्राज्य का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण भाग जो विजयचन्द्र के अधीन था चौहानों के हाथ से चला गया। गहडवाल साम्राज्य की यह एक बहुत बडी क्षति थी।

दक्षिण पूर्व प्रदेश पर विजयः ताराचण्डी अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र ने दक्षिण पूर्व के प्रदेश पर विजय प्राप्त करके अपने साम्राज्य की सीमा को सोन नदी तक पहुंचा दिया था। इस भू–भाग में महानायक प्रताप धवल 1169 ई० में विजय चन्द्र की अधीनता में शासन कर रहा था। चूंकि इस प्रदेश पर विजयचन्द्र के पूर्व किसी गहडवाल नरेश का अधिपत्य न था अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम विजयचन्द्र ने ही इस पर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार विजयचन्द्र ने दिल्ली प्रदेश के अपने हाथ से निकल जाने की क्षतिपूर्ति दक्षिण पूर्वी प्रदेश पर विजय प्राप्त करके कर ली थी।

मूल्यांकनः विजयचन्द्र की गणना गहड़वाल वंश के प्रतापी तथा शक्तिशाली शासकों में की जाती है। वह अपने पूर्वजों के साम्राज्य को सुरक्षित तथा सुसंगठित बनाए रखने में सफल रहा। इसमें संदेह नहीं कि दिल्ली उसके हाथ से निकल गयी थी किन्तु इस क्षति की पूर्ति उसने दक्षिण पूर्व में युद्ध अभियान करके कर ली थी। अपने खोए हुए प्रदेशों को लक्ष्मणसेन से भी प्राप्त करने में वह सफल सिद्ध हुआ था। मुस्लिम आक्रमणों का भी वह सफलतापूर्वक सामना कर सका था। इसलिए उसे एक प्रतापी तथा शक्तिशाली सम्राट स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये।

विजयचन्द्र केवल एक प्रतापी तथा कुशल शासक ही नहीं था वरन् अपने पूर्वजों की भांति वह सहित्य प्रेमी तथा विद्यानुरागी भी प्रतीत होता है और सम्भवतः वह विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसने 'विविध विद्या विचार वाचस्पति' की उपाधि धारण की थी जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह उच्चकोटि का विद्यानुरागी कला प्रेमी तथा सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि सुविख्यात कवि उसका यशोगान किया करते थे जिससे इस मत की पुष्टि हो जाती है कि वह सिद्वानों तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता था।

जयचन्द्रः विजयचन्द्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र जयचन्द्र बना। जयचन्द्र नामकरण उसके दादा गोविन्दचन्द्र द्वारा मालवा विजय के उपलक्ष्य में किया गया था क्योकि जिस दिन उसके दादा ने मालवा जीता था उसी दिन जयचन्द्र का जन्म हुआ था। गहड़वाल लेखों से ज्ञात होता है कि 16 जून 1168 को ही विजयचनद्र ने अपने पुत्र जयचन्द्र को युवराज घोषित कर समस्त उपाधियां प्रदान कर दी थी। जयचन्द्र ने कयौली नामक स्थान से प्राप्त दान पत्र से ज्ञात होता है कि उसका राज्याभिषेक विक्रम संवत 1226 आसद माह की छठ (रविवार शजुन 1170 ई०) को हुआ था।

जयचन्द्र के इतिहास की घटनाओं की विस्तृत जानकारी अभिलेखों में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि उसके शासन काल के लगभग 18 लेख प्राप्त हुए हैं किन्तु उनमें केवल उसके द्वारा धारण की गयी विभिन्न उपाधियों तथा दानों का ही वर्णन उपलब्ध है। ये दान पत्र उसके राजनैतिक इतिहास के संबंध में पूर्णतया मौन हैं। अतः जयचन्द्र के इतिहास निर्माण में सहित्यिक साधनों से सहायता लेनी पड़ती है जो अधिकतर स्तुतिपरक और अतिश्योक्तिपूर्ण हैं।

यह निश्चित है कि जयचन्द्र अपने वंश का महत्वूपर्ण नरेश था और समकालीन राजाओं में उसकी सैनिक शक्ति की धाक थी समकालीन भारतीय साहित्य और मुसलमान इतिहाकारों द्वारा जयचन्द्र की सैनिक शक्ति की भुरि–भुरि प्रशंसा की गयी है। परवर्ती साहित्य में जयचन्द्र को 'दल–पुलुग' की उपाधि से विभूषित किया गया है। चन्दबरदाई ने जयचन्द्र की सेना की विशालता का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह सेना इतनी वृहतकार थी कि प्रमाण के समय जब इसका अग्रिम भाग प्रस्थान भी नहीं कर पाया था। 'सूरज प्रकाश' नामक ग्रंथ के अनुसार उसकी सेना में अस्सी हजार कवचधारी सैनिक, तीस हजार अश्वारोही, तीन लाख पैदल और दो लाख धनुर्धर थे। जिसके बल पर जयचन्द्र ने सात सौ योजन तक विजय प्राप्त कर ली थी। स्मरण रहे, एक योजन आठ मील के बराबर होता है।

चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, विद्यापति द्वारा लिखित 'पुरुषपरिक्षा' और जयचन्द्र ने 'रम्भामंजरी' में जयचन्द्र की यवन (तुरूपक) विजय का उल्लेख है। रासो के अनुसार उसने गौट के शासक को परास्त किया। पुरुषपरिक्षा में बताया गया है कि उसने यवनेश्वर शाहाबुद्दी (गौरी) को अनेक बार परास्त कर भागने पर विवश किया, रम्भामंजरी में उसे सभी यवनों का अंत करने वाला कहा गया है।

इस प्रकार का उतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन, जयचन्द्र की उत्तरी भारत विजय के संबंध में वर्णित है। इनके अनुसार जयचन्द्र ने उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त किया, आठ शासकों को बंदी बनाया, अनहित के जयसिंह सिद्धराज को दो बार युद्ध में परास्त किया और दक्षिण नर्मदा पार तक गहड़वाल साम्राज्य का विस्तार किया।

जयचन्द्र की सैनिक शक्ति यवन विजय, उत्तरी भारत विजय और चालुक्यों पर विजय संबंधी उपर्युक्त वर्णन स्तुतिपरक है और पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त विवरण के बल पर केवल इतना ही कहां जा सकता है कि जयचन्द्र एक महत्वपूर्ण शासक था वह एक विशाल सेना का स्वामी था और समकालीन शासक उसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

जयचन्द्र ने चन्देल वंशी शासक परमर्दि को पृथ्वीराज चौहान के विरूद्ध सहायता दी थी। चौहान और गहड़वाल दोनों वंशानुगत शत्रु थे। अतः परमर्दि के चौहान शासक के बीच युद्ध के समय जयचन्द्र द्वारा परमर्दि को सहायता देना सम्भव दिखलाई पड़ता है। चन्देल और गहड़वालों में परम्परागत मित्रता भी थी। जयचन्द्र के दादा गोविन्दचन्द्र और चन्देल शासक परमर्दि के दादा मदनवर्मन में सौहार्दपूर्ण संबंध थे लेकिन जयचन्द्र द्वारा दी गयी सहायता परमर्दि के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हुई क्योंकि उसे पृथ्वीराज के हाथों बुरी तरह परास्त होना पड़ा।

चौहान-गहड़वाल प्रतिद्वंद्वितः जयचन्द्र ने अपने समकालीन चौहान शासक पृथ्वीराज से संबंध तत्कालीन इतिहास का एक अत्यन्त विवादग्रस्त किन्तु रोचक विषय है। यह सर्वविदित है कि दोनों शासक प्रतिद्वंद्वी थे। जयचन्द्र के मन में पृथ्वीराज के प्रति जो विद्वेष था उसी ने उसे गौर द्वारा पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के समय, पृथ्वीराज की सहायता करने से रोका था। यह आपसी विरोध घातक सिद्ध हुआ और मुहम्मद गौरी ने चौहानों को पराजित कर गहड़वालों पर आक्रमण कर दिया। दोनों राजवंश नष्ट हो गये। पृथ्वीराज रासो का अनुशरण करते हुए दोनों शासकों की शत्रुता के निम्न कारण बताए गये हैं–

1. पृथ्वीराज की माता कमलादेवी और जयचन्द्र की माता सुन्दरी देवी दोनों बहने थीं और वे दिल्ली के तोमर वंश के संस्थापक अनंगपाल की पुत्रियां थी। यद्यपि सुन्दरी अनंगपाल की बड़ी पुत्री थी फिर भी तोमर शासक ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप दिल्ली चौहान राज्य का अंग बन गयी।

2. जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता के स्वयंवर के समय पृथ्वीराज को आमंत्रित नहीं किया गया था किंतु पृथ्वीराज ने संयोगिता को बलपूर्वक हरण कर लिया।

आलोचनाः उपरोक्त दोनों मान्यताओं का आधार चन्दबरदई रचित 'पृथ्वीराज रासो' है जो विश्वास करने योग्य नहीं है। इस ग्रंथ में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी था और वह त्रिपुरी के अचलराज की पुत्री थी। इसी प्रकार नयचन्द्र कृत रम्भामंजरी में जयचन्द्र की माता का नाम चन्द्रलेखा बताया गया है। अतः न तो जयचन्द्र की माता का नाम सुन्दरी था और न ही पृथ्वीराज की माता का नाम कमलादेवी। चौहान वंश के महानतम् शासक विग्रहराज चतुर्थ विसलदेव का दिल्ली अभिलेख इस बात का प्रमाण है कि उसने दिल्ली को तोमरों से अपने सैन्य बल से जीता था और विग्रहराज पृथ्वीराज का नाना था। स्पष्ट है कि जयचन्द्र और पृथ्वीराज की शत्रुता का यह कारण केवल रासो के लेखक की कल्पना से अधिक कुछ नहीं है।

पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता का हरण भी रासो में उल्लिखित है। अधिकांश इतिहासकार संयोगिता के अस्तित्व को भी चन्दबरदई की कल्पना से अधिक कुछ नहीं मानते। चौहानों और गहड़वालों के किसी भी समकालीन स्त्रोत में संयोगिता का नाम तक नहीं मिलता।

जयचन्द्र और पृथ्वीराज में शत्रुता तो थी ही क्योंकि पृथ्वीराज पर गौरी द्वारा आक्रमण किये जाने के समय जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की सहायता नहीं की किंतु स्वयं पृथ्वीराज द्वारा चन्देल परमर्दि पर किये गये आक्रमण के समय जयचन्द्र ने परमार्दि की सहायता अवश्यक की थी। प्रचलित अनुश्रुतियां भी दोनों शासकों को एक–दूसरे का शत्रु बताती हैं। वास्तव में इन दोनों नरेशों की शत्रुता का कारण था इनके वंशों का परम्परागत शत्रुभाव। विग्रहराज ने गहड़वालों के दिल्ली में स्थित तोमर सामन्त शासक को परास्त कर दिल्ली को चौहाने के अधीन कर दिया था। अतः दिल्ली पर अधिकार की इच्छा ही दोनों राजवंशों में शत्रुता का एक सबल कारण बन गयी।

पृथ्वीराज और जयचन्द्र दोनों की महत्वाकांक्षाओं ने ही दोनों को एक दूसरे का शत्रु बना दिया था। जिन कारणों से 1178 ई० में मुहम्मद गौरी के गुजरात के चालुक्यों पर आक्रमण के समय पृथ्वीराज को चालुक्यों का साथ देने से रोका था, ठीक इन्हीं कारणों ने गौरी के पृथ्वीराज पर आक्रमण के समय जयचन्द्र को पृथ्वीराज की सहायता से रोका। दोनों शासकों की इस अदुरदर्शिता के परिणा भी एक जैसे ही रहे। गौरी ने जिस प्रकार चालुक्यों के पश्चात चौहानों पर आक्रमण किया उसी प्रकार उसने चौहानों के पश्चात गहड़वालों पर भी आक्रमण किया। इस आपसी फूट से दोनों राजवंशों का सर्वनाश हुआ ही, साथ ही देश एक लम्बी अवधि के लिए दासता की बेड़ियों में बंध गया।

तुरूपकों से युद्धः तुरूपकों से युद्ध गहड़वाल शासकों की विरासत थी। जयचन्द्र ने भी तुरूपक आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोका। नयचन्द्र कृत रम्भामंजरी विद्यापति के 'पुरूषपरिक्षा' और चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो में जयचन्द्र को तुरूपक विजेता कहा गया है। इन साधनों के अनुसार तो उसने मोहम्मद गौरी को अनेक बार परास्त कर युद्ध क्षेत्र से भागने के लिए विवश किया था। साहित्यिक साधनों का कथन ज्यों का त्यों भले ही स्वीकार न किया जाए किंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जयचन्द्र ने पंजाब की ओर से होने वाले मुस्लिम आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोका। यह कोई भयंकर आक्रमण नहीं रहा होगा या सीमा स्थित कुछ तुरूपक चौकियों पर ही जयचन्द्र की विजय हुई होगी।

पृथ्वीराज चौहान पर मोहम्मद गौरी के आक्रमण के समय जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की कुछ सहायता नहीं की थी। पृथ्वीराज रासो के लेखक चन्दबरदई तो यहां तक लिखता है कि संयोगिता हरण के कारण जयचन्द्र और पृथ्वीराज में घोर शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी और इसी कारण जयचन्द्र ने मुहम्मद गौरी को चौहान सम्राट पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया था। आर. भण्डारकर तथा मोतीचन्द्र ने इस तथ्य को ठीक मानते हुए निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं–

1. तराईन में पृथ्वीराज के मौहम्मद गौरी के युद्ध के समय जयचन्द्र तटस्थ रहा। देश पर आए इस संकट के समय उसे पृथ्वीराज की सहायता करनी थी। विशेषकर जबकि उत्तरी भारत के अनेक राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया जयचन्द तटस्थ क्यों बना रहा।

2. मुसलमानों के प्रति जयचन्द्र की सहानुभूति का इशारा उसके लेखों में मिलता है, जिनमें तुरूपक युद्ध का उल्लेख

नहीं मिलता जो उनके मुसलमानों के प्रति सहानुभूति का द्योतक है।

3. संयोगिता का हरण कर चौहान शासक ने जयचन्द्र का जो अपमान किया था उसी का बदला लेने हेतु जयचन्द्र ने गौरी को निमंत्रण दिया था।

4. पृथ्वीराज की पराजय का समाचार सुन जयचन्द्र ने आनन्दोत्सव मनाया। जयचन्द्र प्रबंध में लिखा है कि पृथ्वीराज की मृत्यु से जयचन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और इस अवसर पर उसने नगर में उत्सव मनाने की आज्ञा दी और धूमधाम से उत्सव मनाया।

उपरोक्त तर्क ऐतिहासिक विश्लेषण करने पर खरे नहीं उतरते हैं क्योंकि–

1. यह ठीक है कि पृथ्वीराज पर गौरी के आक्रमण के समय जयचन्द्र तटस्थ रहा। किंतु क्या यह तटस्थता जयचन्द्र ने गौरी के आक्रमण के लिए निमंत्रण देने का कारण मानी जा सकती है। यदि ऐसा थ तब क्या 1178 ई० में गुजरात के चालुक्यों पर मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय पृथ्वीराज ने गौरी को चालुक्यों पर आक्रमण का संकेत दिया था क्योंकि उस समय पृथ्वीराज भी तटस्थ दर्शक ही बना रहा था। जिसने सुझाया कि चालुक्य और तुरूपक दोनों ही पृथ्वीराज के समान रूप से शत्रु थे। जयचन्द्र भी इसी प्रकार चौहानों और तुरूपकों को समान रूप से शत्रु मानता था। इसलिए वह तटस्थ बना रहा। यह ठीक है कि उसे चौहानों की सहायता करनी चाहिये थी और ऐसा न कर उसने न केवल गहड़वाल वंश का ही नाश कर दिया बल्कि देश को लम्बी अवधि के लिए परतंत्रता की बेड़ी से जकड़ दिया।

2. तुरूपक दण्ड नामक कर की व्याख्या विद्वानों द्वारा भिन्न प्रकार से की जाती है। अनेकों की मान्यता है कि यह तुरूपक आक्रमणकारियों को गहड़वाल राज्य पर आक्रमण न करने के लिए दिया जाता था। मोतीचन्द्र का कहना है कि यह जाजिया कर के ठीक विपरीत था और गहड़वाल साम्राज्य में निवास करने वाले तुरूपकों से लिया जाता था। उन्होंने लिखा है "यह कहना ठीक होगा कि वह कर मुसलमानों पर लगता था और जजिया का हिन्दू प्रत्युतर था।" क्योंकि जयचन्द्र के पूर्वजों के लेखों में तुरूपक दण्ड का उल्लेख है और स्वयं जायसवाल के लेखों में नहीं। जयचन्द्र की तुरूपकों से मित्रता थी इसलिए इसे हरा दिया था। इसलिए वह गौरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने का निमंत्रण भी दे सका था।

   वास्तव में जयचन्द्र के पूर्वजों के समय गहड़वाल साम्राज्य में निवास करने वाले तुरूपकों की संख्या कितनी होगी। वे वास्तव में गहड़वाल साम्राज्य में रहते थे अथवा नहीं। अब तक तुरूपक आधिपत्य केवल पंजाब तक सीमित था। अतः काशी और कन्नौज में, समस्त गहड़वाल साम्राज्य में भी बहुत अधिक मात्रा में तुरूपक नागरिक थे यह मान्यता अधिक उचित दिखाई नहीं पड़ती। इसके विपरीत यह धारणा अधिक ठीक लगती है कि जयचन्द्र के चन्द्रदेव आदि पूर्वजों के पास बहुत सेना नहीं थी अतः आक्रमणों से बचने के लिए वे तुरूपक दण्ड नामक कर देते रहे हों किंतु जयचन्द्र एक विशाल सेना का स्वामी था। उसे किसी आक्रमणकारी का भय नहीं था वह किसी भी आक्रमण को कुचलने में समर्थ था अतः उसे अपनी प्रजा से यह कर लेने की आवश्यकता भी नहीं थी।

3. संयोगिता हरण से अपमानित हो जयचन्द्र ने गौरी को नियंत्रण दिया था इस तर्क का आधार केवल पृथ्वीराज रासो है। रासो को अनेक विद्वानों ने 16वीं शताब्दी में रचित माना है। इसमें अंकित अधिकांश तथ्यों में सत्य का अभाव है और रासो के रचनाकार की अनेक कल्पनाओं की भांति स्वयं संयोगिता भी कल्पना की उपज ही है। अतः जयचन्द्र द्वारा संयोगिता हरण के कारण क्रुद्ध हो गौरी को निमंत्रण देना कल्पना के अतिरिक्त क्या हो सकता है।

4. जयचन्द्र प्रबन्ध के बल पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि जयचन्द्र ने गौरी की पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए उकसाया था। प्रबन्ध में पृथ्वीराज के हारने पर जयचन्द्र द्वारा मनाए गए उत्सव का विवरण अवश्य है किंतु एक तो स्वयं प्रबंध के सभी तथ्यों को ज्यों का त्यों इतिहास नहीं माना जा सकता, दूसरे स्वयं प्रबंध में बताया गया है कि उत्सव के समय जयचन्द्र का मंत्री उपस्थित होकर कहता है कि पृथ्वीराज की पराजय वास्तव में मातम मनाने का अवसर था, उत्सव का नहीं। जयचन्द्र द्वारा मंत्री के इस विचार का कारण पूछने पर मंत्री ने कहा कि एक दरवाजा है जिसके किवाड़ और व्योंडे लौहे के हैं। व्योंडे के टूट जाने पर किवाड़ जबरदस्ती खुलने को बाध्य हो जाते हैं, इसके बाद किले का क्या होगा? राजन पृथ्वीराज दरवाजे के व्योंडे के समान थे, और उनके पतन पर खुशियां मनाना ठीक नहीं है। आज पृथ्वीराज पर जो विपत्ति पड़ी है वह शायद कल आप पर भी आ सकती है। स्पष्ट है जयचन्द्र केवल चौहानों से वंशगत विरोध के कारण ही प्रशन्न था। यदि स्वयं उसी के निमंत्रण पर गौरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण

किया होता तो मंत्री जयचनद्र को यों समझाने का साहस न करता।

5. किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने जयचन्द्र द्वारा गौरी को निमंत्रण देने का उल्लेख नहीं किया है

6. पंजाब पर अधिकार स्थापित करने के पश्चात महत्वाकांक्षी गौर शासकों का भारत के भीतरी भागों पर आक्रमण स्वाभाविक था। भारत विजय की महत्वाकांक्षा से वशीभूत होकर ही उन्होंने आरम्भ से गुजरात पर आक्रमण किया था और असफल हो जाने पर दूसरा मार्ग पकड़ा जहां उनका चौहानों से संघर्ष हुआ। पृथ्वीराज को पराजित कर वे भारत के सबसे उपजाऊ क्षेत्र अन्तर्वेदी की ओर बढ़े जहां गहड़वालों का राज्य था। 1194 ई० में गहड़वाल जयचन्द्र पर भी गौरी का आक्रमण हो गया। अतः गौरी पृथ्वीराज पर आक्रमण का कारण जयचन्द्र द्वारा दिया गया निमन्त्रण नहीं बल्कि भारत विजय की महत्वाकांक्षा थी।

1129 ई० में तराईन के युद्ध में पृथ्वीराज को पराजित कर गौरी आगे बढ़ा, उसने शमना, अजमेर, हासी, दिल्ली और कहरम जीत लिए। अतः गहड़वाल राज्य पर आक्रमण अवश्यम्भावी हो गया। हसन निजामी नामक इतिहासकार ने 1194 ई० में इटावा के पास चंदावर नामक स्थान पर निर्णायक युद्ध होने से पूर्व गहड़वाल और गौरी की सेना में अनेक छोटी–छोटी मुठभेड़ हुई। फरिश्ता ने लिखा है कि चनदावर के निर्णायक युद्ध के समय कुतुबुद्दीन द्वारा चलाया गया एक बाण जयचन्द्र को लगा जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। जयचन्द्र की मृत्यु के पश्चात गहड़वाल सेना अधिक न ठहर सकी। विजयी गौरी की सेना असनी के किले की ओर बढ़ी जहां गहड़वाल राजाओं को कोष एकत्रित था।

हरिश्चन्द्रः जयचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र हरिश्चन्द्र सिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद गोरी ने चंदावर विजय के पश्चात कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित नहीं किया तथा लूटमार का सामान लेकर वापस चला गया और इस बीच हरिश्चन्द्र गहड़वाल वंश के संकीर्ण साम्राज्य का स्वामी बन गया। चूंकि जिस समय हरिश्चन्द्र सिंहासन पर बैठा था उस समय उसकी अवस्था केवल उन्नीस की थी अतएव उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह मुसलमानों के भीषण आक्रमणों का सामना कर सकेगा। यद्यपि यह ठीक–ठाक ज्ञात नहीं है कि हरिश्चन्द्र ने कितने दिनों तक शासन किया, किंतु इतना तो सत्य है कि उसके बाद गहड़वाल का दीपक बुझ गया और उसका अन्त हो गया

अध्याय-6

पल्लव वंश
The Pallavas

सुदूर दक्षिण के राज्यों में पल्लवों का इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस वंश का उदय लगभग 350 ई० में चोल देश के पूर्व समुद्र तट पर हुआ था। कांची अथवा कांजीवरम को अपनी राजधानी बनाकर इस राजवंश ने 700 वर्षों तक शासन किया।

उत्पत्तिः पल्लवों की उत्पत्ति की समस्या विद्वानों के अनुमानों के ऐसे जटिल जाल में उलझ गयी है कि उसका समाधान अभी तक नहीं हो सका है और यह समस्या मारीचिका मात्र बनी रही है। इस विषय के अन्तिम लेखक प्रो० राव भी यह मानने पर विवश हो गये कि "पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न अब भी अंधकार में छिपा हुआ है।" पल्लवों की उत्पत्ति के संबंध में जिन विभिन्न मतों का प्रतीपादन किया गया है इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है–

पार्थियनों अथवा पहलवों से उत्पत्तिः पल्लव और पहलव शब्द एकदम एकरूपी हैं और इसलिए बी.एल. राईस और वी. वेकैया, जैसे विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि पल्लव और पहलव वास्तव में एक ही थे। इस प्रकार कांची के पल्लव वंश को अन्त में ईरानी जाति समझना होगा। कहा गया है कि शकों के साथ ही सिंधु घाटी और पश्चिमी भारत में बस जाने के बाद पहलवों व पार्थियनों ने शतवाहनों के पतन काल के टोण्डमण्डलम पर अधिकार कर लिया। इस विचार के आलोचकों का कथन है कि पल्लवों के आलेखों में पहल्लवों का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं मिलता। शक जैसे विदेशी शासक अश्वमेध यज्ञ नहीं करते थे अतः पल्लव मात्र से पहलव लोग इस यज्ञ के प्रति आसक्त नहीं हो सकते थे। पल्लवों की राजधानी कांची के एक मन्दिर में पल्लव नरेश नन्दिवर्मन द्वितीय के सिंहासनारोहण की एक मूर्ति है जिसमें उसे पहलव नरेश डेमोट्रपस की भांति गजाशीश धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया है। परन्त ऐसे तर्कों से तो नागार्जुनाकुण्ड के इक्ष्वांकु वंश को सीथियन मानना होगा क्योंकि उस स्थान से प्राप्त मूर्तियों में एक सीथियन योद्धा भी है। जीवियों डब्रयुल के अनुसार रुद्रदमन का पहलव मंत्री सविसाख कांची के पल्लवों का पूर्वज था। पल्लव वंशी उत्तर से आए विथापित थे और उपर्युक्त शब्दों में वे दक्षिणा पथ के कोकण तथा अनर्त प्रदेशों कुन्तल और बनवास के मार्ग से दक्षिण भारत में आए।

परंतु आजकल यह सिद्धांत निर्मूल समझा जाता है क्योंकि पहलवों के उत्तर पश्चिम के अभियान करते हुए सुदूर दक्षिण की ओर जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरे पल्लवों तथा पहलवों के नाम की समानता के अतिरिक्त अन्य किसी का साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल नाम तथा एक विशिष्ट आयोजन के समय वंश की समानता के आधार पर वंश अथवा जाति का निश्चिय करना समचीन नहीं प्रतीत होता। तीसरे पल्लव नरेशों के अभिलेखों में कहीं पर पहलव शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार इस मत का खण्डन किया जाता है।

मिश्रित अनार्यों की संतानः पल्लवों की उत्पत्ति के संबंध में दूसरा सिद्धांत यह है कि वे वहीं के मूल निवासी थे और दक्षिण में निवास करने वाली करूम्भ, बलर, मखर आदि जातियों से संबंधित थे। इन सबको एक साथ संगठित कर पल्लवों ने एक राजनीतिक शक्ति की स्थापना की।

चोलों तथा नागों के सम्मिश्रण से उत्पत्तिः पल्लवों की उत्पत्ति के संबंध में तीसरा सिद्धांत यह प्रचलित है कि उनकी उत्पत्ति चोलों तथा नागों के सम्मिश्रण से हुई थी। इस मत के समर्थकों का कहना है कि लंका के चोल राजा किल्लवलवन का विवाह मनिपल्लवन के राजा की कन्या के साथ हुआ था। इन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम टोण्डेमन ईलान्तरन रखा गया। वही आगे चलकर टोण्डेमण्डलम का राजा हुआ और उसकी राजधानी कांची थी। चूंकि इसकी माता मनिपल्लवम की राजकुमारी थी अतएव इस वंश का नाम पल्लव पड़ गया।

उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पल्लव लोग चोलों तथा नागों के रक्त सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए थे।

ब्राह्मणों से उत्पत्तिः डा० के.पी. जायसवाल के विचारों में पल्लव न तो विदेशी थे न द्रविड़ जाति के वरन् ये उत्तरी भारत के उच्च कुल के ब्राह्मण थे। जिन्होंने क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर लिया था। वस्तुतः ये वाकाटकों की एक शाखा थे। इस मत के समर्थकों का कहना है कि चूंकि प्रारम्भिक पल्लवी के आज्ञा पात्र प्राकृत में निकलते थे और वे संस्कृत को प्रोत्साहन देते

थे। अतएव यह सम्भव है कि वे मूलतः उत्तरी भारत के निवासी थे। एक अनुश्रुति के अनुसार ये द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा से संबंधित बतलाए गये हैं जो ब्राह्मण थे किंतु इस प्रकार की अनुश्रुति में विश्वास करना समचीन नहीं प्रतीत होता।

क्षत्रियों से उत्पत्तिः तालगुण्ड अभिलेख से ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लव लोग क्षत्रिय थे। चूंकि यह अभिलेखीय प्रमाण है अतएव इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ब्राह्मण द्रविड़ मिश्रित संतानः श्री एच. कृष्णाशास्त्री का कहना है कि पल्लव उस जाति से उत्पन्न हुए थे जो ब्राह्मण तथा द्रविड़ों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई थी। कृष्ण शास्त्री जी की इस धारणा का आधार एक अनुश्रुति है जिसके अनुसार इस वंश का संस्थापक अश्वतायन नामक एक ब्राह्मण था जिसने एक नागकन्या से विवाह किया था। इनके स्कन्दशिष्य नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार पल्लव ब्राह्मण नाग जाति के प्रतीत होते हैं।

डा० कृष्णस्वामी आयंगर ने माना है कि "कांची के पल्लवों के लिए उनके समय के आलेखों में पहलव शब्द प्राप्त नहीं होता पहली बार जब इस शब्द को पल्लवों के लिए प्रयोग किया गया तो यह तमिल शब्द टोण्डयर और टोण्डयन का अनुवाद दिखाई देता है और इसकी पुष्टि कुछ ताम्र दान पत्रों से होती है जिनमें समानार्थक शब्द पल्लव के पक्ष में कुछ सुदृढ़ प्रमाण मिलते हैं यह निसंदेह इस शब्द का बाद के समय का प्रयोग है। किंतु इससे संकेत मिलता है कि उस समय की पारम्परिक विचार यही था कि वे पहलवों की तरह विदेशी नहीं थे। जितने भी प्रमाणों का निरीक्षण किया गया है इनमें इसका कोई संकेत नहीं है कि वे लोग या परिवार उत्तर पश्चिम से आए थे और बाद में राजवंश बन गये। इस प्रकार एक जनसमूह का दूसरे जनसमूह के साथ संबंध होना केवल एक संदिग्ध सम्भावना पर आधारित है जबकि एक दक्षिणी शब्द का संस्कृत में परिवर्तन या अनुवाद संभावना से अवश्य ही अधिक है। जैसा कि द्रविड़ या द्रमिड़ शब्द से ज्ञात होता है

प्रो० आर. सच्चनचेयर मानता है कि कांची के पल्लवों की उत्पत्ति की खोज विद्वानों ने ईरान से लंका तक की है किंतु उनके विचार में वे स्वयं टोण्ड मण्डलम से ही उत्पन्न हुए। यह प्रदेश अशोक का एक प्रान्त था। पुलिन्दवंश सम्भवतः टोण्डमण्डलम् के कुरुम्ब थे। टोण्डेचर वास्तव में पल्लव शब्द का तमिल अनुवाद है। सतवाहनों ने टोण्डमण्डलम पर अधिकार कर लिया और पल्लव वंशी सतवाहनों के सामंत बन गये। लगभग 225 ई० में सतवाहन साम्राज्य के पतन के पश्चात पल्लव वंश स्वतंत्र हो गया। शिवस्कन्द वर्मा पल्लव के मादियवोल और हिराड़गल्ली के प्राकृत ताम्रपत्र अनुदान से ज्ञात होता है कि पल्लवों का कांची से कृष्णा नदी तक विकास हुआ। उत्पत्ति की समस्या से संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों का पारस्परिक सामंजस्य बनाने के लिए कांची के पल्लवों की टोण्डमण्डलम् से उत्पत्ति का विचार ही सर्वश्रेष्ठ है।

पल्लव वंश का उदयः रालिन्सन का विचार है कि 325 ई० के लगभग पल्लव वंशी पूर्वी घाट पर कृष्णा और पेन्नार नदी के मुहानों के बीच के प्रदेश में उदित हुए। उन्होंने कुरुम्बों, भारवों, कल्लो और कुछ लुटेरों को अपने साथ मिला लिया और उन्हें शक्तिशाली और आक्रांत बना दिया। यह उल्लेखनीय है कि तमिल भाषा में 'पल्लव' शब्द का अर्थ दुष्ट या लुटेरा है। लगभग 350 ई० में पल्लवों ने अपने आपको पूर्वी घाट पर स्थापित कर लिया और कांची या काजीवरम नामक प्रसिद्ध नगर पर अधिकार कर लिया।

डा० वी.ए. स्मिथ, डा० डब्रुएल, बी.एस. राईस, वी० वैन्कैया आदि विद्वानों का मत है कि पल्लव विदेशी थे और सम्भवतः उत्तर–पश्चिमी भारत के पहलवों या पार्थियनों की शाख में से थे। डा० वी.ए. स्मिथ ने लिखा है कि "यह सम्भव है कि पल्लव कोई विशेष वर्ग न होकर वर्णशंकर थे। उनमें अंशतः विदेशी तथा अशंत दक्षिण भारतीय वर्ग तथा जातियां थीं। वे तमिल से भिन्न थी, उनका नाम एक विदेशी कबीले के नाम पर रखा गया था। उसने उन पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था तथा उन्हें आक्रमक राजनीतिक शक्ति बना दिया था।" यह बताया जाता है कि शिलालेखो और सिक्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा युग के आरम्भ में उत्तर पश्चिमी भारत में पार्थियनों का शासन था। इसके अलावा 80 ई० के आस-पास पार्थियन एक दूसरे को बाहर खदेड़ रहे थे और सिन्धु घाटी में फैले हुए थे। यह सम्भव है कि गौतम पुत्र शतकरणी के आक्रमण से पहले भी दक्षिण में प्रविष्ट हो गये। यह बताया जाता है कि गौतमी पुत्र ने उन्हें अपने अधीन कर लिया और शकों यवनों तथा पहलवों को मौत के घाट उतारा। रुद्रदमन प्रथम के जूनागढ शिलालेख में यह उल्लेख है कि अनर्त तथा सौराष्ट्र जैसे के प्रमुख पल्लव गवर्नर थे। गौतमी पुत्र से पराजित होकर वे दक्षिण की ओर जाने को विवश हो गये। उन्होंने पश्चिमी भारत में अपने लिए स्थान बनाया।

पल्लवों के विदेशी उद्‌गम की थ्योरी के आलोचक बताते हैं कि पल्लव और पहलव शब्द भाषा विज्ञान की रीति से समान हो सकते हैं किन्तु ऐतिहासिक रूप से उनसे विभिन्न जातियों का बौद्ध होता है। राजशेखर के भुवन कोष में पल्लव और पहलव शब्द अलग–अलग लिखे हैं। पल्लव दक्षिण भारतीय है और पहलवों को सिन्धु पार के क्षेत्रों से सम्बन्धित बताया गया है। डा० डी.सी. सरकार बताते हैं कि यदि पल्लव और पहलव एक ही जाति के होते तो पल्लवों के रिकार्डों में कहीं न कहीं पहलव भी लिखा होता। किंतु ऐसा नहीं है। यह विश्वास करना कठिन है कि पल्लव पहले विदेशी थे, वे इतने संक्षिप्त काल में हिन्दू धर्म से इतने प्रभावित हुए कि वे अश्वमेघ करने लगे। प्रारम्भिक पल्लव राजाओं ने ब्राह्मणों द्वारा बताए गये यज्ञ किये थे। अतः उनके विदेशी उद्‌गम की बात में तथ्य नहीं है। कांची तथा महाबलीपुरम की कुछ प्रस्तर प्रतिमाओं में पल्लव शासकों को अपने सिर पर हाथी की खाल के साथ दिखाया गया है। यह सम्भव है कि उन्होंने ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में कुछ यूनानी सिक्कों की नकल की हो। इस तथ्य से पल्लवों के विदेशी निकास के विषय में कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता। इसी तर्क के आधार पर नागार्जुन घोण्डा के इक्ष्वांकुओं को सीथियन बताया जा सकता है क्योंकि उस स्थान के एक पुराने स्मारक में एक सिथियन योद्धा मिला है। पल्लव लेख में बताया गया है कि पल्लवों का गोत्र भारद्वाज का और वे अश्वत्थामा के वंशज थे।

डा० एस.के. आयंगर पल्लवों को तमिल निकास का मानते हैं। यह पल्लवों की टोड़ीयार से तमिल साहित्य की समता पर बेल देता है। पल्लव राजाओं को अनेक स्थलों पर टोंडीमन या टोंडीयारकोन कहा गया है। पल्लवों के क्षेत्र को टुण्डक विषय या टुण्डव राष्ट्र बताया गया है। तमिल में टोडन का अर्थ दास होता है। यह उस स्थिति की ओर संकेत करता है जो पल्लवों ने सतवाहनों को दी हुई थी। सतवाहनों की पराजय के बाद पल्लव चोलों के एक बड़े क्षेत्र पर अधिकार करने में सफल हो गये और वह क्षेत्र टोंडाई मंडलम् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। पल्लवों के आरम्भिक शिलालेखों के समान ही है। यह भी बताया जाता है कि देश का यह भाग सतवाहनों ने पल्लवों से छीना। किंतु आलोचकों का मत है कि प्रारम्भिक पल्लवों ने अपने आदेश प्राकृत में दिये ओर उन्होंने तमिल साहित्य के स्थान पर संस्कृत साहित्य का संरक्षण किया।

कुछ लोगों के अनुसार पल्लवों का उद्‌गन तेलगु बताया जाता है। तेलगु परम्परा में सबसे पहले जिस राजा का उल्लेख है उसका नाम तेलगु पल्लव था। कहा जाता है कि उसने पहले चालुक्य राजा को हराया और मौत के घाट उतारा। महावंश में यह बताया जाता है पल्लव बोगा के अनेक भिक्षु दतगामिनी के पवित्रीकरण संस्कार में भाग लेने आए थे। कुछ विद्वान पल्लव बोगन को आंध्र में कालवंशी मानते हैं। सिंहविष्णु से पहले पल्लवों के शिक्षा लेख आंध्र देश में पाए जाते हैं। तेलगु देश कृष्णा नदी के दक्षिण का भाग ईसा की छठी शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों में भी पल्लव साम्राज्य का भाग था।

सी.वी. वैद्य का मत है कि पल्लव इसी आर्य शाखा के अंग थे जिसके अंग महाराष्ट्र के लोग हैं। पल्लवों ने कई शताब्दियों तक महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया और द्रविड़ भाषाओं के बीच में इसे कांची में बनाए रखा।

हरेकृष्ण शास्त्री का मत है कि पल्लव उसी वर्ग के थे जो ब्राह्मण और द्रविड़ों के मेल से उत्पन्न हुआ था। इस मत का आंशिक समर्थन रायकोट की ताम्र पट्टिका के इस अद्‌भुख से भी होता है कि जाति के जन्मदाता अश्वत्थामा ब्राह्मण ने नागकन्या से विवाह किया और उसने स्कन्दशिष्य नामक पुत्र को जन्म दिया। ताम्र लेख में यही कहानी है। स्कन्दशिष्य को पल्लव राजा बताया गया है उसी के नाम पर परिवार को पल्लव नाम मिला।

अतः यह लगभग सम्भव दिखाई देता है कि वनवासी के कर्टम वास, मैसूर के नीलम बस, औसवाड़ी के मत्स्य तथा ऐसे ही वंश ब्राह्मण–द्रविड़ जाति के मिश्रण से उत्पन्न वर्ण शंकर वंश थे। यही उनके उद्‌गम की कहानी में बताया गया है। मत है कि पल्लव ब्राह्मण क्षत्रिय जाति के थे। वे जन्म से ब्राह्मण तथा कर्म व धर्म से क्षत्रिय थे।

पल्लव शक्ति का विकासः पल्लव शक्ति के विकास को हम तीन भागों के विभक्त कर सकते हैं। अर्थात प्राकृत का काल, संस्कृत घोषणा पत्रों का काल तथा महान पल्लवों का काल। इन तीनों का अलग–अलग विवेचन इस प्रकार है।

प्राकृत का कालः जब तीसरी शताब्दी ई० में सतवाहनों की शक्ति छिन्न–भिन्न हो गयी उसी समय पल्लवों की शक्ति का विकास आरम्भ हुआ। कुछ विद्वानों के विचार में पल्लव प्रारम्भ में सतवाहनों के सामन्त थे और उन्हीं की अधीनता में शासन करते थे। सतवाहन साम्राज्य और पतन के समय जब अन्य सामन्तों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

बप्पादेवः ईसा की तीसरी शताब्दी के प्राकृत में लिखे हुए तीन ताम्रपत्रों से पता चलता है कि इस वंश का पहला राजा बप्पादेव जिसने जंगलों को नष्ट कर तथा सिंचाई की सुविधा करके इस प्रदेश को रहने योग्य बना दिया। बप्पादेव ने तेलगु आंध्रपथ तथा तमिल तोण्डमण्डलम पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। तेलगु आन्ध्रपथ का प्रधान नगर धान्यकर अर्थात् धरणीकोट था और तमिल टोण्डमण्डलम् की राजधानी कांची अर्थात् कांजीवरम थी।

शिवस्कन्दवर्मनः बप्पादेव के उपरान्त उसका पुत्र शिवस्कन्दवर्मन राजा बना। प्रारम्भिक पल्लव नरेशों में उसका नाम अग्रगण्य है। वह एक शक्तिशाली नरेश प्रतीत होता है। उसने धर्म महाराज की उपाधि धारण की थी। उसने अश्वमेघ तथा वाजपय यज्ञ भी किये थे जिससे यह आभाषित होता है कि वह एक विजयी तथा शक्तिशाली नरेश एवं ब्राह्मण धर्म का अनुयायी रहा होगा। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी तक और दक्षिण में अरब सागर तक विस्तृत था। उसका शासन काल 275 ई० के आसपास रखा गयाहै।

विष्णुगोपः शिवस्कन्धवर्मन के उपरान्त उल्लवों का बहुत दिनों का इतिहास अंधकारमय है। इस अंधकारमय युग के पश्चात सर्वपथम हमें समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में पल्लवों का उल्लेख मिलता है। इस प्रशस्ति के अनुसार जिस समय समुद्रगुप्त अपना दक्षिण विजय का अभियान चला रहा था उस समय कांची में पल्लव नरेश विष्णुगोप शासन कर रहा था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि विष्णुगोप को अपने आस–पड़ोस के नरेशों का संघ बनाकर समुद्रगुप्त का सामना करना पड़ा था किंतु अंत में वह पराजित हो गया था इस काल के पल्लवों के घोषण पत्र प्राकृत में प्रकाशित होते थे।

संस्कृत घोषणा पत्रों का कालः पल्लवों के विकास का दूसरा कल वह था जिसमें उनके घोषणा पत्र संस्कृत भाषा में निकाल जाते थे। इस काल के दानपत्रों से तत्कालीन राजनीतिक दशा पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतएव इस युग का पल्लव इतिहास अधंकारपूर्ण है। अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि प्राकृत तथा संस्कृत दान पत्रों के पल्लव दो भिन्न शाखाओं के थे अथवा एक ही शाखा के। संस्कृत दान पत्रों के काल के पल्लव राजाओं की राज्य सीमा तथा इस वंश के संस्थापक का भी ठीक–ठीक निश्चय नहीं हो पाया है। इस काल के राजाओं के संबंध में इतना निश्चय अवश्य है वरीकुर्च पहला राजा था जिसमें नागवंश की राजकुमारी के साथ विवाह करके अपने वंश के महत्व को बढ़ा दिया था। दान पत्रो में पल्लव वंश के एक अन्य सिंहवर्मन का नाम प्राप्त होता है। यह लगभग 434 ई० में सिंहासन पर बैठा था। यह बौद्ध धर्मावलम्बी था।

इस काल के पल्लवों को चोलों के साथ सम्भवतः निष्फल संघर्ष करना पड़ा और कांची उनके अधिकार से निकल गया। ऐसा अनुमान किया गया है कि पल्लवों को विवश होकर नेल्लोर जिले की ओर चला जाना पड़ा था। परंतु एक अभिलेख में ऐसा लगता है कि कुमार विष्णु के काल में पल्लवों ने कांची पर फिर अपना अधिकार जमा लिया था।

महान पल्लवों का कालः पल्लवों के विकास का तीसरा काल महान पल्लवों का काल कहलाता है। यह काल छठी शताब्दी के अंतिम भाग से आरम्भ होता है। इस वंश की स्थापना लगभग 575ई० में सिंहविष्णु ने की थी। सिंहविष्णु तथा उसके उत्तराधिकारी महान पल्लव कहलाये।

सिंहविष्णुः 575 ई० में सिंहविष्णु सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही वीर तथा प्रतापी सम्राट सिद्ध हुआ। अपनी क्रूरता और वीरता के अनुसार ही उसने अवनिसिंह की उपाधि धारण की थी। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसने अपनी विजय यात्राएं आरम्भ की। उसने दक्षिण की कलभ्र नामक शक्तिशाली जाति को परास्त किया और सम्पूर्ण चोल मण्डल को अपने अधिकार में करके अपनी राज्य सीमा को कावेरी नदी तक बढ़ा लिया। उसने पाण्डय तथा सिंहल नरेशों के साथ भी युद्ध किया। वह वैष्णव धर्मावलम्बी था तथा विष्णु का उपासक था।

सिंहविष्णु विद्यानुरागी भी था। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा 'किरातार्जुनीय' के लेखक भारवि ने उसकी राज्यसभा को अलंकृत किया था। सिंहविष्णु का शासन काल 575 ई० से 600 ई० तक माना जाता है।

महेन्द्रवर्मन प्रथमः सिंहविष्णु की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन राजसिंहासन पर बैठा। उसने लगभग 600 से 630 ई० तक शासन किया। महेन्द्रवर्मन बड़ा ही शक्तिशाली सम्राट सिद्ध हुआ। उसने मत विलास, विचित्रचित गुण भर आदि उपाधियां धारण की थी। जो उसके विभिन्न गुणों की द्योतक प्रतीत होती है।

उसके सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही वर्ष उपरान्त चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया और वेगी पर अपना अधिकार स्थापित कर अपने छोटे भाई को वहां का शासक नियुक्त कर दिया जिसके वंशजों ने वेगी

में स्वतंत्र चालुक्य राज्य की स्थापना की। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जब पुलकेशिन ने कांची पर भी अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया तब महेन्द्रवर्मन ने उसे परास्त कर खदेड़ दिया।

महेन्दवर्मन अपने शासन काल के आरम्भिक वर्षों में जैन धर्मावलम्बी था परन्तु बाद में अयर से प्रभावित होकर वह शैव हो गया था। इसके बाद उसने शैव मत के प्रचार तथा प्रोत्साहन का पूर्ण प्रयत्न किया। इसके बाद उसने शैव मत के प्रकार तथा प्रोत्साहन का पूर्ण प्रयत्न किया और जैनियों को अपने देश से बाहर निकालने में प्रमुख भाग लिया। इसके काल में बहुत से संत हुए जिनमें अय्यर तथा सामबन्दर प्रमुख थे। यद्यपि महेन्द्र स्वयं शैव था परंतु ब्राह्मण धर्म के अन्य सम्प्रदायों के साथ उसका उदारता तथा सहिष्णुता का व्यवहार था। उसने महेन्द्रबाड़ी में चट्टान काटकर एक विष्णु मंदिर का निर्माण करवाया था। दालवानूर में भी उसने चट्टान काटकर एक विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया था। इससे उसकी ख्याति बहुत बढ़ गयी थी।

महेन्द्रवर्मन साहित्यनुरागी भी था। वह स्वयं एक अच्छा लेखक तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता था। 'मतविलास प्रहसन' नामक ग्रंथ की उसने रचना की थी। इस ग्रंथ में कापालिक, पशुपति, शाक्य, भिक्षु, तथा अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। मतविलास, अवानभजिन, शत्रुमल्ल, गणभार आदि अन्य ग्रंथों का भी उल्लेख उसके अभिलेखों में मिलता है।

महेन्द्रवर्मन कला का भी बड़ा प्रेमी था दक्षिण के राजाओं में सबसे पहले उसी ने चट्टानें काट कर मन्दिर बनवाने की प्रथा चलाई थी। उसके एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने ब्रह्म, ईश्वर और विष्णु का ऐसा मन्दिर बनवाया था जिसमें ईंट, लकड़ी, धातु का प्रयोग नहीं किया गया था। उसका तात्पर्य यह है कि यह मन्दिर भी चट्टानों को काटकर बनाया गया होगा। उसके काल में संगीत कला की भी उन्नति हुई।

नरसिंहवर्मन प्रथम: महेन्द्रवर्मन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम सिंहासन पर बैठा। वह पल्लव वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। चालुक्य राजा पुलकेशीन द्वितीय ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया था और उसकी सेवाएं कांची के निकट पहुंच गई थी परंतु पल्लव राजा नरसिंह वर्मन ने बड़े धैर्य तथा वीरता के साथ शत्रुओं का सामना किया और न केवल चालुक्यों को अपने देश से निकाल बाहर किया वरन् अपने सेनापति की अध्यक्षता में एक विशाल सेना भेजकर चालुक्यों की राजधानी वातापी को घेर लिया। इस युद्ध में सम्भवतः पुलकेशीन द्वितीय की मृत्यु हो गयी।

नरसिंहवर्मन ने चोल तथा पाण्डय राज्यों पर भी आक्रमण किया तथा उन्हें परास्त कर दिया।

नरसिंहवर्मन ने सिंहलद्वीप पर भी दो बार आक्रमण किया था। यद्यपि पहले आक्रमण में उसे कोई सफलता नहीं प्राप्त हुई परंतु दूसरे में वह भानबम्ब को सिंहल के सिंहासन पर बैठाने में सफल हुआ जो सिंहासन का उत्तराधिकारी था और जिसने कांची में शरण ली थी। नरसिंह के पास एक प्रबल नौसेना थी और उसी की सहायता से उसने सिंहल द्वीप पर विजय प्राप्त कर ली थी। अपनी इन विजयों के उपलक्ष्य में उसने महामल की उपाधि धारण की थी।

नरसिंह वर्मन के राज्य में ही ह्वेनसांग ने पल्लव राज्य की यात्रा की। उसने इस राज्य का अत्यंत रोचक विवरण दिया है। उसके अनुसार कांची परिधि में लगभग छः मील थी। राज्य में एक सौ से अधिक बौद्ध विहार थे और उनमें 10000 से अधिक भिक्षु रहते थे। 80 के लगभग मन्दिर थे उनमें से अधिकांश जैनियों के थे। लोग विद्यानुरागी थे। राजधानी के निकट एक बहुत बड़ा विहार था और जहां देश के प्रकाण्ड विद्वानों की भेंट होती थी। यह सम्भवतः राज विहार था। पल्लव राज्य की परिधि लगभग 1000 मील थी। भूमि उपजाऊ थी और उस पर उत्तम खेती की जाती थी, पैदावार की अधिकता थी। ह्वुनसांग कहता है कि नालन्दा विश्वविद्यालय का धर्मपाल कांची का निवासी था।

नरसिंहवर्मन ने कांची के निकट एक बन्दरगाह वाला नगर बसाया जिसका नाम महामल्लपुरम (महाबलीपुरम) रखा। इस नगर में अनेक पत्थर के मन्दिर थ। सम्भवतः धर्मराजरथ सहित अधिकांश मन्दिर उसी ने बनवाए हुए हैं।

महेन्द्रवर्मन द्वितीय: नरसिंहवर्मन की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका शासन अल्पकाली था उसे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य ने पराजित किया था। 670 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

परमेश्वरवर्मन प्रथम: महेन्द्रवर्मन के उपरान्त परमेश्वरवर्मन शासक हुआ। उसके शासन काल में पल्लवों तथा चालुक्यों की प्राचीन शत्रुता फिर आरम्भ हुई। चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लव राज्य पर आक्रमण कर कांची पर अपना

अधिकार स्थापित कर लिया और कावेरी नदी तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन ने शीघ्र ही अपनी स्थिति सुधार ली और चालुक्यों के अपने देश से निकाल बाहर किया। परमेश्वरवर्मन शैव था और उसने अपने राज्य में बहुत से शैव मन्दिर बनवाए।

नरसिंहवर्मन द्वितीय: परमेश्वरवर्मन के पश्चात उसका पुत्र नरसिंह वर्मन द्वितीय राजा हुआ। उसने 695 से 722 ई० तक शासन किया। उसने 'राजसिंह' की उपाधि धारण की थी जिसके अनुसार उसके विद्यानुराग का पता लगता है। सम्भवत महाकवि दण्डिन उसके राजकवि थे। उसकी एक अन्य उपाधि शंकर भक्ति थी जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि वह शैव धर्मावलम्बी था। उसके शासन काल में देश में शांति रही और सुख तथा समृद्धि में अभिवृद्धि हुई। कैलाशनाथ के मन्दिर का निर्माण उसके शासन काल में हुआ था। उसने और कई मन्दिरों का निर्माण करवाया था। नरसिहवर्मन साहित्य प्रेमी तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता भी था।

परमेश्वरवर्मन द्वितीय: नरसिंहवर्मन द्वितीय के पश्चात उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने 722 ई० से 730 ई० तक शासन किया। उसके शासन काल में चालुक्य युवराज विक्रमादित्य द्वितीय ने गंग राजकुमार की सहायता से कांची पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में परमेश्वरवर्मन परास्त हो गया। परमेश्वरवर्मन द्वितीय ने अपनी इस पराजय का बदला लेने के लिए श्रीपुरूष पर आक्रमण कर दिया किन्तु वह इस युद्ध में भी परास्त हो गया और मार डाला गया।

परमेश्वरवर्मन द्वितीय भी अपने पूर्वजों की भांति निर्माधार्य में रूचि रखता था। उसने तिरूबाई में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह शिव का उपासक था।

नदिवर्मन द्वितीय: परमेश्वरवर्मन द्वितीय के कोई सन्तान न थी अतएव उसकी मृत्यु के उपरान्त सिंहासन के लिए भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया। अंत में सिंहविष्णु के भाई के वंशज हिरण्यवर्मन का पुत्र नन्दिवर्मन जो बड़ा लोकप्रिय था प्रजा द्वारा राजा चुना गया किन्तु पाण्डेय नरेश भारवर्मन नरसिंह प्रथम ने एक अन्य राजकुमार चित्रभाय का पक्ष लिया और नन्दिवरमन पर आक्रमण कर दिया। नन्दिवर्मन के सेनापति उदयचन्द्र ने विरोधी सबर तथा निषाद जातियों को परास्त किया।

नन्दिवर्मन के चालुक्य वंश से भी लोहा लेना पड़ा। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची पर आक्रमण करके इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह पल्लव राज्य के मन्दिरों और जनता को बहुत सा धन दान में देकर अपने राज्य को वापस चला गया। उसके लौट जाने पर नन्दिवर्मन ने पुन: कांची पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पल्लव चालुक्य संघर्ष का अंत यही न हुआ। अपने शासन काल के अन्तिम चरण में विक्रमादित्य ने अपने पुत्र कीर्तिवर्मन को पुन कांची पर आक्रमण करने के लिए भेजा, इस युद्ध में भी जयलक्ष्मी चालुक्यों को प्राप्त हुई और कीर्तिवर्मन बहुत से हाथी और लूट का सामान लेकर अपने राज्य को वापस चला गया।

यद्यपि नन्दिवर्मन को चालुक्यों के विरुद्ध असफलता का आलिंगन करना पड़ा किंतु गंगों के विरुद्ध उसे पूर्ण सफलता मिली। उसने गंग नरेश श्रीपुरुष पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और बहुत साधन लूटकर ले आया। नन्दिवर्मन ने पाण्डेय नरेश राजसिंह से भी युद्ध किया। उसने उस पर आक्रमण करने के लिए आसपास की जातियों का एक संघ बनाया किंतु राजसिंह ने उन्हें परास्त करके उनके राजसंघ को छिन्न–भिन्न कर दिया।

नन्दिवर्मन ने कुछ रचनात्मक कार्य भी किए थे। उसने कांची के प्रसिद्ध मन्दिर बैकुण्ठ पेरूमल का निर्माण करवाया था। कुछ अन्य मन्दिर भी उसके द्वारा निर्मित करवाए गए थे।

नन्दिवर्मन वैष्णव धर्मावलम्बी था और विष्णु का उपासक था। तिरूमंगई आलावर नामक प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य उसी के समय वेभूत थे। नन्दिवर्मन का शासन काल 730 ई० से 800 ई० तक निर्धारित किया गया है।

दन्तिवर्मन: नन्दिवर्मन के पश्चात दन्तिवर्मन राजा हुआ जो राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा से उत्पन्न हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है रेवा राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग की कन्या थी। इस संबंध के होते हुए राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने लगभग 804 ई० में कांची पर आक्रमण कर दिया और दन्तिवर्मन को परास्त कर दिया। दन्तिवर्मन का पाण्डल नरेशों से भी संघर्ष हुआ था। पाण्डेय नरेश वटगुण प्रथम तथा श्रीमार ने उस पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर दिया, दन्तिवर्मन ने लगभग 844 ई० तक शासन किया।

नन्दिवर्मन तृतीय: दन्तिवर्मन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नन्दिवर्मन तृतीय सिंहासन पर बैठा। उसने पाण्डय नरेश के विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया था जिसमें गंग, चोल और राष्ट्रकूट आदि सम्मिलित थे। इस संघ की सहायता से नन्दिवर्मन ने पाण्डेय नरेश को तेल्लरू के युद्ध में परास्त किया था। कुछ ही समय उपरान्त पाण्डय नरेश ने नन्दिवर्मन तथा उसके सहायकों को परास्त करके अपनी पराजय का बदला ले लिया।

नन्दिवर्मन के पास जहाजों का एक बेड़ा भी था जिसकी सहायता से उसने वृहत्तर भारत के साथ भी सम्बन्ध तथा सम्पर्क स्थापित किया था। श्याम के एक अभिलेख में नन्दिवर्मन का नाम उल्लिखित मिलता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्याम के साथ उसका संबंध था। नन्दिवर्मन की तिथि 844 ई० से 866 ई० तक निर्धारित की गई।

नृपतुंगवर्मन: नन्दिवर्मन तृतीय के उपरान्त उसका पुत्र नृपतुंगवर्मन राजा हुआ। उसने पाण्डय नरेश श्रीमार पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया था। उसने लगभग 866 ई० से 875 ई० तक शासन किया।

अपराजित: नृपतुंगवर्मन के उपरान्त अपराजित राजा हुआ। यह अन्तिम शकितशाली पल्लव सम्राट था, उसने गंग नरेश से मैत्री करके पाण्डय नरो को परास्त किया था। परन्तु चोल राजा आदित्य प्रथम ने अपराजित को परास्त करके उसके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस प्रकार लगभग 897 ई० में पल्लव वंश का अंत हो गया।

पल्लवकालीन प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन: पल्लवों की शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजा शासन का प्रधान होता था और महाराज तथा धर्माधिराज की उपाधि धारण करता था। राजा की सहायता के लिए एक मंत्रीपरिषद होती थी। इन मंत्रियों तथा परामर्शदाताओं के अतिरिक्त बहुत से अन्य अधिकारी भी होते थे जो सुशासन तथा सेना के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होते थे। उनके अभिलेखों में प्रांतों के अधिपतियों, राजकुमारों, सेनापतियों, जिलाधिकारियों, चुंगीघर के अधिकारियों, विभिन्न स्थान के मुखियों को आदेश दिये गये हैं।

प्रान्तीय शासन: पल्लवों का सम्पूर्ण राज्य प्रांतों में विभक्त था। यह प्रांत राष्ट्र या मण्डल कहलाते थे। प्रांतों का प्रबंध राजकुमारों या उच्च वर्ग के लोगों को सौंपा जाता था। मंडलों से छोटे विभाजन, कोट्टम, वालनाडु, तथा नाडु होते थे।

ग्राम्य शासन: शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होते थे। परवर्ती चोलों के काल में ग्राम समितियों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त होते थे। ग्रामसभा न्याय का कार्य करती थी और सामाजिक संस्थाओं की भी देखभाल करती थी। सिंचाई तथा भूमि की नाप का बहुत अच्छा प्रबंध था और राजा को गांवों से अठारह प्रकार के घर मिलते थे।

सैन्य संगठन: पल्लवों को निरन्तर अपने पड़ोसी राज्यों के साथ संघर्ष करना पड़ता था और पाण्डयों तथा चोलों के आक्रमण की उन्हें सदैव आशंका बनी रहती थी, अत: उन्होंने एक विशाल सेना का गठन किया था। उनकी सेना का अध्यक्ष सेनापति कहलाता था। सेनापति के अधीन एक उच्च सैन्य अधिकारी होता था जो नायक कहलाता था। युवराज भी सैन्य संचालन किया करता था और युद्धों में राजा की सहायता किया करता था। जहाजी बेड़ा भी पल्लव सेना का एक अंग था जिसकी सहायता से पल्लव नरेश समुद्र पार भी जाकर वृहत्तर भारत की स्थापना करते थे।

पल्लव राज्य की विशेषताएं

साहित्य: पल्लवों का राज्य कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। इस अवधि में साहित्य का बहुत विकास हुआ। पल्लव राजा विद्वानों के महान संरक्षक थे। दण्डी नरसिंहवर्मा द्वितीय का राजकवि था। आरम्भ में कुछ अभिलेखों को छोड़कर पल्लवों के सभी अभिलेखन संस्कृत में लिखे गये। दक्षिण कांची में संस्कृत ज्ञान का केन्द्र था। ब्राह्मणों ने संस्कृत के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया। कालिदास भारवि और वरामिहिर की कृतियां देश भर में सर्वविदित थीं। कांची के निकट कुर्रम में एक मंडप में 'महाभारत' की कथा का प्रबन्ध किया गया। उस स्थान पर 108 परिवार केवल वेदों के अध्ययन में तल्लीन थे। तमिल भाषा की उत्कृष्ट कृतियों को भी राज–संरक्षण दिया गया। त्रियापल्लुवर का 'तमिल कुराल' विद्वत्तापूर्ण पुस्तक थी। नरसिंह वर्मा पल्लव के पिता महेन्द्रवर्मा ने सामाजिक नाटक 'मत्तविलास प्रहसन' की रचना की।

धर्म: आठवीं शताब्दी में भारत पर छा जाने वाले महान धार्मिक सुधारों का जन्म पल्लव राज्य में ही हुआ। तमिलों के वैष्णव तथा शैव साहित्य का विकास मुख्यता इसी युग में हुआ। दक्षिण में धर्म पर छाए हुए प्रतीत होने वाले वैष्णव और सन्त पल्लव

काल में ही हुए प्रतीत होते हैं। अन्तिम शैव संत सन्दरमूर्ति पल्लव राज्य के अंतिम वर्षों में हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों का अधिकार धीरे–धीरे क्षीण होता गया। पल्लव स्वयं धर्मनिष्ठ हिन्दू थे। साधारणतः वे विष्णु क अनुयायी थ किन्तु कभी कभी वे शिव के भक्त होते थे। उन्होंने ही आठवीं शताब्दी में होने वाले आर्थिक आन्चोत की नींव रखी। पल्लव युग में दक्षिण के आर्यकरण सम्पूर्ण हुआ। पल्लवों के अनुदानों से ज्ञात होता है कि छती शताब्दी के अंत तक दक्षिण में आर्य संस्कृति ने अपना स्थान पक्का कर लिया था। पल्लव राज्य में धर्मसूत्र अधिकारी ग्रंथ समझे जाते थे। काची विश्वविद्यालय ने इस संबंध में पर्याप्त योग दिया होगा। दक्षिण में कांची शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था। "न्याय भाष्य" का लेखक वात्स्यायन कांची का पंडित था। दिडन्नाग ने सम्भवतः अपनी शिक्षा कांची से प्राप्त की थी। कहा गया है कि कदम्बवशी मदूरवमा उच्च शिक्षा के लिए कांची गया। कांची से ही दक्षिण का और सुदूर पूर्व में भारतीय उपनिवेशों का संस्कृतिकरण आरम्भ हुआ

पल्लव महान समुद्री शक्ति थे, समुद्री यात्राएं मुख्यतः वृहतर भारत, मलाया, और इण्डोनिशिया में भारतीय राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने के लिए की जाती थीं

कला और वास्तुकलाः ग्रुस (Grousset) का मत है "काफी प्राचीन काल से उन्होंने अपनी पृथक वास्तुकला का विकास किया जो उस समय दक्षिण की सभी शैलियों का आधार थी और हेनसांग की यात्रा के समय उसकी राजधानी मालवीपुरम उन सराहनीय कलाकृतियों से भरी जाने लगी जिन्होंने इसे भारतीय कला का एक मुख्य केन्द्र बना दिया। सारे तट पर फैले हुए मन्दिर जो चाय और मलाया द्वीप समूह के बनाए हुए मन्दिरों का मुकाबला करते हैं। जानवरों की आकृति मे काटी कई चट्टानें जिनमें प्रत्यक्ष और सशक्त स्वाभाविकता है। पत्थरों, चित्रों के रूप में काटी गई पूरी की पूरी पहाड़ियां विशाल चित्र जो उस समय सारे भारत में क्रम, गति और काव्यात्मक मूल्य की दृष्टि से अनुपम थे। प्रो० पर्सीब्राउन का मत है दक्षिण भारत के इतिहास का निर्माण करने वाली सभी महान शक्तियों में से किसी का अपने शासन काल की वास्तुकला पर इतना प्रभाव नहीं है जितना पल्लवी का था। उनके निर्माण कार्य ही द्रविड़ शैली के आधार बने।"

पल्लवों की भवन निर्माण कला को दो भागों में बांटा जा सकता है, चट्टान काटकर बनाए तथा निर्मित। चट्टानों मंदिरों को पुनः दो श्रेणियों में रखा जा सकता है– खुदे हुए स्तम्भों से युक्त मण्डप तथा एक ही पत्थर से काटकर बनाया गया रथ नामक पवित्र स्थान।

महेन्द्रवर्मन प्रथम ने महाबलीपुरम की भव्यता एवं सम्मान की आधारशिला रखी, उसने ठोस चट्टानों में से पत्थर के मंदिर खुदवाने की तकनीक आरम्भ की। ऐसा करके उसने इसे दक्षिण भारतीय वास्तुकला तथा मूर्ति निर्माण का जन्म स्थान बना दिया। महेन्द्रवर्मन द्वारा काटकर बनाए गए स्थल सादा खम्बों से युक्त हाल है जिन्हें या तो पिदली दीवार या पिछली दीवार से काटकर बनाया गया है।

श्री के.आर. श्रीनिवासन ने (1) मन्दाग पट्टु का लक्षितामन (2) पल्लवर्म का पंच पाण्डव (3) यमंदौर का रुद्र लल्लेश्वर (4) कुरंगनिलमट्टन का काल मण्डयम (5) वालम का वसन्तेश्वर (6) महेन्द्रवाड़ी का महेन्द्र विष्णु ग्रह (7) यमदौर का विष्णु (8) त्रिचलापल्ली का ललितांकुट पल्लेश्वर गृह (9) दबलनपुर का शत्रुमल्लेश्वर तथा (10) सिया मंगलम का अवनिभजन पल्लेश्वर ग्रह के मण्डपों को महेन्द्रवर्मन की देन माना है।

मण्डय की महत्वपूर्ण विशेषता अपरभुजाकार स्तम्भों की पंक्ति है। उनकी दीवार गिरी सादी और भारी है कई जगह नग्न उर्ध्वाकार लम्बी धार बनी है। मूर्ति निर्माण के बारे में द्वारपालकों का उल्लेख किया जा सकता है।

नरसिंहवर्मन प्रथम ने पत्थर काटकर नये तथा अधिक सुशोभित मन्दिर बनाने तथा कटे पत्थर से पवित्र वस्तु बनाने की श्रृंखला शुरू की। उसने पर्याप्त बड़े आकार की प्रस्तर मूर्तियां भी बनवाई। महाबलिपुरम में 10 मण्डप हैं जिनमें से सबसे प्रमुख वराह त्रिमूर्ति, महिषशुरमर्दिनी और पंच पाण्डव हैं। इन मण्डपों में अधिकांश 25 फुट चौड़े 15 से 20 फुट ऊंचे और 2.5 फुट गहरे हैं। स्तम्भ 9 फुट ऊंचे हैं और उनका व्यास 1-2 फुट है। गृह वर्गाकार है और 5-10 फुट चौड़े हैं। मन्दिर के बाहरी भाग की विशेषता खम्बों का होना है। वे महेन्द्रवर्मन द्वारा स्थापित स्तम्भों की अपेक्षा अधिक सजावटयुक्त कोमल और उच्च हैं। पर्सी ब्राउन का मत है "मस्तक पर डण्डे की चोटी पर कलश, टाडी कुम्भ, पदम और फलक चढ़ हुए हैं। कुछ स्थल पर फलक नहीं हैं। स्तम्भों के आधारों पर प्रायः घूमते हुए व्याल तथा सिंह हैं। सभी पूजाग्रह सुन्दर व्यवस्थित मण्डप हैं। प्रत्येक आगमन के भाग में विमान के सभी अंग हैं। अधिष्ठान, स्तम्भ या कुड्या स्तम्भ ऐसे हैं जैसे सांचे मे ढालकर बनाए गए हों। सभी अंगों के नाते, मस्तक, कपोटा सहित प्रस्तर और कुडु मेहराब हैं। मण्डपों के आन्तरिक भाग में अधिक सजावट देखने को नहीं

देती। पूजाग्रह की छत पर प्रस्तर हैं। महिषासुर मण्डप में बहुत सुन्दर चौखटे हैं। एक में भगवान विष्णु शेषनाग पर सोते हुए दिखाए गए हैं। यह अत्यधिक सादा और प्रभावोत्पादक है। दुर्गा या देवी का महिषासुर से युद्ध भी प्रशंसनीय तथा उल्लेखनीय है।

नरसिंह वर्मन ने पत्थरों के वास्तविक पूजाग्रह या रथ या सप्त पागौड़ा खुदवाए। उनकी संख्या आठ है। किन्तु उनमें से प्रमुख वे पांच हैं जो पहाड़ी चट्टान के दक्षिण में स्थित हैं। इनके नाम द्रौपदी, अर्जुन, भीम, धर्मराज और सहदेव हैं। अन्य तीन चट्टान के उत्तर और पश्चिम में स्थित है इनके नाम गणेश पिंडारी और वलायन कुट्टी है। दक्षिण समूह के पहले चार रथ बडी चट्टान से काटकर बनाये गये हें। वे सभी वर्गाकार हैं। उनकी योजना लम्बी तथा ऊंचाई में शंकु आकृति है। वे विभिन्न आकारों के हैं। सबसे बड़ा 42 फुट लम्बा और सबसे ऊंचा 40 फुट ऊंचा है। उनमें सबसे बड़ा और सबसे अधिक पूर्ण धर्मरथ है। उसमें पल्लव मन्दिर की प्रमुख विशेषताएं सम्बद्ध है। बाहरी छज्जे में स्तम्भ है, उनमें उच्छृंखल सिंह है। उनकी चोटियां शंकु आकृति की हैं और छज्जे कंगूरेदार हैं। भीम, गणेश और सहदेव रथ योजना में आयताकार हैं तथा चैत्य दाल की वास्तुकला पर आधारित है। वे दो या तीन मंजिल ऊंचे हैं, वे कठरे के जैसी छत से घिरे हैं। उनके सिरों पर चैत्य शिखर है। कठरे जैसी छत से युक्त इस कई मंजिल वाले निर्माण में हमें महान द्रविड़ जो पुरयो का आरम्भ दिखाई देता है जो लगभग छः शताब्दियों के बाद विकसित हुए।

'अर्जुन तपस्या' या 'गंगावतरण' कई बातों में उल्लेखनीय है। पानी से घिसे हुए दो चिकने गोल पत्थरोंके बीच में दरार है जो नदी का प्रतिनिधित्व करती है। नदी में बहुत से नाग और नागिनें हैं। इन चित्र के बारे में एच. हैरस ने लिखा है 'धारा के मध्य में दो नाग प्रसन्नता से पानी में खेल रहे हैं एक ब्राह्मण अपने कंधे पर पानी का घड़ा उठाए घर वापस जा रहा है, वहां एक हिरण अपनी प्यास बुझाने धारा पर आया है, ऊपर दो हंस इस आकृति में बैठे हैं कि जैसे वे पानी में कूदने वाले हों। नीचे एक पूजा ग्रह के चारों ओर बहुत से तपस्वी तपस्या कर रहे हैं। नदी के दूसरे किनारे पर एक बिल्ली उन तपस्वियों की नकल करती प्रतीत होती है। वह अपने सारे शरीर को अपनी पिछली टागों पर उठा लेती है और अपने आगे के पंजों को अपने सिर पर उठाए हुए है। इसी बीच में जंगल का छोटा सा चुहा अपने शत्रु को इस प्रकार तपस्या करता हुआ हानि पहुंचाने वाली आकृति में देखकर इधर–उधर निडरता से दौड़ता है और ऐसा मालूम होता है वह उसकी अपने देवता के नाते पूजा करने का साहस करता है।" ग्राउजेट का मत है "हमारे सामने यह विशाल चित्र है जो पलास्तर सूखने से पहले दीवारों पर बनाया गया है। यह आकृति पुरातन कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें सभी प्राणियों को प्राणदायी जल के पास एक ही स्थल पर लाकर रख दिया गया है। यह प्रकृति के सतत प्यार तथा गहराई को व्यक्त करता है।"

नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह ने मन्दिरों में पत्थर की जगह ईटों और लकड़ी का प्रयोग किया। इस काल के छः मन्दिर हैं किन्तु उनमें से प्रमुख कांची के कैलाशनाथ तथा बैकुण्ठ पैरूमल मंदिर तथा महाबलीपुरम का शोर मन्दिर है। पल्लव मन्दिरों में कैलाशनाथ मन्दिर सबसे बड़ा है। इसकी मुख्य विशेषताएं शंकु मीनार, चपटी छत और खम्भोंवाला हाल, ओसारा तथा दीवारों पर सिंह स्तम्भ है। पर्सी ब्राउन का मत है कि मंदिरों का अनुपात अधिक उचित है। इसकी बनावट स्थिर तथा संगीतमय हैं उसकी बाह्य आकृति भव्य है। बैकुण्ठ पैरमल मन्दिर कैलाशनाथ मन्दिर से कुछ बड़ा हे तथा पल्लव मन्दिर कला का सबसे अच्छा उदाहरण है। पवित्र वेदी लगभग 90 फुट चौड़ी है। इसका अग्रभाग 28 फुट आगे को पूर्व की ओर है जिसके ऊपर 12½ फुट लम्बा छज्जा है। इसका विभिन्न वर्गाकार है और जमीन से 30 फुट ऊंचा है। यह चार मंजिल का है। प्रत्येक बाह्य भाग में एक द्वार है। केन्द्र में गृह है तथा परिक्रमा के लिए इनमें से दो के ऊपर छाया हुआ बरामदा है। शोर मन्दिर की निर्माण कला धर्मराज रथ के सिद्धांत से मिलती है। इस मन्दिर के ग्रह पूर्व की ओर है ताकि पूजाग्रह सूर्य की प्रथम किरण से आलोकित हो सके तथा जहाजों में बन्दरगाह पर आने वालों को स्पष्ट दिखाइे दे सके। मुख्य पूजा स्थल के पश्चिमी भाग में दो अन्य पूजा स्थल हैं। एक पूजा स्थल में एक छोटा विमान है। उड़ते हुए विमान का ढांचा सूक्ष्म, भव्य तथा कलात्मक है तथा प्रारम्भिक बौद्ध विहारों के नमूने में सुधरा है।

कांची के मुक्तेश्वर तथा मतुगेंश्वर मन्दिर ओगडिम का वेदाम अल्लेश्वर मन्दिर तिरुट्टनी का विराट नेश्वर मन्दिर पल्लवों के उस काल के हैं जब उनकी शक्ति का पतन हो रहा था। ये मंदिर पूर्ववर्ती मन्दिरों की नकल मात्र हैं तथा किसी भी रूप में उल्लेखनीय नहीं हैं। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि पल्लवों ने मंदिर निर्माण प्रथा का आरम्भ किया। महाबलीपुरम के रथ तथा शोर मन्दिर भारतीय वास्तुकला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में से है।

पल्लव शिल्पकला का विभिन्न शैलियों से नियमित विकास हुआ। महेन्द्र शैली 600 से 625 ई० तक प्रचलित रही। महेन्द्रवर्मा प्रथम के गुफा मन्दिर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने इस शैली को संभवतः कृष्णा जिले से लाकर प्रचलित किया। मामल

शैली लगभग 625 ई० से 674 ई० तक प्रचलित रही। गुफा मंदिरों का मुख्य कलात्मक कार्य, 'गगावतरण' और [illegible] पांच रथ, सम्भवत: इसी युग में बनाए गए थे। त्रिमूर्ति, वाराह, दुर्गा और पांच पाण्डव इस समय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मंदिर थे। वाराह मंदिर में कई ऊर्ध्वांकित चित्र हैं जिसमें वाराहवतार, सूर्य, दुर्गा, गज, लक्ष्मी आदि को प्रस्तुत किया गया है। पांच रथ समुद्र–तट र ग्रेनाइट की चट्टान में से कटे हुए एक पत्थर के बने हुए हैं। वे सब सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध [illegible] एक ही शैली के हैं। उन्हें पांच पाण्डवों के नामों से पुकारा जाता है। वे शिव मंदिर प्रतीत होते हैं। द्रोपदी रथ एक छोटा सा वर्गाकार मन्दिर है। अर्जुन रथ एक साधारण द्रविड़ मन्दिर है। धर्मराज, भीम और सहदव रथों की शुण्डाकार छते [illegible] तीन–तीन मंजिलें हैं और उनमें चैत्य खिड़की हैं। उनकी सुन्दरता और लालित्य के अतिरिक्त ये स्मारक बौद्ध मन्दिर तथा विशाल द्रविड़ मन्दिरों के बीच विशाल रोचक कड़ियां हैं। गंगावतरण का दृश्य पल्लव कला की एक अद्वितीय कृति है और सामान्यत: एक अत्यन्त विशिष्ट रचना है। इनमें गंगा को देवताओं, जानवरों, और सभी जीवों सहित पृथ्वी पर उतरते हुए दिखाया गया है।

तीसरी शैली राजसिंह शैली है। कांची के भव्य मंदिर और महाबलीपुरम का तट मन्दिर आठवीं शताब्दी के हैं। कांची का प्रसिद्ध कैलाशनाथ मन्दिर में पल्लव राजाओं तथा उनकी रानियों की मानो जीवन्त मूर्तियां हैं। इसमें एक शुण्डाकार मीनार और एक चपटी छत वाला मण्डप है और उसके चारों ओर रथों से मिलते–जुलते कमरों की पंक्तियां हैं। शेरों वाले असख्य आधार स्तम्भ भी हैं।

चौथी शैली को 900 ई० की अप्राजिता शैली कहा जाता है। पल्लव शिल्पकला का और भी विकास हुआ जिसमें यह चोल कला के समीप आ गयी। लिंग बेलनाकार बन गया। स्तम्भ शीर्ष के ऊपर का शीर्ष फलक अधिक विशिष्ट बन गया। बादुर का मन्दिर इसी शैली का उदाहरण है।

प्रो० के.ए. नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि पल्लवों की दक्षिण भारत की कला में महान देव हैं। आरम्भ में स्तम्भ से मुक्त सामान्य आकार के हाल थे। उनके पीछे की दीवार में एक या दो गुफाएं कटी हुई थी। अगले छज्जे में स्तम्भ तथा थाकर खम्भों की कतार है। स्तम्भों का आधार तथा चोटी वर्गाकार है तथा बीच का भाग अष्टभुजाकार है। बड़े मण्डपों में [illegible] के स्तम्भों की आन्तरिक पंक्ति है। मस्तक की व्यवस्था के लिए एक भारी दीवार गिरी है। समय बीतने पर स्तम्भों के आकृति तथा अनुपात अधिक सुन्दर बन गया तथा मोडों की व्यवस्था की गयी। नृपसिंहवर्मन तथा उसके वारिसों किए गए संशोधनों में स्तम्भ के आधार को घूमते हुए शेर या ब्याल में बदलना था जिसे राजसिंह ने दहाड़ते हुए शेर में बदला। इसके अतिरिक्त सतम्भ के ऊपर कोई कारनिस नहीं है किन्तु बाद में पल्लवर्मन की तरह गोकुलनुमा काटनिस जोड़ दी गयी। इसके बाद के नमूनों गोलाार कारनिस में थोड़ी–थोड़ी दूर पर सजावट कर दी गयी जिसे कुड्डू कहते हैं जो वास्तव में बौद्ध चैत्य खिड़की का अत्यधिक परिवर्तित रूप है।

अध्याय-7

चोल वंश
The Cholas

सुदूर दक्षिण में तीन प्रधान शक्तियों चोल, चैर तथा पाण्डयों में चोलों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस राजवंश ने न केवल दक्षिण भारत के वरन् उत्तरी भारत के इतिहास को भी अत्यधिक प्रभावित किया। इस वंश में अनेक महत्वाकांक्षी तथा प्रतिभाशाली सम्राट हुए जिन्होंने विजय यात्रा करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। दक्षिण के जिस राज्य पर चोल नरेशों ने शासन किया वह चोलमण्डलम कहलाता है। इसके अन्तर्गत आधुनिक तंजौर तथा त्रिचनापल्ली के जिले और पुडुकोट राज्य का कुछ भाग आता था। चोल शक्ति के उत्थान तथा पतन के साथ-साथ उनके राज्य की सीमा में भी परिवर्तन होता रहा है।

चोल इतिहास जानने के स्त्रोत

शिलालेखः चोल काल के इतिहास को जानने का मुख्य स्त्रोत उस काल के बहुत से शिलालेख हैं। राजराजा प्रथम ने इस प्रथा को आरम्भ किया। वह अपने शिलालेखों में ऐतिहासिक परिचय देता था। वह उनमें अपने शासन काल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करता था। वह उनमें समय-समय पर परिवर्तन करता रहता था। राजराजा के आदर्श का उसके उत्तराधिकारियों ने भी पालन किया और परिणामतः हमें प्रत्येक के शासन की गतिविधियों का अपवादीय मूल्य का रिकार्ड मिलता है। इन अधिकांश ऐतिहासिक परिचयों पर विद्वानों में पर्याप्त चर्चा की है तथा हाल्टशाक तथा वैकय्या द्वारा लिखित दक्षिण भारतीय शिलालेख पुस्तकों में उनका उल्लेख है। ये सभी शिलालेख पूर्णतया ऐतिहासिक महत्व के नहीं हैं। किन्तु तिरूवेन्दीपुरम के शिलालेख में इन कठिनाइयों का विस्तार से उल्लेख है जो राजराजा तृतीय के सामने आई तथा उसे होशाल राजा ने जो सहायता दी, यह सब ऐतिहासिक शिलालेख सामग्री है।

सामान्यतः शिलालेखों में मंदिरों, मठों और ब्राह्मणों को निजी तथा सार्वजनिक रूप से दिये गये दानों तथा उपहारों का रिकार्ड है। कई बार शिलालेख में नये मन्दिर के निर्माण, उसके पुनरुद्धार तथा नई मूर्ति स्थापना का वर्णन मिलता है। कई बार किसी शिलालेख में किसी दीपक का प्रज्ज्वलित रखने की व्यवस्था का उल्लेख है। इस कार्य के लिए या तो नगद राशि दान दी जाती थी या हिसाब लगा का पशुधन दान दिए जाते थे। दान दाताओं में केवल राजा और उसके अधिकारी ही नहीं व्यवसायिक श्रेणी, जाति, संगठन, सैनिक, वर्ग, ग्राम समाए, और अनेक निजी व्यक्तियों अर्थात नरों ओर नारियों को पाते हैं।

बहुत से शिलालेखों को प्रकाशित करने और स्थाई रूप से सुरक्षित करने का विचार था। उनमें सार्वजनिक महत्व के मामलों के बारे में तक तथा निर्णय दिये गये थे। उनमें करों तथा भूमि के लगान संबंधी राजसी आदेश, ग्राम सभाओं के संविधान, जातियों तथा अन्य निगमित संस्थाओं के झगड़ों के बारे में, उनके निर्णय, चोरी हत्या तथा अन्य अपराधों को करने वाले दोषी व्यक्तियों के विरूद्ध दिये गये निर्णयों तथा विशिष्ट क्षेत्र के सशक्त सामन्ती सरदारों के मध्य हुए राजनीति के समझोतों का उल्लेख होता था। मन्दिर की दीवारें सार्वजनिक पंजीकरण कार्यालय का काम देती थी। उन पर ग्राम की भूमि के सम्पत्ति अधिकार के विक्रय रहन या अन्य प्रकार से किए गए हस्तांतरण विश्वनीय लेखा रखा जाता था।

चोल काल में बहुत से मंदिरों का निर्माण हुआ था। समय बीतने पर इन मन्दिरों की दीवारें, स्तम्भ तथा फर्श शिलालेखों से भर गया। यह तंजौर के महान मंदिर राजराजेश्वर में स्पष्ट दिखाई देता है। कुछ मामलों में ईंटों के मन्दिर पर भी लेख खोद दिये जाते थे।

चोल वंश को सूर्यवंशी सिद्ध करने के लिए विराज राजेन्द्र की काल्पनिक लम्बी कथा से युक्त चालरा प्लेट, कन्याकुमारी शिलालेख तथा एनबिल कर्णदाई आदि की ताम्र प्लेटें प्रसिद्ध हैं। पृथ्वीपति द्वितीय, हस्तीमाल की उदयन, दिराम प्लेटों में विजयालय के काल्पनिक पूर्वजों की अधिक छोटी सूची प्राप्त होती है।

प्रस्तर शिलालेखों में प्रायः नक्षत्र सम्बन्धी जानकारी मिलती है जिनसे चोल कालक्रम को निश्चित करने में महत्वपूर्ण जानकारी मिली है। इस विषय में कीलहार्न तथा अन्य विद्वानों के प्रयास सराहनीय हैं।

ऐसे शिलालेख भी है जिनमें विभिन्न कालों का पूर्ण वर्णन है। जो राजसी आदेश के जारी करने तथा उसे वास्तविक रूप में पूरा करने के मध्यवर्ती काल में आते थे। ऐसा विशेषतः मालगुजारी के मामलों में होता था। इन शिलालेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से उस काल की प्रशासकीय मशीनरी तथा व्यवहार का ज्ञान होता है। उनमें विभिन्न करों, चुंगियों तथा विभिन्न प्रकार

की अन्य वसूलियों का उल्लेख है जो उस काल में प्राप्त की जाती थी। हमें चोल शिलालेखों से चोल काल के समाज धर्म कला और कौशल के बारे में भी पता चलता है।

पड़ोसी राज्य के शिलालेख भी चोल इतिहास के कुछ पक्षों को उजागर करते हैं। इस विषय में कृष्ण तृतीय पूर्वी तथा पश्चिमी चालुक्यों तथा गंग के शिलालेखों का विशेष महत्व है। होशाल शिलालेखों में कुछ जानकारी मिलती है। प्रमुख सामन्त वंश के शिलालेखों से भी चोल इतिहास की कुछ जानकारी मिलती है।

स्मारक भवनः स्मारक भवनों से भी चोल इतिहास का पता चलता है। उनमें प्रस्तर मन्दिर, हाल तथा मीनार हैं। यह सत्य है कि चोल काल के कुछ मन्दिर अच्छी दशा में सुरक्षित हैं किंतु उनकी वास्तुकला तथा मूर्ति निर्माण कला के अध्ययन की ठीक प्रकार से व्यवस्था नहीं की गयी है।

सिक्केः चोलों ने सोने, चांदी तथा तांबे के सिक्के चलाए। सोने के सिक्के अत्याधिक दुर्लभ हैं। चांदी के सिक्के दुर्लभ नहीं हैं किंतु तांबे के सिक्के बड़ी मात्रा में प्राप्त हैं। सामान्य रूप से ये सिक्के दो प्रकार के हैं– एक में सिक्के के दाहिनी ओर चोल प्रतीक चीता है, इसके नीचे अधीन शक्तियों के प्रतीक हैं तथा राजा का नाम है। दूसरा श्रीलंका के प्रकार का है। श्रीलंका के प्रकार का सिक्का राजराजा प्रथम के काल में जारी किया गया था। यह प्रकार कुलोतुंग प्रथम के शासन के बाद भी बहुत समय तक चलता रहा।

साहित्यः सगम काल की कविताएं अधिक वास्तविक हैं तथा प्रथम दृष्टि में विश्वसनीय दिखाई देती हैं। चोल काल की उन सभी पुस्तकों में दरबारी कविता के दोष पाए जाते हैं जिनके लेखकों तथा काल का पता है। इस पर भी साहित्यिक प्रमाण विचारणीय है। दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय शैववाद की सैद्धांतिक पुस्तकों को नम्बी अन्डार नम्बी ने कुछ आधुनिक रूप में व्यवस्थित किया था। वह पहला जीवन चरित्र लेखक भी था। उसके ग्रंथों को बारहवीं शताब्दी के कुलोतुंग द्वितीय के समकालीन शेखर के तिरूतोन्दर पूर्णम (प्रिय पूर्णम) का आधार माना जाता है। प्रिय पूर्णम का वैष्णव संस्करण दिव्य सूरि चरित्र तथा गुरू परम्पराई है। रचना काल की परम्पराओं और विश्वासों का रिकार्ड होने के साथ–साथ ये ग्रंथ साहित्य का उचित मूल्यांकन का आवश्यक आधार प्रस्तुत करते हैं तथा वैष्णववाद के इतिहास में उसके स्थान को निश्चित करते हैं। अलवार संतों की महान टीकाएं भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें चोल काल की अनेक घटनाओं का आकस्मिक रूप से उल्लेख है। इनके अतिरिक्त बुद्धमित्र की विरसोलियम, जयगोविन्दर की कलिंग तुष्पर्णी और ओटकुट्टन की तीन उलाएं और कुलोत्तुंगन फिलईट्टामिल प्रमुख हैं। कलिंग तुष्पर्णी में चोल वंश के बारे में लाभप्रद जानकारी प्राप्त है। इसमें कुलोतुंग के कलिंग विजय का विस्तार से वर्णन है। उनमें उसकी सेना के मार्ग का भी उल्लेख है।

चीनी ग्रंथों से भी लाभप्रद जानकारी मिलती है। अरबी यात्री मुस्लिम इतिहासकार तथा मार्को पोला जैसे आरम्भिक यूरोपीय यात्रियों ने भी इस काल के दक्षिण भारत के बारे में मनोरंजक जानकारियां दी हैं। वे उस काल के विदेशी व्यापार की मात्रा तथा प्रवृति के बारे में जानकारी देते हैं।

चोलों की उत्पत्तिः चोलों की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। चोल शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इस राजवंश के संबंध में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ विद्वानों के विचार में चोल तमिल भाषा के चूल शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है चक्र लगाने वाला अथवा घुमाने वाला। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी आरम्भिक अवस्था में ये लोग भ्रमणशील थे और अपने इस पर्यटनशील जीवन के कारण ही ये लोग चोल कहलाए।

कुछ विद्वानों के विचार में चोल शब्द संस्कृत के और शब्दों से बना है जिसका अर्थ होता है चोर या तस्कर। यदि यह अर्थ सही है ते सम्भव है कि ये लोग आरम्भ में लुटेरे रहे हों और लूटमार ही इनकी जीविका का प्रधान साधन रहा हो। अपने इस चोरी और लूटमार के व्यवसाय के कारण ही ये लोग चोर अथवा चोल कहलाए।

कतिपय विद्वानों की यह धारणा भी है कि यह तमिल भाषा के चोलम् शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है बाजरा। यदि यह अनुमान सही है तो सम्भवतः जिस प्रदेश में ये निवास करते थे वहां के लोगों का मुख्य खाद्यान्न बाजरा रहा होगा और इसी से ये लोग चोल कहलाए।

यह भी सम्भव है कि चोल शब्द कोल का रूपान्तर है। इस नाम से प्रारम्भ में दक्षिण की सभी जातियां पुकारी जाती थी यदि यह व्युत्पत्ति सही है तो चोल लोग दक्षिण के अनार्यों के वंशज रहे होंगे और उन्हें दक्षिण भारत का मूल निवासी मानना चाहिये

कुछ अभिलेखों में चोल वंश के नरेशों ने अपने आप को सूर्यवंशी क्षत्रिय बतलाया है। इन अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चोल लोग प्राचीन आर्यों की संतान और क्षत्रिय जाति के थे जो आरम्भ में कहीं उत्तर भारत में निवास करते होंगे और कालान्तर में दक्षिण चले गये होंगे।

ऊपर जिन विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष निकलना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। किंतु इस बात की बहुत बड़ी सम्भावना है कि ये अनार्यों की संतान और दक्षिण भारत के मूल निवासी रहे होंगे और वहीं पर उनके वंश का आविर्भाव तथा उद्विकास हुआ होगा।

चोल दक्षिण भाग के मूल निवासी प्रतीत होते हैं और दक्षिण के जिस भू–भाग में उनके राजवंश का आविर्भाव हुआ था उसमें कावेरी नदी प्रवाहित होती थी जिसमें त्रिचनापल्ली तथा तंजौर के दूर्ग बने थे। उदयपुर तथा तंजौर उनकी राजधानी थी और कावेरोद्दनम, जो कावेरी नदी पर स्थित था, उनका प्रधान बन्दरगाह था जहां से वे विदेशों के साथ व्यापार करते थे।

चोलों का आरम्भिक इतिहास प्राचीन है। इसका उल्लेख महाभारत के सभापर्व तथा भीष्मपर्व में मिलता है। अशोक के अभिलेखों में भी चोल शब्द का उल्लेख मिलता है। इसका प्रयोग मौर्य साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेश के लिए किया गया है जिसके शासकों से मौर्यों की मैत्री थी। महावंश से पता चलता है कि लगभग दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के मध्य में एक चोल राजा ने सिंहल द्वीप पर विजय प्राप्त कर ली थी और वहां पर काफी दिनों तक शासन किया था। टालमी के भूगोल से भी हमें चोल देश तथा उसके नगरों का परिचय मिलता है। संगम सहित्य में भी चोल राजाओं का उल्लेख है जो बड़े न्यायप्रिय तथा दानशील होते थे। तीसरी और चौथी शताब्दी ई० में पल्लव अभिलेखों में चोल देश की समृद्धि का उल्लेख है। सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग में ह्वेनसांग ने इस प्रदेश के विषय में लिखा था कि यह उष्ण तथा जंगली प्रदेश था। इन दिनों पल्लव वंश ने संभवतः चोलों पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी परन्तु नवीं शताबदी के मध्य में जब पल्लवों का अद्यःपतन प्रारम्भ हुआ तब चोलों का गौरव फिर बढ़ने लगा।

चोल नरेश

कारिकलः चोलों का सर्वप्रमुख राजा कारिकल था। उसका उदय काल द्वितीय शताब्दी निर्धारित किया गया है। कारिकल बड़ा ही वीर तथा महत्वाकांक्षी शासक था और साम्राज्यवादी भावना के ओत प्रोत था। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया और वह इतना शक्तिशाली हो गया कि उसके पड़ोसी नरेश उससे आतंकित हो उठे। उसकी बढ़ती हई शक्ति को देखकर पाण्डयों, चेरों आदि जातियों ने उसके विरुद्ध एक संघ बनाया और उसकी शक्ति का ध्वस्त करने के लिए एक संयुक्त मोर्चा उपस्थिति किया परंतु कारिकल ने वेण्णि के सुप्रसिद्ध युद्ध में उन्हें पराजित करके इनके संघ को छिन्न–भिन्न कर दिया। एक सूत्र से हमें ज्ञात होता है कि कारिकल ने अपनी पुत्री का विवाह आदिनन्दि एक चेर राजकुमार अति के साथ कर दिया था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने चेरों को परास्त करने के उपरान्त उनके साथ मैत्री स्थापित कर ली थी। एक अन्य सूत्र से हमें ज्ञात होता है कि उसने अन्य राजवंशों के साथ भी सफलतापूर्वक युद्ध किया था। उसने लंका पर भी आक्रमण किया था और वहां से 12000 मनुष्यों को अपने राज्य में लाया था। उन्हीं की सहायता से उसने पुहार नामक नगर का दुर्गीकरण करवाया था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कारिकल एक वीर विजेता था अपने पड़ोसी राज्यों पर विजय प्रापत कर उसने सम्पूर्ण तमिल प्रदेश पर अपनी धाक जमा ली थी। किंतु कारिकल कोरा विजेता ही न था वरन् उसमें रचनात्मक प्रतिभा भी थी और उसने अनेक निर्माण कार्य भी किये थे। उसने घने वनों को कटवाकर कृषि के लिए उपयुक्त भूमि बनवाई और उसकी सिंचाई के लिए जलाशयों तथा नहरों का निर्माण करवाया। नदी की बाढ़ रोकने के लिए उसने कावेरी नदी पर बांध भी बनवाए थे। उसने ओर्थोरा से अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर पड़ोसी कावेरी पड्डिनम् नामक नई राजधानी का निर्माण करवाया था।

नेदुयुकिल्लिः कारिकल के उपरान्त उसका पुत्र नेदुयुकिल्लि सिंहासन पर बैठा। वह एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ और उसके शासन काल में चोल वंश पतनोन्मुख हो गया। पाण्डयों और चेरों ने चोल राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। पल्लवों की भी बढ़ती हुई शक्ति को वह रोक न सका। इससे ऐसा पता चलता है कि चोलों की सैनिक शक्ति निर्बल हो गयी थी और शत्रुओं का सामना करने की उसमें क्षमता न रह गयी थी। उनकी नौसेना भी सशक्त न थी जिससे समुद्री डाकुओं ने भी उसकी सेना पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि चोल राज्य जीर्ण–शीर्ण हो गया।

विजयालयः चोल वंश का वैभव विजयालय के समय से फिर बढ़ने लगा। उसने अपने एक नये राजवंश की स्थापना की थी। सम्भवतः आरम्भ में वह पल्लव राजा का सामन्त था। उसने 850 ई० के कुछ पहले अपना शासन आरम्भ किया। उसने चोल परम्परा को फिर से जीवित किया और तंजौर को या तो पल्लवों से या मुतरैयर सामन्तों से छीनकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

आदित्य प्रथमः विजयालय के उपरान्त उसका पुत्र आदित्य प्रथम लगभग 871 ई० में सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही महत्वाकांक्षी तथा प्रतापी नरेश था। अपने पिता की भांति वह भी पल्लवों का सामन्त था परंतु कालांतर में उसने विद्रोह करके अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और एक स्वतंत्र सम्राट के रूप में शासन करने लगा। उसने पल्लव साम्राज्य पर भी आक्रमण कर

दिया और पल्लव नरेश अपराजित की हत्या करके सम्पूर्ण पल्लव राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। आदित्य प्रथम ने गंग नरेश पृथ्वीपति द्वितीय को भी अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उसने पाण्डय राज्य पर भी आक्रमण कर दिया और पाण्डय नरेश परान्तक वीर नारायण को परास्त कर कोंगु प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

आदित्य प्रथम ने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की पुत्री के साथ अपना विवाह कर लिया और इस प्रकार उसने राष्ट्रकूट के साथ मैत्री संबंध स्थापित कर लिया। उसने अपने पुत्र परान्तक का विवाह चेर नरेश स्थायुरवि की पुत्री के साथ करके चेर नरेश के साथ भी मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर लिये। इन वैवाहिक संबंधों से उसकी कूटनीतिज्ञता का परिचय मिल जाता है।

आदित्य प्रथम शैव मतावलम्बी था और शिव की उपासना कें लिए उसने कावेरी नदी के तट पर शैव मन्दिर बनवाए थे। 907 ई०में उसकी मृत्यु हो गयी।

परान्तक प्रथम: आदित्य प्रथम के पश्चात उसक पुत्र परान्तक गद्दी पर बैठा। उसने 907 से 955 ई० तक शासन किया। वह एक वीर योद्धा था और उसने पाण्डय राजा राजसिंह को परास्त करके उसके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। राजसिंह ने भागकर सिंहल द्वीप में शरण ली। परान्तक ने सिंह पर भी आक्रमण किया परंतु उसे सफलता न मिली। बाणों तथा वैदुम्बों पर भी उसने विजय प्राप्त की थी और बाणों के प्रदेश को उसने पश्चिमी गंगों को सौंप दिया। उसने पल्लव शक्ति को समुल नष्ट कर दिया और दक्षिण में नेलोर तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। परंतु परान्तक क शासन काल के अन्तिम भाग में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय से उनका घातक संघर्ष हुआ। कृष्ण ने गंग राजा बूतुग की सहायता से परान्तक को परास्त कर कांची तथा तंजौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और संभवतः उसने रामेश्वरम अपनी सत्ता स्थापित कर ली। राष्ट्रकूट राजा की इस विजय ने चोलों के राज्य को छिन्न–भिन्न कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति सम्भालने में काफी समय लग गया। परान्तक अपने पिता की भांति शैव था और उसने बहुत से मन्दिरों की स्थापना करवाई थी।

परान्तक विद्यानुरागी तथा कलाप्रेमी भी था और उसके शासन काल में साहित्य तथा कला की बहुत उन्नति हुई। संस्कृत का विद्वान बैकरमाधव उसी के काल की विभूति था जिसने ऋगदेव पर टीका लिखी थी। कोरंगनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर इसी के समय से त्रिचनापल्ली में निर्मित किया गया था। 955 ई० में परान्तक का परलोकवास हो गया।

परान्तक प्रथम की मृत्यु के उपरान्त तीस वर्षों का चोल वंश का इतिहास पतन का काल माना जाता है इन तीस वर्षों में कोई ऐसा पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी शासक न हुआ जो चोल वंश को पतन से बचा सकता।

परान्तक प्रथम के उपरान्त उसके पुत्र गंदरादित्य ने केवल दो वर्षों तक शासन किया। उसके उपरान्त सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय ने 957 से 973 ई० तक शासन किया। पतन काल के नरेशों में यह सबसे अधिक योग्य था उसने पाण्डय नरेश वीर को परास्त कर दिया और उसकी हत्या कर दी। उसने लंका नरेश महेन्द्र चतुर्थ पर भी आक्रमण किया परंतु उसमें उसे सफलता न मिली।

969 ई० में गन्दरादित्य के पुत्र उतम चोल ने परान्तक द्वितीय के पुत्र तथा युवराज आदित्य द्वितीय को षडयत्र रचकर मरवा डाला और अपने को युवराज घोषित कर दिया। फलतः जब 937 ई० में परान्तक द्वितीय की मृत्यु हो गयी तब उतम चोल राजा बन गया। उतम चोल एक निर्बल शासक सिद्ध हुआ। चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया। यहां चोल वंश के तीस वर्षीय पराव का अनत हो जाता हे और पुनः उसके वैभव का सूर्योदय होता है।

राजराज प्रथम: चोल वंश का पुनरुद्धार तथा उसे गौरव प्रदान करने वाला नरेश राजराज प्रथम था। वह परान्तक द्वितीय का छोटा पुत्र था। उसका प्रारम्भिक नामक अरूमोलिवर्मन था किंतु जब वह सिंहासन पर बैठा तब उसने राजराज की उपाधि धारण कर ली और उसी नाम से सुविख्यात हुआ। राजराज ने 985 ई० से 1014 ई० अर्थात 30 वर्षों तक शासन किया। सुन्दर चोल के पुत्र राजराज के सिंहासन पर बैठते ही चोल वंश के गौरव को पुनर्जीवन प्राप्त हो गया। राजराज एक महान विजेता तथा योग्य शासक था। उसने अपने पूर्वजों के अस्त–व्यस्त राज्य को फिर से सुसंगठित कर लिया और उसका परिवर्धन किया। इस कार्य के सम्पादन में उसे अनेक राज्यों के साथ युद्ध करने पड़े जिनके संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

चेरों के साथ संघर्ष: सर्वप्रामि राजराज का संघर्ष चेर राजा से हुआ। राजराज ने चेरों के जहाजी बेड़े को कन्दलुर में नष्ट कर दिया।

पाण्डयों पर आक्रमण: राजराज ने चेरों पर आक्रमण करने के उपरान्त पाण्डेय राज्य पर भी आक्रमण कर दिया और उसके राजा अमरभुजंग को बंदी बना लिया।

कोल्लम तथा कुर्ग पर आक्रमण: राजराज ने कोल्लम तथा कुर्ग पर भी आक्रमण कर दिया और उन पर विजय प्राप्त की।

लंका पर आक्रमण: लंका नरेश पाण्डयों का मित्र एवं सहायक था। चूंकि चोलों की पाण्डयों के साथ शत्रुता थी अतएव राजराज ने उनके मित्र लंका नरेश पर आक्रमण कर दिया। लंका नरेश महेन्द्र पंचम युद्ध में परास्त हो गया और अपनी राजधानी

अनुराधपुर को छोड़कर दक्षिण पूर्वी लंका की ओर भाग गया। चोलों की सेना ने अनुरोधपुर को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया और उत्तरी लंका पर अपना अधिकार कर लिया। राजराज चोल ने पोलनरूव को अपने अधिकृत प्रदेश अर्थात उत्तरी लंका की राजधानी बना लिया।

गणराज्य से युद्धः लंका विजय के उपरान्त राजराज ने गणराज्य के तीन प्रदेशों अर्थात गंगवाड़ि, नालम्बवड़ि और पद्रिगैवडि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इस प्रकार मैसूर का बहुत बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया।

पूर्वी चालूक्यों से मैत्रीः चालुक्यों की पूर्वी शाखा पूर्वी दक्षिणापथ में शासन कर रही थी और वेगी उसकी राजधानी थी। 976 ई० में एक तेलगु जटाचोड़ भीम ने वेगी नरेश दानार्णव पर आक्रमण करके उसे युद्ध में मार डाला। दानार्णव के पुत्रों ने भगर राजराज चोल के यहां शरण ली। राजराज ने इन राजकुमारों का स्वागत किया और उनकी सहायता करने और उनका खोया हुआ राज्य पुनः दिलाने का वचन दिया। उसने छोटे राजकुमार विमलादित्य के समय अपनी पुत्री कुन्दवई का विवाह कर दिया और सबसे बड़े राजकुमार शक्तिवर्मन को वेगी के सिंहासन पर बिठाने का वचन दिया। उसने जटाचोड़ भीम को मारकर वेगी से मार भगाया और शक्तिवर्मन को वेगी का राजा बना दिया। इस प्रकार राजराज का प्रभाव वेगी के चालुक्य पर भी स्थापित हो गया।

पश्चिमी चालुक्यों के साथ संघर्षः पश्चिमी चालुक्यों के राज्य के अन्तर्गत नर्मदा तथा तुगभद्रा नदियों के बीच का प्रदेश सम्मिलित था और मान्दाखेर इस राज्य की राजधानी थी। इन दिनों चालुक्य नरेश सत्याश्रय यहां का राजा था। वह बड़ा ही प्रतिभावान, महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली नरेश था। वेगी के चालुक्यों के राज्य में राजराज के बढ़ते हुए प्रभाव को वह सहन न कर सका। उसने 1006 ई० में वेगी राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसके कुछ प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। राजराज भी चुप न बैठा। वेगी राज्य को सताश्रय के चुंगल से मुक्त करने के लिए उसने उसके राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसने अपने पुत्र राजेन्द्र चोल को भेजा। राजेन्द्र चोल ने एक विशाल सेना के साथ प्रथान कर दिया और पश्चिमी चालुक्यों के राज्य को रौंदता हुआ राजधानी मान्यखेर में प्रवेश कर गया। उसने राजधानी को खूब लूटा और भीषण हत्याकांड किया। यहां तक कि स्त्रियों, बच्चों तथा ब्राह्मणों को भी तलवार मौत के घाट उतारा। इस दुर्घटना से सत्याश्रय ने वेगी छोड़ दिया और अपने राज्य को वापस लौट आया। राजेन्द्र चोल लूटी हुई सम्पत्ति को लेकर अपनी सेना के साथ वापस लौट आया।

कलिंग पर आक्रमणः राजराज ने कलिंग राज्य पर भी आक्रमण किया और वहां के नरेश को परास्त कर कलिंग को अपने राज्य में मिला लिया।

द्विपों पर अधिकारः राजराज के पास एक नौसेना भी थी जिसकी सहायता से उसने मालद्विप तथा कुछ अन्य द्विपों पर अपना अधि ाकार स्थापित कर लिया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजराज एक कुशल तथा योग्य सेनानायक एवं साम्राज्यवादी नरेश था। उसकी सामरिक उपलब्धियों की प्रशंसा करते हुए के.एन. शास्त्री ने लिखा है "उसका तीस वर्षीय शासन चाले साम्राज्यवाद के निर्माण का काल था। उसके सिंहासनारोहण के समय जो अपेक्षाकृत एक छोटा सा राज्य था, जो राष्ट्रकूटों के आक्रमणों के प्रभाव से कठिनता से संभल पाया था, वह उसके शासन काल में एक ऐसे विशाल तथा सुसंगठित साम्राज्य में परिवर्तित हो गया जो बड़ा ही सुसंगठित तथा सुशासित था, जिसके साधन बड़े ही प्रचुर थे और जिसके अधिकार में ऐसी स्थाई सेना तथा नौसेना थी जिसकी भली–भांति परीक्षा हो चुकी थी और जो महानतम साहसिक कार्यों के योग्य थी।"

राजराज शैव मत का अनुयायी था। उसने शिवपाद शेखर की उपाधि धारण की। यद्यपि वह शैव धर्मावलम्बी था परन्तु उसमें उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी। वेष्णव के साथ उसकी सहानुभूति थी और उसने कई विष्णु मन्दिर बनवाए। उसने एक बौद्ध विहार को भी एक गांव दान में दिया था। राजराज की सबसे प्रसिद्ध कृति तंजौर का शिव मन्दिर है जो उसके नाम पर राजराजेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की दीवारों पर राजराज की विजयों का वर्णन है।

मूल्यांकनः राजराज की गणना चोल वंश के महान सम्राटों में की जाती है। अपने पूर्वजों के मरणासन्न राज्य को अनुप्राणित करने तथा उसके विनष्ट गौरव को पुनर्स्थापित करने का श्रेय उसी को प्राप्त है। अपनी सफल विजय यात्राओं से उसने अपने पूर्वजों के छलु साम्राज्य को एक ऐसे विशाल साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया जिसकी शक्ति से उसके पड़ोसी राज्य आतंकित हो गये थे।

वह वीर विजेता के साथ–साथ एक कुशल शासक भी था और उसने अपनी प्रजा के जीवन को शान्तिमय तथा सुखी बनाने के लिए समुचित व्यवस्था की थी। उसने स्थानीय शासन के महत्व को भली–भांति समझा और इसकी स्थापना के लिए उसने विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया।

वह बड़ा ही दूरदर्शी शासक था। उसने उत्तराधिकार के युद्ध की समस्या का समाधान करने के लिए अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र राजेन्द्र चोल को प्रवराज तथा अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था और उसे शासन के कार्य में सम्मिलित करके तथा

उसके द्वारा सैनिक अभियान कराकर उसे शासन तथा समर दोनों की ही शिक्षा दी थी जिससे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका उत्तरा[illegible] अनुभव शून्य न रहे और उसमें शासन के संचालित करने तथा उसे सुरक्षित बनाए रखने और उसमें वृद्धि करने की क्षमता आ जाए।

आर.सेथियनलियर ने उसकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "राजराज दक्षिण भारत के महानतम सम्राटों में से एक था वह एक सुप्रसिद्ध विजेता तथा साम्राज्य निर्माता था, वह एक योग्यतापूर्ण शासक, एक पवित्र तथा सहिष्णु व्यक्ति साहित्य तथा कला का आश्रयदाता और इन सबके अतिरिक्त वह एक मधुर व्यक्तित्व का स्वामी था।"

राजेन्द्र प्रथम: राजराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र राजेन्द्र सिंहासन पर बैठा। उसने 1014 ई० से 1044 ई० तक बड़े सफलतापूर्वक शासन किया। वास्तव में अपने पिता के जीवन काल में ही उसने शासन भार अपने ऊपर ले लिया था और पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव प्राप्त कल लिया गया था। अपने पिता के युद्ध अभियानों में भी वह भाग ले चुका था और उसने अनेक विजय यात्राएं की थी जिससे उसे सामरिक अनुभव भी प्राप्त हो चुका था। अस्तु सिंहासनारोहण के उपरान्त उसने अपने युवराज काल के प्रशासकीय अनुभव से उसे बड़ी सहायता मिली।

राजेन्द्र प्रथम अपने पिता की ही भांति बड़ा ही वीर, साहसी तथा महत्वाकांक्षी सम्राट सिद्ध हुआ और उसने साम्राज्यवादी नीति के अनुशरण किया। उसे अपने पिता से एक बड़ा ही विशाल तथा सुसंगठित साम्राज्य प्राप्त हुआ था और उसके पास एक बड़ी ही विशाल तथा रणकुशल सेना थी जिसकी सहायता से उसने अपनी दिग्विजय का कार्य आरम्भ किया। अपने पिता के जीवन काल में ही उसने रायचूर दोआब, बनवासी तथा अन्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर ली। सम्राट बनने के उपरान्त उसने साम्राज्य विस्तार के लिए नई विजय यात्राए की उनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है–

लंका पर आक्रमण: राजेन्द्र प्रथम के पिता राजराज ने लंका पर आक्रमण कर उत्तरी लंका पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। राजेन्द्र प्रथम ने अपने पिता के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का निश्चय किया। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त 1017 ई० में उसने लंका पर आक्रमण कर दिया और वहां के राजा महेन्द्र पंचम को परास्त कर उसे बन्दी बना लिया। इस विजय के फलस्वरूप सम्पूर्ण लंका पर राजेन्द्र प्रथम का अधिकार स्थापित हो गया किंतु कुछ समय के उपरान्त महेन्द्र पंचम के पुत्र कस्सप ने दक्षिण लंका पर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया और विक्रमबाहु प्रथम के नाम से वहां पर शासन करने लगा।

पाण्डयों तथा चेरों पर आक्रमण: राजेन्द्र प्रथम ने पाण्डयों तथा चेरो के राज्यों पर भी आक्रमण किया और उन पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। उसने उनके शासन के लिए अपने पुत्रों को वहां का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। मदुरा को अपनी राजधानी बनाकर इन विजित प्रदेशों का शासन चलाने लगा।

चालुक्यों के साथ संघर्ष: चोलों की पश्चिमी चालुक्यों के साथ प्राचीन शत्रुता थी। अतएव राजेन्द्र प्रथम के शासन काल में इन दोनों राज्यों में शत्रुता की निरन्तरता बनी रही। इन दिनों पश्चिमी चालुक्यों का राजा जयसिंह द्वितीय था। राजेन्द्र प्रथम तथा जयसिंह द्वितीय में युद्ध की अग्नि भड़क उठी। इस युद्ध का कारण पूर्वी चालुक्यों के राज्य में सिंहासन के लिए उत्तराधिकार का झगड़ा था वहां पर शक्तिवर्मन प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई विमलादित्य वेगी के सिंहासन पर बैठा। विमलादित्य ने सात वर्ष तक शासन किया। इसके उपरान्त उसके दो पुत्रों विजयादित्य तथा राजराज में उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हो गया। पश्चिमी चालुक्य शाखा के नरेश जयसिंह द्वितीय ने इस युद्ध में विजयादित्य का पक्ष लिया। राजराज विजयादित्य का सौतला भाई था और राजराज की माता कुन्दवई चोल राजकुमारी थी। अतएव राजेन्द्र प्रथम ने अपने सम्बन्धी राजराज का पक्ष ग्रहण किया। इस प्रकार वेगी के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर राजेन्द्र प्रथम तथा जयसिंह द्वितीय में सीधा संघर्ष आरम्भ हो गया जो तीन वर्ष वर्षों तक चलता रहा। अंत में राजेन्द्र चोल की सेनाओं ने जयसिंह द्वितीय तथा विजयादित्य दोनों को ही परास्त कर दिया किन्तु विजयादित्य अपनी पराजय से हताश न हुआ और राजराज के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। सम्भवतः 1031 ई० में जयसिंह द्वितीय की सहायता से विजयादित्य ने वेगी सिंहासन राजराज से छीन लिया और विष्णुवर्द्धन विजयादित्य सप्तम के नाम से राज्य करने लगा। किन्तु वह केवल चार ही वर्ष तक सिंहासनासीन रहा और 1035 ई० में राजराज विजयादित्य को अपदस्थ कर पुनः वेगी के सिंहासन पर आसीन हो गया। इसके उपरान्त भी उत्तराधिकार की समस्या का समाधान न हुआ। जयसिंह द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम पश्चिमी चालुक्यों का राजा हुआ। उसने विजयादित्य का पक्ष ग्रहण किया और उसे सिंहासन पर बैठाने के लिए वेगी पर आक्रमण कर दिया। राजेन्द्र प्रथम भी चुप न रहा। उसने राजराज का पक्ष ग्रहण किया और उसकी सहायता के लिए एक सेना भेज दी। अभाग्यवश युद्ध काल में ही राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु हो गयी और युद्ध का परिणाम अनिश्चित ही रहा।

पूर्वी भारत पर आक्रमण: दक्षिण भारत के अनेक राजाओं को नतमस्तक करने के उपरान्त राजेन्द्र प्रथम ने पूर्वी भारत की ओर अपने युद्ध अभियान चलाया। उसकी एक विशाल सेना बस्तर तथा उड़ीसा को पार करती हुई बंगाल पहुंची। वहां इस सेना का बंग देश अर्थात पूर्वी बंगाल के राजा गोविन्दचन्द्र के साथ संघर्ष हुआ जो युद्ध में परास्त हो गया। इसके उपरान्त चोलों की विजयी सेना ने गंगा नदी को पार कर बंगाल के पाल वंशीय नरेश महीपाल पर आक्रमण किया और उसे युद्ध में परास्त कर दिया। जयलक्ष्मी

प्राप्त करने के उपरान्त चोल सेना वहां पर रूकी नहीं वरन् वहां से गंगा जल लेकर दक्षिण की ओर लौट आई। कहा जाता है कि राजाओं को अपने सिर पर गंगा ले जाने के लिए बाध्य किया गया था। इसके बाद राजेन्द्र चोल की उपाधि धारण की।

राजेन्द्र चोल की पूर्व विजय का राजनीतिक दृष्टिकोण से कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि इस भूभाग पर उसने अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित नहीं किया वरन् उसको रौंदने के उपरान्त उसकी सेना वापस लौट गई। इसलिए इस रण अभियान को एक छापा मात्र ही समझना चाहिये। उसका उद्देश्य सम्भवतः पवित्र गंगा जल को प्राप्त करना और अपने राज्य में ले जाकर उसकी भूमि को पावन करना था।

राजेन्द्र प्रथम का पूर्वी भारत पर आक्रमण का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो किंतु उसके परिणाम नगण्य न थे। इसमें संदेह नहीं कि इस विजय से राजेन्द्र प्रथम के गौरव और प्रतिष्ठा में बड़ी वृद्धि हो गयी और दक्षिण के महान विजेताओं में उसकी गणना होने लगी। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि इस विजय के फलस्वरूप कुछ दक्षिणी सामन्त बंगाल तथा मिथिला में आकर बस गये और उनके वहां पर स्थायी निवास करने के फलस्वरूप ही बंगाल में सेन राजवंश और मिथिला में कर्नाट राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। बंगाल के बहुसंख्यक शैव इस विजय के फलस्वरूप दक्षिण भारत चले गये और वहीं पर स्थाई रूप से निवास करने लगे। पूर्वी भारत पर आक्रमण की घटना 1021 ई० तथा 1024 ई० के बीच घटी।

श्रीविजय पर आक्रमणः राजेन्द्र प्रथम के पास एक सुदृढ़ तथा सुशिक्षित एवं सुसंगठित नौसेना भी थी। भारत भूमि पर अपनी विजय आकांक्षा को शांत करने के उपरान्त उसने अपनी नौसेना की सहायता से वृहत्तर भारत पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने की योजना बनाई। 1025 ई० में उसने श्रीविजय के राज्य पर आक्रमण कर दिया जिसके अन्तर्गत इस समय मलाया प्रायद्विप सुमात्रा जावा तथा अनेक आस पड़ोस के द्वीप सम्मिलित थे। इन दिनों इस राज्य पर विजयोतुगवर्मन नामक नरेश शासन कर रहा था। राजेन्द्र प्रथम ने उसे परास्त कर बन्दी बना लिया किंतु जब उसने चोल नरेश की अधीनता स्वीकार कर ली तब उसने उसे मुक्त कर दिया।

राजेन्द्र प्रथम ने श्रीविजय के राज्य पर क्यों आक्रमण किया इसके अनेक कारण प्रतीत होते हैं। इसका सर्वप्रथम कारण उसकी साम्राज्यवादी नीति तथा उसकी महत्वाकांक्षा प्रतीत होती है। उसने यश प्राप्त करने तथा अपने राजवंश के गौरव में वृद्धि करने के लिए ही समुद्र पार विजय की योजना बनायी थी।

किंतु डा० रमाशंकर त्रिपाठी के मतानुसार इस सामुद्रिक का लक्ष्य एकमात्र महत्वाकांक्षा की पूर्ति करना ही न था वरन् इसका उद्देश्य श्रीविजय राज्य तथा दक्षिण भारत के मध्य व्यापारिक संबंध भी स्थापित करना था।

नीलकण्ठ शास्त्री ने भी इस अभियान का कारण व्यापारिक बतलाया है। इनके कथनानुसार दक्षिण भारत का चीन के साथ व्यापारिक संबंध चल रहा था और श्रीविजय का राज्य इन दोनों के मध्य स्थित था। अतएव व्यापारिक दृष्टिकोण से इस राज्य का बहुत बड़ा महत्व था। ऐसी स्थिति में इस पर अपना प्रभुत्व तथा प्रभाव स्थापित कर राजेन्द्र प्रथम ने अनेक व्यापारिक कठिनाइयों को दूर कर बहुत सी व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त कर सकता था। इसलिए यह असम्भव प्रतीत नहीं होता है कि इस व्यापारिक सुविधाओं कोप्राप्त करने के लक्ष्य में चोल नरेश ने इस पर आक्रमण किया हो।

यह भी सम्भावना व्यक्त की गयी हे कि इस आक्रमण का कारण कूटनीतिक संबंध रहा हो। 1016 ई० में राजेन्द्र प्रथम ने अपना एक राजदूत चीन भेजा था। हो सकता है कि उसकी श्रीविजय के नरेश के साथ कुछ अनबन हो गयी हो, उसे दण्डित करने और चीन के साथ अपने कुटनीतिज्ञ संबंध के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ही उसने आक्रमण किया हो क्योंकि इस विजय के उपरान्त 1037 ई० में राजेन्द्र प्रथम ने अपना दूत चीन भेजा था।

श्रीविजय का राज्य भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का भी केन्द्र था। अतएव यह भी सम्भव है कि इस सांस्कृतिक संबंध को और अधिक सुदृढ बनाने और पहले से भी अधिक विस्तार करने के लिए उसने इस विजय की योजना बनायी हो।

राजेन्द्र प्रथम के इस आक्रमण का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो और यद्यपि उसकी विजय क्षणिक सिद्ध हुई क्योंकि वहां पर वह अपना स्थाई शासन स्थापित न कर सका किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस विजय से उसकी कीर्ति एवं गौरव में बड़ी अभिवृद्धि हो गई।

विद्रोहों का दमनः अपने शासन काल के अन्तिम चरण में राजेन्द्र प्रथम को अनेक विद्रोहों का भी दमन करना पड़ा। पाण्डय तथा चेर नरेशों ने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए राजेन्द्र प्रथम के विरूद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। राजेन्द्र प्रथम ने अपने पुत्र तथा युवराज राजाधिराज को इन विद्रोहों का दमन करने के लिए भेजा जो इनको दबाने में पूर्ण रूप से सफल रहा। उसने विद्रोहियों को बड़ी क्रूरतापूर्वक दण्डित किया और अनेक राजकुमारों का वध करवा दिया।

चेर तथा पाण्डय राज्यों के अतिरिक्त लंका में भी विद्रोह भड़क उठा। लंका नरेश विक्रमबाहु ने अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए चोल नरेश के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। राजाधिराज ने 1049 ई० में इस विद्रोह का दमन करने के लिए लंका पर आक्रमण कर दिया किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इस विद्रोह का दमन करने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया।

राजेन्द्र प्रथम ने कदार्नकोण्ड, मुण्डिकोण्ड, गंगकोण्ड तथा पण्डितकोण्ड की उपाधियां धारण की थी जो उसकी सफलताओं तथा गंगा की द्योतक है। उसकी प्रथम उपाधि कदार्नगोण्ड इस बात की द्योतक है कि उसने पाण्डय केरल तथा लका के राजाओं से उनके राजमुकुट छीन लिये थे। उसकी दूसरी उपाधि गंगकोण्ड उसकी गंगा की घाटी की विजय की द्योतक है। उसकी तीसरी उपाधि मुण्डिकोण्ड भी उसकी विजयों की द्योतक है। उसकी पण्डित चोल की उपाधि उसके विद्यानुराग तथा विद्ववता की द्योतक है।

मूल्यांकनः राजेन्द्र प्रथम की गणना चोल वंश के सर्वश्रेष्ठ सम्राटों से की जाती है। वह एक वीर विजेता तथा साम्राज्य निर्माता था। वह सामरिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और उसने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। इसमें संदेह नहीं कि उसे अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में एक विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ था किंतु उसने उसे न केवल सुरक्षित, सुसंगठित रखा वरन उसकी सीमाओं में आशातीत वृद्धि की। उसने न केवल दक्षिण भारत का पदाक्रान्त किया वरन् उत्तरी भारत के भी एक बहुत बड़े भाग को रौंद डाला। वह पहला भारतीय नरेश था जिसने नौसेना की सहायता से समुद्र पार जाकर सफलतापूर्वक विजय यात्राएं की और दक्षिण भारत के व्यापार में वृद्धि की। अपने विशाल साम्राज्य में होने वाले विद्रोहों के दमन करने में भी वह पूर्ण रूप से सफल रहा। उसकी इन सामरिक उपलब्धियों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह अपने समय का एक महान नायक, वीर विजेता तथा साम्राज्य निर्माता था।

राजेन्द्र प्रथम विद्यानुरागी तथा साहित्य प्रेमी भी था। अपनी विद्वता तथा अपने पाण्डित्य के अनुकूल ही उसने पण्डित चोल की उपाधि धारण की थी। वह शिक्षा के प्रचार में बड़ी रुचि लेता था। उसने एक वैदिक कालेज की स्थापना की थी जिसमे 14 शिक्षक थे और 300 विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इस विद्यालय के व्यय के लिए राज्य द्वारा भूमि दान में दी गयी थी जिसकी आय से उसका व्यय चलता था।

रचनात्मक कार्यों में भी उसकी बडी रुचि थी उसने तालाबों, नगरों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया था और उन्हें विभिन्न प्रकार से अलंकृत करवाया था जिससे उसके कला प्रेम का परिचय मिलता है। उसके कार्यों का मूल्यांकन करते हुए नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है "राजेन्द्र प्रथम के शासन काल के अन्तिम दिन विजयलिय वंश के चोल इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण युग का निर्माण करते हैं। साम्राज्य का विस्तार सर्वाधिक था और उसकी सैनिक तथा नाविक प्रतिष्ठा सर्वोच्च शिखर पर पहुच चुकी थी।"

आर. सेथियनथियर ने भी राजेन्द्र प्रथम की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "राजेन्द्र जो महान पिता का महानतर पुत्र था, लगभग 32 वर्षों तक उस शक्ति तथा प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि में क्रियाशील रहा जो उसके पूर्ववर्ती शासन में चोल साम्राज्य ने प्राप्त की थी।"

राजाधिराज प्रथमः राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राजाधिराज 1044 ई० में सिंहासन पर बैठा। राजेन्द्र प्रथम ने पहले ही राजाधिराज को युवराज तथा अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था और अपने युद्धों तथा शासन के कार्यों में उसकी सहायता प्राप्त करता रहा। इस प्रकार अपने पिता के जीवन काल में ही उसने पर्याप्त प्रशासकीय तथा सामरिक अनुभव प्राप्त कर लिया था इसलिए सिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसे शत्रुओं का सामना करने तथा शासन के संचालन में विशेष कठिनाई न पड़ी किंतु उसका शासन काल घोर आपत्तियों तथा युद्धों का काल था। उसे जीवनपर्यन्त युद्ध करने पडे और युद्ध भूमि में ही उसकी जीवन लीला समाप्त हुई। अपने जीवन काल में उसे निम्नलिखित युद्ध करने पड़े–

लंका के साथ युद्धः राजाधिराज के पूर्वजों ने लंका पर अपना अधिकार कर लिया किंतु लंका के निवासी अपनी लुप्त राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को भूल न सके और उसे पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे। लंका निवासियों के इस प्रयास का विफल बनाने और विद्रोह का दमन करने के लिए उसने लंका राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसने विद्रोहियों का बड़ी क्रूरतापूर्वक दमन किया। लंका की राजमाता की नाक कटवा ली और बहुत से विद्रोहियों का या तो वध करवा दिया या उन्हें बंदी बना लिया। इस प्रकार बड़ी ही बर्बरता की नीति अपनाकर उसने विद्रोहियों का दमन किया और लंका पर पुनः अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ बना लिया।

चालुक्यों के साथ संघर्षः चोलों तथा चालुक्यों का संघर्ष आनुवांशिक हो गया था और राजाधिराज के शासन काल में भी वह जारी बनी रही। इन दिनों चालुक्य वंश में सोमेश्वर शासन कर रहा था। राजाधिराज ने उस पर आक्रमण कर दिया और धान्यकटक के युद्ध में उसे परास्त कर दिया। उसके उपरान्त चोल सेना ने कम्पिलि के चालुक्य राजमहल को खूब लूटा और पुण्डूर के युद्ध में चालुक्य सेना को पुनः पराजित किया। चोल सेना ने चालुक्यों की राजधानी कल्याणी पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया राजाधिराज ने कल्याणी में ही अपना राज्याभिषेक किया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में 'विजय राजेन्द्र' की उपाधि धारण की राजाधिराज की इस विजय का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी चालुक्यों का पूर्वी चालुक्यों पर कोई प्रभाव न रह सका और अब यह राज्य चोलों के पूर्ण प्रभाव में आ गया।

उपर्युक्त पराजयों के होते हुए भी सोमेश्वर ने चोलों के साथ युद्ध जारी रखा और 1050 ई० में वह चोल सेना को अपने साम्राज्य से मार भगाने में सफल हुआ। इतना ही नहीं उसने पूर्वी चालुक्यों के नरेश राजराज को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। राजाधिराज इन घटनाओं का का मूकदर्शन न बना रह सका। उसने भी युद्ध जारी रखा। 1052 ई० में राजाधिराज तथा सोमेश्वर की सेनाओं में कोप्पम में भयंकर युद्ध हुआ । इसमें युद्ध करता हुआ राजाधिराज वीरगति को प्राप्त हुआ। किंतु उसके भाई

राजेन्द्र द्वितीय ने चालुक्यों के साथ युद्ध जारी रखा और अंत में सोमेश्वर को परास्त करने में सफल सिद्ध हुआ। राजेन्द्र द्वितीय ने रणक्षेत्र में ही अपना राज्याभिषेक किया और कोल्हापुर में अपना जयस्तम्भ स्थापित किया।

राजाधिराज बड़ा ही वीर तथा साहसी सेनानायक था। उसका शासन काल घोर आपत्तियों का काल था। उसके जीवन का अधिकांश भाग रणक्षेत्र में ही व्यतीत हुआ था और युद्ध क्षेत्र में ही उसकी जीवन लीला समाप्त हुई थी। प्रारम्भ में उसे बड़ी सफलता प्राप्त हुई थी और उसने कई युद्धों में विजय भी प्राप्त की थी। अपनी इन विजयों के उपलक्ष्य में उसने एक अश्वमेघ यज्ञ भी किया था। यद्यपि वह स्वयं सोमेश्वर को परास्त न कर सका किंतु एक आदर्श सेनानायक की भांति उसने युद्ध करते हुए अपने प्राणों को विसर्जित कर दिया। 1052 ई० में उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी।

राजेन्द्र द्वितीय: राजाधिराज के बाद उसका भाई राजेन्द्र द्वितीय शासक हुआ। जब चालुक्यों के साथ युद्ध करते हुए रणक्षेत्र में उसके भाई राजाधिराज की मृत्यु हो गयी तो वहीं पर उसने अपना राज्याभिषेक करवाया था। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त भी उसका चालुक्यों के साथ युद्ध चलता रहा। 1061 ई० में वेगी के पूर्वी चालुक्य नरेश राजराज की मृत्यु हो गयी। कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर ने विजयादित्य सप्तम के पुत्र शक्तिवर्मन को वेगी के सिंहासन पर बैठा दिया और उसकी सुरक्षा तथा सहायता के लिए अपने सेनापति चामुण्डराज को भेज दिया। सोमेश्वर इतने से ही चुप न बैठा। उसने एक सेना चोल राज्य के गंगवदि प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। राजेन्द्र द्वितीय ने सोमेश्वर की इन क्रियाओं को विफल बनाने का निश्चय कर लिया। उसने एक सेना वेगी पर आक्रमण करने के लिए भेज दी जिसने चालुक्यों को बुरी तरह परास्त किया। यह युद्ध चालुक्यों के लिए इतना विनाशकारी सिद्ध हुआ कि चामुण्डराज तथा शक्तिवर्मन दोनों ही वीरगति को प्राप्त हो गय। राजेन्द्र चोल की सेना ने गंगवदि में भी चालुक्य सेना पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे बुरी तरह परास्त कर दिया। इस प्रकार सोमेश्वर के सभी प्रयासों को राजेन्द्र द्वितीय ने सिफल कर दिया। इन दिनों लंका में भी विद्रोहों का विस्फोट हो रहा था। राजेन्द्र द्वितीय ने लंका पर भी आक्रमण किया और विद्रोहों का दमन कर वहां के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार बनाए रखने में सफल सिद्ध हुआ। 1064 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

वीर राजेन्द्र: राजेन्द्र द्वितीय के पश्चात उसका छोटा भाई वीर राजेन्द्र शासक बना। उसने चालुक्य राजा के आक्रमण का सामना तुंगभद्रा को पार किया और उसे कुदाल संगमम् के स्थान पर परास्त किया। चालुक्यों ने फिर आक्रमण किया किन्तु अधिक पीछा नहीं किया। वीर राजेन्द्र ने तुंगभद्रा के तट पर विजय स्तम्भ बनवाया। सोमेश्वर प्रथम की एक मूर्ति बनायी गयी और वीर राजेन्द्र उने उसका अपमान किया।

वीर राजेन्द्र ने वेगी की ओर भी ध्यान दिया। वर्तमान बेजवाड़ा के निकट पश्चिमी चालुक्य सेना का उसने सामना किया। उसने गोदावरी को पार किया और कलिंग तथा वक्ककोट्टम पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार वेगी को पुनः विजय कर लिया गया। वीर राजेन्द्र ने पाण्डय तथा केरल राजाओं को भी दबाया जो अपनी सत्ता जमाने की चेष्टा करते रहते थे। उसने लंका के राजा विजबाहु की चोलों को द्वीप से निकालने तथा उसके अधिकार को नष्ट करने की चेष्टा को विफल किया। उसने सम्भवतः काद्र या श्रीविजय के विरुद्ध भी अभियान भेजा किंतु इसके अधिक विवरण हमारे पास नहीं हैं।

सोमेश्वर द्वितीय 1036 ई० में चालुक्य सिंहासन पर बैठा तो वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य राज्य में हस्तक्षेप किया। किंतु कुछ समय पश्चात इन दोनों राज्यों में मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हो गये। वीर राजेन्द्र ने अपनी पुत्री का विवाह चालुक्य राजकुमार विक्रमादित्य से कर दिया और उसे चालुक्य सिंहासन प्राप्त करने में सहायता देने का भी आश्वासन दिया।

अधिराजेन्द्र: वीर राजेन्द्र के बाद अधिराजेन्द्र राजा हुआ किंतु उसका सिंहासन संकट रिक्त न सिद्ध हुआ। वेगी के चालुक्य नरेश राजराज का पुत्र राजेन्द्र द्वितीय सिंहासन के लिए उसका प्रतिद्वंद्वी बन गया और उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया । इस विद्रोह से प्रोत्साहित होकर अधिराजेन्द्र के विरुद्ध चोल राज्य की जनता ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उसकी हत्या कर दी। चोलों की इस संकटापन्न स्थिति से लाभ उठाकर अब राजेन्द्र द्वितीय ने वेंगी तथा चोल राज्य दोनों पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और कुलोतुंग नाम से अपना अभिषेक करवाया।

कुलोतुग प्रथम: वेंगी तथा चोलों के एकीकरण का श्रेय कुलोतुंग को ही प्राप्त है। वह इन दोनों ही राज्यों का शासक बन गया और इस प्रकार उसकी शक्ति में वृद्धि हो गयी। यद्यपि उसने अनावश्यक युद्धों से बचने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, किंतु फिर भी उसे अपने शासन काल में अनेक युद्ध करने पड़े जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं।

चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के साथ संघर्ष: इन दिनों पश्चिमी चालुक्यों का राज्य दो भागों में विभक्त था। उत्तरी भाग में सोमेश्वर द्वितीय और दक्षिणी भाग में विक्रमादित्य शासन कर रहा था। दोनों में वैमनस्य चल रहा था। साथ ही साथ विक्रमादित्य तथा कुलोतुंग में भी शत्रुता थी क्योंकि कुलोतुंग ने विक्रमादित्य के साले अधिराजेन्द्र की हत्या करके चोल सिंहासन प्राप्त किया था। सोमेश्वर द्वितीय ने विक्रमादित्य तथा कुलोतुंग की इस शत्रुता का लाभ उठाया और कुलोतुंग के साथ संधि कर ली। 1075 ई० में कुलोतुंग ने सोमेश्वर

द्वितीय की सहायता से विक्रमादित्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में विक्रमादित्य परास्त हो गया और कुलोतुंग ने वेंगी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

हैहयों के साथ संघर्ष: इन दिनों त्रिपुरी में हैहयनरेश यशःकर्ण देव शासन कर रहा था। उसने वेंगी राज्य पर आक्रमण कर दिया चूंकि कुलोतुंग वेंगी का भी शासक था अतएव उसने हैहय नरेश के साथ लोहा लिया और उसे परास्त कर दिया।

लंका का स्वतंत्रता संग्राम: लंका पर चोल नरेशों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था किंतु लंका नरेश अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। कुलोतुंग के शासन काल में भी यह प्रयत्न चलता रहा। लंका नरेश विजयबाहु ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ कर दिया। उसने चोल सेनाओं को परास्त करके उन्हें अपने देश से निष्कासित कर दिया और 1052 ई० में अपने को लंका का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। कुछ साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुलोतुंग ने लंका नरेश के साथ मैत्री संबंध स्थापित कर लिया और अपनी पुत्री का विवाह लंका के एक राजकुमार के साथ कर दिया।

पाण्डयों तथा चेरों का विद्रोह: कुलोतुंग की संकटापन्न स्थिति से लाभ उठाकर पाण्डय तथा चेर नरेशों ने जो उनकी अधीनता में शासन कर रहे थे, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपने को स्वतंत्र करने के प्रयास में संलग्न हो गये किंतु कुलोतुंग ने उन्हें कई युद्धों में परास्त किया और अपनी स्वतंत्रता स्वीकार करने के लिए अपने अनुशासन एवं नियंत्रण में रखने के लिए कुलोतुंग ने अपने राज्य में कई उपनिवेश स्थापित किये।

कडारम पर आक्रमण: कहा जाता है कि कुलोतंग ने कडारम अर्थात श्रीविजय पर आक्रमण करके उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया था किंतु यह कथन विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता क्योंकि 1090 ई० में श्रीविजय के नरेश ने कुलोतंग के पास अपना एक दूत भेजा था जिसके प्रयत्न से कुलोतंग ने नेगपटम में स्थित एक बौद्ध विहार की भूमि को मुक्त कर दिया था।

कलिंग विद्रोह का दमन: इन दिनों दक्षिणी कलिंग वेंगी राज्य के अधीन था। 1096 ई० में दक्षिणी कलिंग ने अपने को स्वतंत्र बनाने के लिए विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया किंतु कुलोतंग ने इस विद्रोह का दमन कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल पश्चात् कलिंग राज्य ने कुलोतंग को कर देना बंद कर दिया और विद्रोह कर दिया। अतः चोल सेना ने कलिंग पर पुनः आक्रमण कर दिया और उसकी सेना को परास्त करके उसे पुनः कर देने के लिए विवश किया।

गहड़वालों से मैत्री संबंध: कुलोतंग के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कन्नौज के गहड़वालों के साथ उसके संबंध बड़े ही मधुर तथा मैत्रीपूर्ण थे।

कुलोतंग के शासन काल का अंतिम चरण भयानक आपत्तियों तथा असफलताओं का काल था। इस संकट काल में होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन ने चोल साम्राज्य के गंगवादि, नीलम्बवादि तथा तलकाड प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार कुलोतंग के शासन के अंतिम वर्षों में चोल साम्राज्य को बड़ी क्षति उठानी पड़ी और लंका, गंगवादि, नीलम्बवादि तथा वेंगी आदि प्रदेश उसके अधिकार से निकल गये।

कुलोतंग ने विदेशों के साथ संबंध स्थापित किया। श्रीविजय के एक राजदूत 1090 ई० में कुलोतंग की राजसभा में आया था जिसकी प्रार्थना को कुलोतंग ने स्वीकार कर लिया था। कुलोतंग ने चीन के साथ भी मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया था। उसने 1077 ई० में व्यापारियों को चीन भेजा।

कुलोतंग के शासन को हम प्रारम्भिक सफलताओं तथा अन्तिम विफलताओं का शासन कह सकते हैं। यद्यपि वह अनेक युद्धों में विजयी रहा और अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में होने वाले विद्रोहों के दमन में भी सफल रहा किंतु उसे अनेक युद्धों में असफलता को भी आलिंगन करना पड़ा। उसके शासन काल का अंतिम चरण बड़ा ही दुखद तथा साम्राज्य की विच्छिन्नता का काल कहा जाता है। उसके साम्राज्य के अनेक प्रदेश स्वतंत्र हो गये थे और उसका साम्राज्य अत्यंत संकीर्ण हो गया था। फिर भी के० एन० शास्त्री ने उसकी गणना महान सम्राटों में की है। उन्हीं के शब्दों में "इतना होने पर भी कुलोतंग की गणना चोल वंश के महान सम्राटों में की जानी चाहिये। उसके दीर्घकालीन शासन की विशेषता यह थी कि वह सफलता तथा सम्पन्नता में अतुलनीय था। उसने अनावश्यक युद्धों से बचने का प्रयत्न किया और उसकी नीति के स्थाई परिणाम उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में दृष्टिगोचर हुए।

विक्रमचोल: कुलोतंग के उपरान्त उसका पुत्र विक्रमचोल 1120 ई० में सिंहासन पर बैठा। विक्रम चोल का सर्वप्रथम वेंगी की समस्या को सुलझाना पड़ा। 1118 ई० में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्टम ने वेंगी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। 1126 ई० में विक्रमादित्य की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय वेंगी के सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा ही शान्तिप्रेय नरेश था। विक्रमचोल ने वेंगी पर आक्रमण कर उस पर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने गंगवादि पर भी आक्रमण कर वहां के कोलार जिले को अपने अधिकार में कर लिया।

विक्रमचोल वैष्णव धर्म का अनुयायी था। नये मन्दिरों को बनवाने तथा पुराने मन्दिरों की मरम्मत करवाने में उसने बड़ा उत्साह प्रकट

किया। कहा जाता है कि आचार्य रामानुज उसके समय में मैसूर के चोल राज्य में लौट आए थे। जैन लेखक भावनन्दी उसी के समय में हुए थे। विक्रम चोल ने 1120 ई० से 1135 ई० तक शासन किया।

कुलोतंग द्वितीय: विक्रमचोल के उपरान्त कुलोतंग द्वितीय चोल नरेश हुआ। वह बड़ा ही शान्तिप्रिय शासक था। वह भी वैष्णव धर्मावलम्बी था किंतु अन्य धर्मों के प्रति वह बड़ा ही उदार तथा सहिष्णु था। सामरिक दृष्टिकोण से वह एक निर्बल शासक प्रतीत होता है और चोल वंश को वह पतन से न बचा सका। कुलोतंग द्वितीय साहित्यानुरागी तथा साहित्यकारों का आश्रयदाता था। उसी के शासन में सेक्किलर तथा कम्बन जैसे विद्वान हुए। उसने 1135 ई० से 1150 ई० तक शासन किया।

राजराजा द्वितीय: कुलोतंग द्वितीय के पश्चात राजराजा द्वितीय शासक बना। इन दिनों पाण्डय राज्य में पराक्रम पाण्डय तथा कुलशेखर पाण्डय में उत्तराधिकार के लिए युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में पराक्रम पाण्डय मारा गया और कुलशेखर पाण्डय राजा बन गया किंतु लंका नरेश पराक्रमबाहु ने पाण्डय राज्य पर आक्रमण कर दिया और कुल शेखर पाण्डय को सिंहासन से हटाकर उसके स्थान पर पराक्रम पाण्डय के पुत्र वीर पाण्डय को राजा बना दिया। कुलशेखर पाण्डय ने चोल नरेश राजराजा द्वितीय से सहायता मांगी। राजराजा द्वितीय ने एक चोल सेना उसकी सहायता के लिए भेज दी। जिसने लंका की सेना को परास्त कर मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और कुलशेखर पाण्डय को सिंहासन पर बैठा दिया। राजराजा द्वितीय ने 1150 ई० से 1173 ई० तक शासन किया।

राजाधिराज द्वितीय: राजराजा द्वितीय के उपरान्त राजाधिराज द्वितीय सिंहासन पर बैठा, उसके शासन काल में भी वीर पाण्डय तथा कुलशेखर पाण्डय में उत्तराधिकार के लिए युद्ध चलता रहा। किंतु अबकी बार सहायकों का पलड़ा बदल गया। लंका नरेश पराक्रमबाहु ने कूटनीति से काम लिया। उसने कुलशेखर पाण्डय को अपनी ओर मिला लिया और उसके साथ चोल नरेश के विरुद्ध एक संधि कर ली। राजाधिराज ने भी पैतरा बदला और उसने वीर पाण्डय का पक्ष लिया। उसने एक चोल सेना पाण्डय राज पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। इस सेना ने मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वीर पाण्डय को वहां के सिंहासन पर बैठा दिया। राजाधिराज द्वितीय ने 1173 ई० से 1178 ई० तक शासन किया।

कुलोतंग तृतीय: राजाधिराज द्वितीय के उपरान्त कुलोतंग तृतीय सिंहासन पर बैठा। वह चोल वंश का अन्तिम शक्तिशाली नरेश था। अपने पूर्वजों की भांति उसे भी पाण्डय राज्य के आंतरिक झगड़ों में भाग लेना पड़ा। उसके शासन काल में लेका नरेश पराक्रम बाहु ने वीर पाण्डय को अपनी ओर मिला लिया और उसे अपने प्रभाव में कर लिया। कुलोतंग के लिए यह असह्य था। उसने वीर पाण्डय के अन्य सम्बन्धी विक्रम पाण्डय को राजा बनाने का निश्चय किया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक सेना मदुरा पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। इस सेना ने मदुरा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और विक्रम पाण्डय को वहां का राजा बना दिया। वीर पाण्डय कुछ समय तक युद्ध करता रहा किंतु अंत में उसने कुलोतंग के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

कुलोतंग ने होयसलों की भी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयास किया और उनके राज्य के भू–भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कालोपरान्त होयसलों के साथ कुलोतंग की मैत्री हो गयी और होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय ने एक चोल राजकुमारी के साथ अपना विवाह कर लिया।

कुलोतंग तृतीय का चेरों के साथ भी युद्ध हुआ। इसमें कुलोतंग की विजय हुई और इस विजय उपलक्ष्य में उसने अपना विजयाभिषेक करवाया।

कुलोतंग को एक बार फिर पाण्डय राज्य में हस्तक्षेप करना पड़ा। 1190 ई० में विक्रमपाण्डय की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर उसका पुत्र जयवर्मन कुलशेखर सिंहासन पर बैठा। उसने चोल नरेश के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। कुलोतंग तृतीय ने एक चोल सेना इस विद्रोह का दमन करने के लिए भेज दी। इस सेना ने विद्रोह का दमन किया और मदुरा को खूब लूटा। कुलोतंग के शासन काल तेलगु चोडो ने भी कई बार विद्रोह किया किंतु कुलोतंग ने इस विद्रोह का भी दमन किया। कुलातंग तृतीय ने 1178 ई० से 1206 ई० तक शासन किया।

राजराज तृतीय: कुलोतंग तृतीय के उपरान्त राजराज तृतीय सिंहासन पर बैठा। उसका शासन काल चोल वंश के पतन का काल था। अभाग्यवश उसे पाण्डयों होयसलों तथा काकतीयों शक्तियों का एक साथ सामना करना पड़ा जिसके यह सर्वथा अयोग्य था। पाण्डयों ने तंजौर पर आक्रमण कर दिया और राजराज को परास्त करके उसे बंदी बना लिया। किंतु होयसल नरेश नरसिंह द्वितीय की सहायता से उसे मुक्ति मिल गयी।

कुछ समय उपरान्त राजराज तृतीय के एक सामन्त पेरूजिंग ने विद्रोह करके उसे बंदी बना लिया किंतु एक बार फिर होयसल नरेश की सहायता से मुक्ति मिल सकी और सामन्त को पुनः वह अपने अधीन कर सका। किंतु अब वह दूसरों पर आश्रित बन गया और उसकी शक्ति नगण्य हो गयी। राजराज तृतीय ने 1206 ई० से 1246 ई० तक शासन किया।

राजेन्द्र तृतीय: राजराज तृतीय के उपरान्त राजेन्द्र तृतीय शासक बना। यह चोल वंश का अंतिम स्वतंत्र शासक था। [illegible] तथा राजेन्द्र तृतीय में गृहयुद्ध की अग्नि भड़क उठी थी। इससे राज्य की शक्ति बड़ी निर्बल हो गयी। सर्वत्र अशांति फैल गया था। गृहयुद्ध से सीमान्त राज्यों को अपने राज्य के परिवर्द्धन का अवसर मिल गया और द्वारसमुद्र के होयसल, वारंगल के काकतीय तथा मदुरा के पाण्डय चोल राज्य की छीन झपटी में लग गये। राजेन्द्र तृतीय के शासन काल में चोल राज्य पर अंतिम आघात पाण्डय राजा जटावर्मन सुन्दर पाण्डय द्वारा किया गया। उसने चोल राज्य को बहुत बड़े भूभाग पर विजय प्राप्त कर ली। उसने सम्भवतः कांची पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। राजेन्द्र तृतीय राज्य को स्थिर नहीं रख सका और 1279 ई० तक आंतरिक कलह, सामन्तों के विद्रोह तथा पाण्डय राज्य के विनाश के कारण चोल शक्ति पूर्णतः नष्ट हो गयी और उसके राज्य का अंत हो गया।

चोल प्रशासन: चोलों ने एक अत्यंत कार्यकुशल प्रशासन प्रणाली की स्थापना की। प्रशासन का प्रान्तों में बांटा गया था जिन्हें मण्डलम कहा जाता था। प्रान्तों की संख्या बदलती रहती थी। कभी यह संख्या छह थी कभी आठ थी। प्रत्येक मण्डल कई कोट्टम में विभक्त था। प्रत्येक कोट्टम कई नाडुओं में विभक्त था और प्रत्येक नाडु में अनेक ग्राम संघ थे जिन्हें कुर्रम अथवा तरकुरम कहा जाता था। वे प्रशासन की ईकाइयां थे।

राजा: राजा प्रशासन का प्रमुख था। चोल साम्राज्य के विस्तार और साधनों से उनकी शक्ति सम्मान में वृद्धि होती थी। उनके भड़क बहुत ज्यादा थी। चोल राजाओं ने अपनी असफलताओं की परिचयात्मक प्रभावाशाली उपाधियां धारण की। उनके बड़े खर्च सम्मान दिया करते थे। मन्दिरों को अपार धन दान में देते थे। चोल राजाओं ने मूर्तियों को राजसी नाम देने का ढंग शुरू कर दिया। दानी राजाओं और रानियों की मूर्तियां मन्दिरों में स्थापित की गयी और उनकी वहां पूजा की जाती थी। साधारण तथा उत्तराधिकार प्रथागत था। किंतु कभी–कभी प्रशासनिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस नियम में परिवर्तन भी कर दिया जाता था। चोल राजाओं को सभी शक्तियां प्राप्त थीं। किंतु निरंकुशता, मंत्री परिषद और सुव्यवस्थित प्रशासनिक कर्मचारी मण्डल के धारण सीमित थी। विभाग के प्रमुख राजा के निकट होते थे और राजा प्रायः उनसे परामर्श लिया करता था। राज्याधिकारियों को वेतन भूमि के रूप में दिया जाता था। उन्हें अपाधियां देकर सम्मानित और प्रोत्साहित किया जाता था। उच्च अधिकारियों को 'पेरुन्दरम' की स्थिति प्राप्त थी और निचले कर्मचारियों को 'सीरुतरम' की स्थिति प्राप्त थी।

राज्य विभाजन: चोल शासन–व्यवस्था सम्पूर्ण राज्यम् अथवा राष्ट्र कई मण्डलम में विभक्त था। प्रत्येक मण्डलम के शासक के रूप में एक प्रान्तपति नियुक्त रहता था। कुछ प्रान्तों का शासन राजकुमारों को दिया जाता था और कुछ में विजित राजा तथा उनके वंशज होते थे। यह लोग चोल राजा को कर देते थे और आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता करते थे। प्रत्येक मण्डलम कई कोट्टम अथवा बलनाडु में विभक्त रहता था। प्रत्येक नाडु कुर्रम अथवा ग्राम समूहों का होता था। ग्राम शासन की सबसे छोटी ईकाई थी।

समितियां: चोलों की शासन व्यवस्था का संचालन समितियों द्वारा होता था। सम्पूर्ण मण्डल अथवा प्रान्त के लागों की एक सामान्य सभा होती थी । यह समिति भूमि कर में कमी अथवा उसे माफ कर सकती थी। प्रत्येक नाडु अथवा जिले के लिए एक अलग सामान्य सभा होती थी जो नाट्टर कहलाती थी। यह समितियां व्यापार की सुव्यवस्था करती थी। इनके अतिरिक्त स्थानीय शासन के लिए श्रेणियां, पूग तथा अन्य संस्थाएं होती थी। प्रत्येक व्यवसाय वाले अपने सदस्यों की समितियां बना लेते थे। ग्रामों के लिए ग्राम सभा समितियां होती थी जो उर कहलाती थी। यह गांव निवासियों की साधारण सहमति होती थी। गांवों की एक और सभा होती थी जिसे महासभा कहते थे। इस सभा के सभी सदस्य ब्राह्मण होते थे जिन्हें ब्रह्मदेव कहते थे। ग्रामवासियों में निरीक्षण के लिए एक सरकारी पदाधिकारी होता था जो अधिकारीन कहलाता था। ग्राम समितियों को अपने प्रबंध की पूर्ण स्वतंत्रता रहती थी। गांवों की भूमि इन्हीं समितियों की भूमि समझी जाती थी। किसानों की रक्षा का हर प्रकार से प्रबंध किया जाता था। सारे जंगलों को काटकर नई भूमि कृषि के लिए प्राप्त की जाती थी, भूमि कर भी इन्हीं समितियों द्वारा एकीकृत किया जाता था। भूमि कर न देने पर भूमि छीन ली जाती थी। परंतु कर वसूल करने में उदारता दिखाई जाती थी। धार्मिक कार्यों के लिए बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के सामान्य को भूमि बेचने का अधिकार था। समिति रूपये भी जमा कर सकती थी और दान की भूमि का भी प्रबंध करती थी। ग्राम सभा न्याय का भी कार्य किया करती थी। मठों के द्वारा संस्कृत तथा तमिल दोनों की शिक्षा का प्रबंध सभा को करना पड़ता था। इस बारे में ठीक ठीक से पता नहीं लग सका है कि सभा में कितने सदस्य होते थे। सभा की बैठक मन्दिर अथवा सार्वजनिक भवन में हुआ करती थी। यदि भवन की सुविधा नहीं रहती थी तो वृक्ष के नीचे ही बैठक हो जाया करती थी। सार्वजनिक हित के विभिन्न कार्यों के लिए अलग–अलग समितियां होती थी। इन समितियों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। निर्वाचन के लिए क्षेत्र बांट दिया जाता था जिन्हें कुटुम्ब कहते थे। वोट देने वालों की योग्यता निश्चित रहती थी। गांवों का हिसाब किताब रखा जाता रहता था और बेईमानी करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था।

आय तथा व्यय: राज्य की आय मुख्यतः भूमि से प्राप्त होती थी। उसे ग्राम परिषद धन अथवा पदार्थ के रूप में देती थी। [illegible] भूमि व्यक्तियों और समुदायों के अधिकार में थी, कृषकों के स्वामीत्व और भूमि अधिकार के अन्य रूप प्रचलित थे। कृषकों की [illegible] सरकार तथा स्थानीय कर्मचारी विशेष ध्यान दिया करते थे। पानी नदियों और तालाबों से लिया जाता था। [illegible]

में रखना ग्राम परिषदों का कर्तव्य था। राजराज प्रथम के समय में राज्य का भाग कुल उत्पादन का तीसरा भाग था। यह भाग विस्तृत भूमि सर्वेक्षण के पश्चात निश्चिम किया गया था। राजराज प्रथम और कुलोतंग प्रथम ने ऐसे सर्वेक्षणों के लिए आदेश दिये थे। भूमि के वर्गीकरण और भूमिकर मूल्यांकन को समय–समय पर दोहराया जाता था।

राज्य की आय के अन्य स्त्रोत आयात कर चुंगी, व्यवसायों पर विभिन्न प्रकार के कर, खानों, वनों, नमक कण्ड आदि पर कर थे। इन टैक्सों का उद्देश्य भूमि कर की पूर्ति करना था जो कई कारणों से बदलता रहता था जैसे वर्षा की कमी दुर्भिक्ष आदि बेगार ली जाती थी। जागीरदारों के उदय से प्रजा पर करों का भार अधिक हो गया होगा। यदि भूमि कर न दिया जाए तो सरकार भूमि बेच सकती थी। मन्दिरों की भूमि भी कर से मुक्त नहीं थी।

राज्य के व्यय का मुख्य शीर्षक राजा और उसका दरबार, नागरिक प्रशासनीय, कर्मचारीगण, सेना और नौसेना, सड़कें, सिंचाई के तालाब और नहरें, मन्दिरों का ध्यान तथा अन्य धार्मिक अनुदान थे।

चोल राजा सार्वजनिक हित के कार्यों पर भी बहुत धन खर्च करते थे। वे सड़कों, पुलों और नावों को ठीक अवस्था में रखते थे। सिंचाई की विस्तृत व्यवस्था थी। बड़ी नदियों के पानी को छोटी नहरों में ले जाने के लिए व्यवस्था की जाती थी। कृत्रिम जलाश्यों, तालाबों और कुओं को भी सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता था।

सैनिक संगठनः चोल राजा बहुत बड़ी सेना और नौसेना रखते थे। सेना हाथी, अश्व सेना और पैदल सेना सम्मिलित थे। चोल अभिलेखों में 70 सैनिक समुदायों का उल्लेख है। सैनिक समुदायों का प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। वे नागरिक जीवन में भाग लेते थे और मन्दिरों को अनुदान देते थे। उन्हें प्रशिक्षण और अनुशासन सिखाने में अत्यन्त सावधानी से काम लिया जाता था। सैनिकों को छावनियों में रखा जाता था। हाथी सेना की संख्या 60,000 थी। और पूरी सेना की संख्या 1,50,000 थी। इसमें मुख्यतः केक्कोल या सेगुन्दर थे। बेलेक्कर राजा के अंग रक्षक थे। अपने प्राण देकर भी वे राजा की रक्षा करने का प्रण लेते थे। राजा की चिता पर जलने को तत्पर रहते थे। अश्वसेना को शक्तिशाली बनाने के लिए अरबी घोड़ों को खरीदा जाता था। किंतु दक्षिण भारत की जलवायु के कारण उनमें से अधिकांश जीवित न रहे। राजा और राजकुमार सेनाओं का नेतृत्व करते थे।

सेनानियों की पदवियां 'नायक', 'सेनापति' या 'महादण्डनायक' थी। इसके अतिरिक्त 'वेल्लाल', ब्राह्मण और अन्य पदवियां थी। कभी–कभी गाय बैल उठा लेने से ही युद्ध आरम्भ हो जाते थे। युद्ध में विशिष्टता दिखाने वालों को 'क्षत्रिय शिखामणि' उपाधि दी जाती थी। युद्ध में चोल राजा बर्बरों की तरह व्यवहार करते थे। स्त्रियां और बच्चों को भी नहीं छोड़ा जाता था। स्त्रियों की बेइज्जती की जाती थी। लोगों को बहुत कष्ट दिये जाते थे। कभी–कभी राजदूतों की पवित्रता का भी उल्लंघन किया जाता था।

एक चीनी लेखक ने 1178 ई० में चोल देश और उसकी सेना का निम्न वर्णन किया है "यह देश पश्चिम के साम्राज्यों से युद्ध में संलग्न है। सरकार के पास 60,000 लड़ाकू हाथी थे, प्रत्येक हाथी सात या आठ फुट ऊंचा है। लड़ते समय हाथी की पीठ पर हौदे होते हैं। यह हौदे सैनिकों से भरे होते हैं जो लम्बी मार करने वाले तीर छोड़ते हैं तथा समीप आकर भालों से लड़ते हैं। विजयी होने पर हाथियों को सम्मानसूचक नाम दिये जाते हैं जो उनके गुणों को व्यक्त करते हैं। कुछ उन्हें मखमली और सुनहरी पर्दे पहनाते हैं। प्रतिदिन हाथियों को राजा के सामने ले जाया जाता है।"

चोलों के पास सम्भवतः शक्तिशाली नौसेना थी जिसकी सहायता से वे कोरोमण्डल और मालाबार तटों की रक्षा करते थे। बंगाल की खाड़ी एक चोल झील बन गई। व्यापारिक जहाजों को सेना के आवागमन के लिए प्रयोग किया जाता था। चोल नौसैनिक युद्धों को जहाजों पर लड़े गये भूमि युद्ध कहा गया है। इसी नौसेना की सहायता से चोलों ने वृहत्तर भारत में विजयें प्राप्त की।

सामाजिक अवस्था

वर्णव्यवस्थाः चोल काल में परम्परागत चार वर्ण विद्यमान थे और तत्कालीन समाज इन्हीं चार जातियों में विभक्त था। किंतु इनके अतिरिक्त अनेक मिश्रित उप–जातियों का उदय भी हो गया था। उदाहरणार्थ व्यवसाय के आधार पर समाज में दो नये वर्ग वलंगाई तथा इंदगाई उत्पन्न हो गये थे जिनका अनेक उप–वर्गों में भी विभाजन हो गया था। कहा जाता है कि इन दोनों वर्गों का उदय चोल नरेश कारिकल के समय में हुआ था। जबकि दो प्रकार के उद्योग धंधों में संलग्न लोग अपनी कठिनाईयों को उस नरेश से कहने के लिए उसके दाए और बाए आकर खड़े हो गये थे। जो लोग राजा के बायी ओर खड़े हुए वे इंदगाई जो उसके दाहिनी ओर खड़े हुए थे बलंगाई कहलाए। कुलोतंग के शासन काल में इंदगाई लोगों ने अपने को अग्निकुलीय घोषित किया और अपने 98 उपवर्ग बतलाए।

समाज की सभी जातियों को समान अधिकार न प्राप्त था वरन् कुछों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे और कुछ पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये गये थे। ऐसा प्रतीत होता है ब्राह्मणों को सबसे विशेषाधिकार प्राप्त थे और शूद्रों पर अनेक प्रतिबंध थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि जाति के आधार पर अलग–अलग बस्ती का निर्माण आरम्भ हो गया था। विशेषकर ब्राह्मण लोग अपनी पवित्रता तथा श्रेष्ठता के कारण अपनी अलग बस्तियां बनाकर निवास किया करते थे। अन्य जातियों ने भी सम्भवतः अपनी

इस प्रकार की अलग बस्तियां बना ली थी। इसके जातिय ऊंच–नीच का भेदभाव आभासित होता है।

विवाह: इस काल में सजातीय विवाहों का प्रचलन था किंतु अपवाद के रूप में अनुलोम तथा प्रतिलोग अर्थात अन्तर्जातीय विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। इसके फलस्वरूप मिश्रित जातियों का भी उदय हो रहा था।

प्राय: एक पत्नी विवाह की प्रथा का प्रचलन था। किंतु राजा, महाराजा, सामन्त तथा धनी वर्ग के लोगो अनेक पत्नियां होती थी

दास प्रथा: चोल समाज में दास प्रथा का भी प्रचलन था किंतु दासों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था

श्रमिक वर्ग: समाज में श्रमिकों का एक वर्ग था जो मजदूरी करके अपनी जीविका चलाता था। यह वर्ग समाज का दुर्बल वर्ग था और उसकी आर्थिक दशा चिन्ताजनक थी।

स्त्रियों की दशा: चाले शासन काल में स्त्रियों की दशा संतोषजनक थी। इन्हें सामाजिक कार्यों म भाग लन की स्वतन्त्रता थी किंतु लज्जाशीलता स्त्रियों का विशिष्ट गुण माना जाता था। कुछ अभिलेखों से पता लगता है कि स्त्रिया सम्पत्ति की भी अधिकारिणी हुआ करती थी। किसी–किसी अभिलेख में सती प्रथा के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ परान्त द्वितीय की पत्नी वन्वन अपने पति के साथ सती हो गयी थी।

धार्मिक दशा

यद्यपि चोल राजा शैव थे परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता थी। उदाहरण के लिए राजराज प्रथम स्वय शैव था परन्तु उसने विष्णु मंदिर भी बनवाए थे और उन्हें दान दिया था। बौद्धों के साथ भी वह सहानुभूति प्रकट करता था और बेगपरम से बौद्ध विहारों को उसने दिया था। इसी प्रकार जैन लोग भी शान्तिपूर्वक अपने धर्म का पालन करते थे और अपने मत का प्रचार करते थे। कुलोतंग प्रथम भी शैव मत का अनुयायी था परंतु उसने भी एक बौद्ध विहार का दान दिया था परंतु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वैष्णव आचार्य उसके कृपापात्र न हो सके और उन्होंने विवश होकर चोल राज्य छोड़कर मैसूर के होयसल राजा के राज्य में शरण लेनी पड़ी। परन्तु विक्रमचोल के काल में रामानुज को फिर चोल राज्य का आश्रय प्राप्त हो गया। वे मैसूर से तंजौर लौट आए और शान्तिपूर्वक अपना उपदेश देते एवं अपने मत का प्रचार करने लगे। वास्तव में इस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जैसा कि कुलोतंग प्रथम ने किया था। प्राय शैव और वैष्णव दोनों ही स्वतंत्रापूर्वक अपने–अपने धर्म का पालन और अपने मतों का प्रचार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि चोल के काल में वैदिक यज्ञ तथा बलिदान का बहुत कम प्रचार था। इस काल में राजाधिराज द्वारा किये गये केवल अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चोल राजा यज्ञ की अपेक्षा दान पर अधिक जोर देते थे और ब्राह्मणों तथा देवालयों को वृहत धन दान के रूप में दिया करते थे।

साहित्य: प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री का मत है "साहित्य में अन्य अधिकांश क्षेत्रों की भांति दक्षिण भारतीय इतिहास में सबसे अधिक रचनात्मक युग चोल काल रहा है।" चोल शासन काल में तमिल साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। वस्तुत इस काल को तमिल साहित्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इस काल के अधिकांश गंथ तथा अभिलेख तमिल भाषा में लिखे गय है। इस काल में दक्षिण में संस्कृत के बहुत कम ग्रंथ लिखे गये। इस समय के जो संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें बेकर माधव कृत ऋगदेव का भाष्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तमिल साहित्य की रचना तथा उसके उद्विकास में ब्राह्मण धर्मावलम्बियों जैनियों तथा बौद्धों का समान रूप से योगदान रहा है। कुलोतंग तृतीय के शासन काल में कम्बन नामक सुविख्यात कवि न रामावतारम् नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसी सम्राट के शासन काल में जयगोन्दार नामक जैन विद्वान ने कलिंगत्तुपणि नामक ग्रंथ लिखा था जिसमें कलिंग विजय का वर्णन किया गया गया है। पुगलेन्दिर नामक कवि ने नल की कथा के आधार पर 'नवलेम्ब' नामक ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में शैव धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपाद किया गया है। दण्डियलगारम् नामक ग्रंथ की रचना भी दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर इसी काल में की गयी थी।

इस काल में जैन विद्वानों ने तिरुत्कदेवर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने जीवन चिन्तामणि नामक महाकाव्य की रचना की थी। अमृत सागर नामक एक अन्य जैन विद्वान ने काव्यादर्श के आधार पर एक तमिल ग्रंथ की रचना की थी। नन्नमूले नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना पवनन्दिर नामक जैन विद्वान ने की।

चोल काल में बौद्ध विद्वानों ने भी अपने ग्रंथ लिखे। इन विद्वानों की रचनाओं में 'कुण्डलकेशि' नामक काव्य रचना सबसे प्रसिद्ध है। इसी समय बुद्धमित्र नामक बौद्ध विद्वान ने वीरसोलियम नामक ग्रंथ की रचना की।

चोल कला: चोलों ने द्रविड़ शैली को विकसित किया और उसे लगभग परिपूर्ण बना दिया। चोल वंशी महान निर्माता थे और उन्होंने बड़े–बड़े आकार की वस्तुएं बनायी। इस संबंध में उनके सिंचाई के कार्यों और योजनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। "राजेन्द्र चोल द्वारा अपनी नई राजधानी गंगईकोण्ड चोलपुरम् के निकट बनायी गयी कृत्रिम झील अपने पत्थरों के जलद्वारों

और नहरों सहित सोलह मील लम्बी थी। कटे हुए बड़े–बड़े पत्थरों के बने बांध कावेरी तथा अन्य नदियों पर बनाए गये।" चोल नगर सम्भवतः योजनानुसार निर्मित थे। नगर का केन्द्र मंदिर था।

चोल निर्माण कला की कलात्मक परम्परा की शुद्धता के लिए प्रशंसनीय है। फर्गुसन ने तो यहां तक कह दिया है कि चोल कलाकार कल्पना में महान थे और सम्पादन के जौहरी थे। द्रविड़ शिल्प कला को प्रभावित करने वाली एक नई चीज चोल कला में विकसित हुई और यह थी मन्दिर के अहाते में गोपुरम नामक विशाल प्रवेश द्वार बनाना। पाण्डयों के अधीन यह विशेषता अधिक विकसित हुई।

त्रिचनापल्ली जिले में श्रीनिवासनलूर के स्थान पर कोरंगनाथ का मन्दिर आरम्भिक चोल मन्दिर निर्माण कला का उदारहण है। यह सम्भवतः परान्तक प्रथम के समय का है। यह साधारण आकार का है और इसमें केवल एक देवालय और मण्डप है। दोनों केवल पचास फुट में हैं। इस मन्दिर की एक विशेषता यह है कि विमान की दीवारों पर मूर्तिकला के दर्शन होते हैं जिसमें हिन्दू देवी–देवताओं की पूरी मर्तियां हैं जो खाली स्थानों में रखी गयी हैं। यह कहा गया है कि महान चोलों के अधीन द्रविड़ शैली में यह मन्दिर एक नये रूप को आरम्भ करता है।

राजराजा महान और राजेन्द्र चोल ने दो मन्दिर बनवाए जिन्हें द्रविड़ मन्दिर शैली की दो महान कृतियां माना जाता है। राजराजा महान ने तंजौर में बुद्दीश्वर नामक एक मन्दिर बनवाया जिसे इसके राजसी निर्माता के नाम पर राज राजेश्वर मन्दिर कहा जाता है। इसकी रचना लगभग 1003 ई० में आरम्भ हुई और लगभग 1010 ई० में समाप्त हुई। दूसरा मन्दिर 1025 ई० में राजेन्द्र चोल ने अपनी नई राजधानी गंगईकोण्ड चोलपुरम में बनवाया। कहा गया है कि इन दो मन्दिरों में चोल राज्य के शक्तिशाली साधनों के शिखर का अनुमान लगाया जा सकता है।

तंजौर मन्दिर दीवारों से घिरे 500 फुट लम्बे और 200 फुट चौड़े क्षेत्र में है। मन्दिर का मुख्य भाग 180 फुट है और उसका एक महान शिखर या शीर्ष है जिसकी चौदह मंजिलें हैं जो 190 फुट ऊंची है। इसके ऊपर एक विशाल गुम्बद है जो एक ही पत्थर की चट्टान से बना हुआ है। यह 25 फुट ऊंचा है और इसका भार 80 टन है। शीर्ष आकार तक समस्त विशाल मन्दिर मूर्तियों और अलंकारों से ढका हुआ है। यह मन्दिर कई भागों में बंटा हुआ है। इसमें एक नन्दिमण्डप, स्तम्भों वाला बरामदा और एक विशाल सभाकक्ष है। तंजौर विमान में सशक्तता और स्थिरता का आभास है और ऊंची उठती हुई लम्बात्मकता की काव्यमयी विशेषता है जो गुम्बदाकार स्तुपिका से और भी बढ़ जाती है। यह स्तुपिका शुण्ड की चतुवर्गी चोटी पर एक हल्क किन्तु वर्त की भांति पड़ी है और सारी रचना के ही हवाई हल्केपन का प्रभाव सा देती प्रतीत होती है। पर्सी ब्राउन के मतानुसार "तंजौर विमान समस्त भारतीय शिल्पकला की कसौटी है।" तंजौर मन्दिर के विषय में ठीक ही कहा गया है। मन्दिर निर्माण कला की सबसे बड़ी, सबसे ऊंची और सबसे अधिक महत्वाकांक्षापूर्ण कृति है।

राजेन्द्र चोल द्वारा अपनी राजधानी गंगईकोण्ड चोलपुरम में बन गया मन्दिर मुख्यम लक्षणों में अपने पिता द्वारा बनवाए गए मन्दिर से मिलता–जुलता है। दुख का विषय यह है कि उसकी हानि हो चुकी है। अब यह एक उजड़े हुए गांव की मिट्टी की कुटिया कुटियों के बीच है। मन्दिर एक विशाल चारदीवारी के बीच बना हुआ है। प्रतीत होता है कि चारदीवारी एक दुर्ग की दीवारों की भांति है। इस आंगन के बीच मुख्य भवन 240 फुट लम्बे और 100 फुट चौड़े आयताकार क्षेत्र में है और इसकी लम्बी अक्ष पूर्व से पश्चिम की ओर है। इसमें एक बड़ा मण्डप 175 फुट लम्बा और 90 फुट चौड़ा है, एक विशाल विमान 100 फुट लम्बा और 100 फुट चौड़ा है और उनको मिलाने वाला एक विशाल कक्ष है। इस कक्ष की उत्तरी और दक्षिणी दीवारें में दो सहायक प्रवेश द्वार हैं। मण्डप निचाई पर है और इसकी दत चपटी है जो 150 से भी अधिक स्तम्भों पर टिकी हुई है।

राजराजा महान और राजेन्द्र चोल के उपर्युक्त मन्दिरों में द्रविड़ शैली ने सर्वोच्च अभिव्यक्ति प्राप्त की तंजौर विमान की भव्यत में विशालता और उभरती हुई आलम्बात्मकता का सम्पूर्ण संतुलन पा लिया गया। गंगईकोण्ड चोल पुरम मन्दिर में कल्पना के रूप में शिल्पी आधार मुख्य है किंतु अलंकार अधिक विलक्षण हो गया है और इसमें अधिरता दिखाई देती है जो सीमा को लांघती हुई और अत्यधिक विकास के कारण बह निकलती हुई प्रतीत होती है।

- **मूर्ति निर्माण कला:** चोलों का शासन काल मूर्ति निर्माण कला अथवा स्थापत्य के लिए प्रसिद्ध है। इस काल के मन्दिरों में नटराज की जो मूर्तियां निर्मित की गयी हैं वे अपने सौंदर्य के लिए सुप्रसिद्ध हैं। नटराज के अतिरिक्त विष्णु, गणेश, पक्षों, अप्सराओं, राक्षसों आदि की भी मूर्तियां उपलब्ध हैं जो न केवल पत्थर की वरन विभिन्न धातुओं की बनी हैं।